ॐ

गीता का समत्व-योग

अर्थात्

शाश्वत समाज-विज्ञान

प्रथम संस्करण १९६३
दो हज़ार
मूल्य तीन रुपया (डाकखर्च अलग)

प्राप्ति-स्थान
रामगोपाल मोहता
मोहता भवन बीकानेर

Messrs Mohatta Sales Ltd.
'K' Block Connaught Circus
New Delhi-1

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स
नवीन रोड, दिल्ली-६

समर्पण

विश्ववंद्य दार्शनिक शिरोमणि, सर्वहितकारी
आदर्शसमत्व-योगी, परम माननीय,
भारतीय गणतंत्र के राष्ट्रपतिजी
डाक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्
महोदय की पुनीत सेवा
में सादर समर्पित ।





True Copy

Presidents Secretarat,
Rashtrapati Bhavan,
New Delhi-4
September 2 963

N0 F 10 (3)—G/ 63

Dear Shri Mohatta,

The President wishes o thank you for your letter of the 31st August and to say that he would be happy to accept the dedication of your book "if you cannot find anyone more worthy of that honour"

He instructed me to send you the enclosed photograph which you are at liberty to publish in the book

Yours sincerely,
V J moore
under Secretary

Shri Ramgopal Mohatta,
New Delhi

(प्रतिलिपि का अनुवाद)

न० एफ १० (३)—जी।६३

राष्ट्रपति सचिवालय
राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली-४
२ सितम्बर, १९६३

प्रिय श्री मोहता,

श्री राष्ट्रपतिजी आपके ता० ३१ अगस्त के पत्र के लिए धन्यवाद देने और यह कहने के लिए मुझे प्रेरित करते है कि वे आपकी पुस्तक का समर्पण प्रसन्नता के साथ स्वीकार करते है "यदि आपको कोई दूसरा इस सम्मान के अधिक योग्य नही मिलता हो।"

उन्होंने मुझे इसके साथ सलग्न फोटोग्राफ को आपको भेजने की आज्ञा दी है जिसको आप पुस्तक मे प्रकाशित करने के लिए स्वतन्त्र है।

शुद्ध हृदय से आपका
वी० जे० मूर
अण्डर सेक्रेटरी

श्री रामगोपाल मोहता

प्राक्कथन

वेद-वेदांग पारंगत सर्वगुण-सम्पन्न निस्पृह महात्मा श्री नारायण स्वामीजी महाराज सुजानगढ़ (बीकानेर) वाले द्वारा

गीता की शिक्षा का कुरुक्षेत्र व धर्मक्षेत्र चिरस्थायी है। अनादि काल से अनेक अर्जुन अपने-अपने कुरुक्षेत्र के सम्मुख धर्मक्षेत्र में समवेत कौरवों को देखकर किंकर्त्तव्य विमूढ़ हुए एवं आज भी हो रहे हैं; संभवतया होते भी रहेंगे। किन्तु सबको अन्त में उन्हीं का अन्तरात्मा 'कृष्ण' सांत्वना देकर, चमत्कार दिखा कर, उन्हें उनका कर्त्तव्य स्मरण करा देगा। गीता मानव समाज की शिक्षा है; संसार में मानवीय सामाजिक नियमों को पालने वाले ही इसके वक्ता, श्रोता तथा संकलयिता हुए। तीनों ने पूर्ण वृद्धावस्था प्राप्त करने पर भी सामाजिक व्यवहार को नहीं छोड़ा; सामाजिक नियमों को नहीं तोड़ा तथा समाज की अरुचिकर भर्त्सना भी नहीं की। यही कारण था कि सहस्रों वर्षों तक यह आदर्श हमारी भारतीय आर्य मर्यादा को अक्षुण्ण रख सका। इसमें विपर्यय तभी आया जब शास्त्र प्रवक्ता अन्य उपदेशकों का वेष धारण कर हमारे शास्त्रों के भी मनमाने अर्थ करके अपने कल्पित सिद्धान्त हम भारतीयों पर लादने लगे। तत्कालीन गीता-विज्ञों के आचरणों से प्रतीत होता है कि आधुनिक व्याख्या-सिद्धान्तों से वे परिचित भी नहीं थे। 'त्याग' जो निश्रेयस् प्राप्ति के अर्थ में प्रयुक्त होता था, उसका अर्थ 'दारिद्रय' कर दिया गया। महापुरुषों के जीवनों से शिक्षा न लेकर समाज से दूर भागे हुए आचार्यों के वाक्यों को ही मान्यता दे दी गई।

प्रसन्नता का विषय है कि इस जाग्रति के युग में पुनः शब्दों के उन-उन अर्थों का प्रच्छन्न ग्रन्थों द्वारा उद्धार हुआ एवं वीतराग महापुरुषों में जो ज्ञान परम्परा से आ रहा था, उसका प्रकाशन हुआ। श्री रामगोपाल मोहता ने आजीवन मनीषी विद्वानों एवं महात्माओं की सेवा करके इन शब्दों के अर्थों का सुन्दर चयन करके उनका प्रकाशन किया है। इससे भगवान वेदव्यास, भगवान कृष्ण एवं नरोत्तम

अर्जुन इन पर अवश्य प्रसन्न हुए हैं। गीता पर कई स्थानों पर जो शंकास्पद विषय गिने जाते थे, उनका समाजरूपी भगवान से सदृश्य दिखाकर गीता के भागवत् भाष्य का लक्ष्यार्थ दिखा दिया है। गूढ शब्दों को भूमिका में सरलता से समझाकर समाज का बड़ा उपकार किया है। मेरे अनुभव में भगवद्गीता पर अपनी आयु के आधे से अधिक वर्ष लगाने वालों में श्री रामगोपाल मोहता अग्रगण्य है। इनकी साधना एवं तपस्या सफल हो गई है।

नई दिल्ली,
दि. ५-६-१९६३ ई०

—नारायण स्वामी

लेखक का वक्तव्य

"गीता का समत्व-योग अर्थात् शाश्वत समाज विज्ञान" लिखने की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई ?

अनुमान पचास वर्ष हुए मैंने गीता का अध्ययन आरंभ किया था। सबसे पहले परम पद प्राप्त स्वामीजी श्री उत्तमनाथजी महाराज से मैंने गीता का अर्थ सुना था। वे अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त में इतने पक्के और चुस्त निष्ठावान् महात्मा थे, कि भेद के लिए वे लेशमात्र भी गुंजाइश नहीं मानते थे। गीता का अर्थ वे उसी अटल अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त के आधार पर करते थे; जिसे सुनकर मेरे मन में यह धारणा हो गई कि अद्वैत-वेदान्त सिद्धान्त, आत्मा को शरीर और जगत् से अलग, निर्गुण, निराकार एवं अज्ञात बताकर, उसकी प्राप्ति के लिए संसार से विरक्त होने और आत्मचिन्तन करने में ही निरन्तर लगे रहने का प्रतिपादन करने वाला सूखा आत्मज्ञान नहीं है; किन्तु वह सारे विश्व की आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार की एकता सिद्ध करता है और उस एकता के ज्ञानयुक्त मनुष्य मात्र को आपस में, प्रेम, सहयोग और सहानुभूति पूर्वक, अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार अच्छी तरह करके, एक-दूसरे की आवश्यकताएं यथायोग्य पूरी करने में सहयोग देते हुए, सुख-शान्तिमय जीवन यात्रा करने का सच्चा मार्ग दिखाने वाला मूल सिद्धान्त है। अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त के मूल आधार ग्रन्थ उपनिषद् हैं, जिनका निचोड़ निकालकर भगवद्गीता में स्पष्ट रूप से रखा गया है। इसलिए मैंने ईशावास्य, कठ, केन, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, मुण्डक तथा माण्डूक्य उपनिषद् पढ़े। तब मुझे विश्वास हो गया कि भगवद्गीता कोरा कपोल कल्पित अव्यावहारिक सिद्धान्तों का अथवा साम्प्रदायिक धर्म ग्रन्थ नहीं है, जैसाकि कई लोगों की झूठी धारणा है; किन्तु यह शाश्वत समाज विज्ञान का अकाट्य व्यवहार दर्शन है, जो मानव जीवन सफल बनाने और संसार में सुख-शान्ति बनाये रखने का एक मात्र आधार है। विशेष करके बृहदारण्यक उपनिषद् के अध्याय २, ब्रा० ४ में याज्ञवल्क्यमैत्रेयी संवाद और ब्रा० ५ में मधुविद्या, एवं ईशावास्य

उपनिषद् पर गम्भीरता से विचार किया तो मेरा यह निश्चय पूरी तरह दृढ़ हो गया।

फिर मैंने लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का 'गीता रहस्य और कर्मयोग शास्त्र' ग्रन्थ पढ़ा और स्वामी रामतीर्थजी महाराज के व्याख्यानों का अध्ययन किया, तब मेरे मन में यह सकल्प उठा कि अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त के आधार पर, वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल, समाज विज्ञान विषयक साहित्य प्रकाशन करने में सहयोग देना चाहिए। उसी उद्देश्य को लेकर पहले-पहल एक छोटी-सी पुस्तिका 'सात्विक जीवन', फिर दूसरी 'दैवी सम्पद्' नाम की लिखकर प्रकाशित की। इन दोनों पुस्तकों में गीता के चुने हुए श्लोक देकर, उनके आधार पर मनुष्यों को सामाजिक व्यवहार किस प्रकार करने चाहिए, इस विषय पर संक्षेप में लिखा गया था। जनता जनार्दन ने इनको पसन्द किया; जिससे उत्साहित होकर सम्पूर्ण गीता पर विस्तृत व्यवहारिक भाष्य 'गीता का व्यवहार दर्शन' लिखकर प्रकाशित किया। उस पुस्तक के विचार जनता को बहुत पसन्द आये। इसके बाद गीता के समाज विज्ञान पर और भी बहुत-सा साहित्य लिखकर प्रकाशित किया गया। 'गीता का व्यवहार दर्शन' में श्लोकों का पदच्छेद करके अलग-अलग शब्दार्थ नहीं किया गया था, किन्तु प्रत्येक श्लोक का समूचा अर्थ, स्वतन्त्र भाषा में, तात्पर्य और विस्तृत स्पष्टीकरण सहित किया गया था। परन्तु बहुत से लोगों की यह माग रही कि प्रत्येक श्लोक के पदच्छेद के साथ-साथ श्लोक के प्रत्येक शब्द का अलग-अलग अर्थ, उक्त समाज विज्ञान की पृष्ठ भूमि में लिखकर प्रकाशित करना चाहिए, ताकि दूसरी टीकाओं के साथ तुलना करके जाँच की जा सके कि यह अर्थ ठीक है कि नहीं। मेरी दौहित्री सौभाग्यवती श्रीमती रतनदेवी दम्माणी, साहित्यरत्न, इन्टर-इंग्लिश, प्रधान मंत्रिणी श्री बीकानेर महिला मण्डल ने—जो गीता के समाज विज्ञान के अनुसार आचरण करने में हार्दिक श्रद्धा रखती है—भी विशेष आग्रह किया। इसलिए यह टीका लिखकर प्रकाशित की गई है।

आधुनिक समाजवाद की तुलना में गीता के समाज विज्ञान की श्रेष्ठता

(Superiority of Eternal Social Science of Gita Over modern Socialism)

जैसाकि ऊपर बताया गया है, गीता, शाश्वत समाज विज्ञान का एक अनुपम भण्डार (Unique Treasure) है। गीता में समाज शब्द के स्थान में "प्रजा" शब्द और "लोक" शब्द का प्रयोग हुआ है। आम लोगों की यह धारणा बिल्कुल

गलत है कि गीता एक साम्प्रदायिक ग्रन्थ है। इस झूठी धारणा से हमारे देश को अकथनीय हानि हुई और इसका इतना अधःपतन हुआ है। घर में अक्षय-सुख-शान्ति प्रदान करने वाले शाश्वत, पूर्ण और निर्दोष समाज विज्ञान के इस भरपूर भण्डार के रहते हुए, उसका लाभ न उठाकर हम लोग अधूरे और दोषपूर्ण समाज-वाद (Socialism) का विदेशों से आयात करके उससे सुख-शान्ति प्राप्त करने की मृग-मरीचिका की तरफ भाग रहे हैं। बड़ा ही शोचनीय हृदयविदारक दृश्य है। इसलिए यहाँ आधुनिक समाजवाद की, गीता के शाश्वत समाज विज्ञान के साथ तुलना करने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

१. आधुनिक समाजवाद अनेक वादों में से एक वाद है। वादों में एक-दूसरे से भेद होता है; परस्पर में विरोध और संघर्ष होता है। आधुनिक समाजवाद में भी अनेक भेद हैं। अलग-अलग देशों, राष्ट्रों और राज्यों में अलग-अलग तरह के समाजवाद प्रचलित हैं; और उनके रूप बदलते रहते हैं। समाजवाद की व्याख्या भी भिन्न-भिन्न प्रकार से की जाती है। परन्तु गीता का समाज विज्ञान कोई वाद नहीं है। यह तो स्वाभाविक एवं शाश्वत समत्वयोग मूलक विज्ञान है, जिसके सर्व-व्यापक मूल सिद्धान्त के अन्तर्गत सभी वादों का समावेश हो जाता है। इस सार्व-जनिक समत्वयोग मूलक शाश्वत समाज विज्ञान में देशभेद, राष्ट्रभेद, राजभेद, कालभेद आदि किसी भी प्रकार के भेद की गुंजाइश नहीं है; किन्तु यह सदा सर्वदा सारे मानव समाज के लिए एकसा हितकर बना रहता है। इसकी व्याख्या एक ही प्रकार की होती है; वाद-विवाद के लिए इसमें किसी प्रकार के अन्तर्विरोध, असंदिग्धता या अस्पष्टता की गुंजाइश नहीं है, क्योंकि इसकी जोड़ का या इससे उत्कृष्ट कोई दूसरा विकल्प नहीं है (गी० अ० ७ श्लोक २, अ० ९ श्लोक १-२)।

२. आधुनिक समाजवाद का दार्शनिक सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिक जड़वाद (Dialectical Materialism) पर आश्रित है। वह जड़ तत्त्व (Matter) को ही संसार की आदिम और अन्तिम सत्ता मानता है। उसमें आध्यात्मिक चेतना का स्थान अत्यन्त गौण है, इसलिए उसकी कार्य-कारण शृंखला असत्य, अन्धी और अचेतन है। निरन्तर बदलती रहनेवाली इन्द्रियगोचर भौतिकता को ही सत्य मानने के कारण, उसके मूल में ही भिन्नता बनी रहती है, इसलिए एकता नहीं हो सकती। परन्तु गीता के शाश्वत समाज विज्ञान का दर्शन अध्यात्ममूलक अद्वैतवाद के शाश्वत आधार पर आश्रित है। यद्यपि वह भी जड़ तत्त्व अथवा त्रिगुणात्मक प्रकृति तत्त्व में द्वन्द्वात्मक कार्य-कारण की शृंखला स्वीकार करता है, और संसार की घटनाओं को उसी का परिणाम मानता है; परन्तु भौतिक जड़ प्रकृति के अति-रिक्त वह चेतन पुरुष अथवा आत्म तत्त्व को प्रकृति का मूल आधार और उसका

स्वामी मानता है (गी० अ० ७ श्लोक ४ से ७, अ० १४ श्लोक ३-४)। प्रकृति केवल कार्य-कारण शृंखला मे ही हेतु होती है। चित्, अर्थात् चेतन पुरुष की सत्ता के बिना सुख-दु:ख, ज्ञान-अज्ञान और स्वतन्त्रता-परतन्त्रता की न तो व्याख्या सम्भव हो सकती है और न उसका अस्तित्व ही सिद्ध होता है (गी० अ० १३ श्लोक १९ से २२)। आधुनिक समाजवाद सम्पूर्ण सत्य के केवल एक खण्ड (जड तत्त्व) पर ही टिका हुआ है, जबकि गीता का शाश्वत समाज विज्ञान, सत्य के जड और चेतन दोनों भावों को एक ही मूल सत्ता के दो अग मानता है, इसलिए उनको यथायोग्य स्थान देने के कारण उसमे अखण्डता और सम्पूर्णता है। विज्ञान की नवीनतम खोजो ने भी सिद्ध कर दिया है कि ससार की कोई भी वस्तु अथवा घटना ऐसी नही है कि जो कोरी जड हो अथवा कोरी चेतन। एटम से लेकर मनुष्य पर्यन्त मे जो पारस्परिक अन्तर पाया जाता है, वह स्थूल अथवा सूक्ष्म नाम-रूपो मे ओत-प्रोत एक ही सर्वव्यापी चेतना की शक्ति के विकास के तारतम्य की मात्रा का है।

३ आधुनिक समाजवाद, आधुनिक प्राणी शास्त्र के आधार पर, मनुष्य को लगूर और बन्दर आदि पशुओ का विकसित रूप मानता है, इसलिए उसकी दृष्टि मे मनुष्य भी एक सामाजिक पशु मात्र है। पशु के जीवन मे आहार, निद्रा, भय और मैथुन के अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नही पाया जाता; उसी तरह, उसके अनुसार, मनुष्य के जीवन का भी, इनके अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नही है। औजार अथवा उपकरण बनाने, उनका कुशलतापूर्वक व्यवहार करके, इसी जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करने, और उसके द्वारा प्रकृति की प्रतिकूलताओ को बदल कर अनुकूलताओ मे परिणत करने एव स्वस्थ, सुखी और दीर्घकाल तक जीवित रहने के लिए ही परिवार, समाज और राज्य आदि सस्थाओ तथा सगठनो का आविष्कार किया गया है। मनुष्य के जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् किसी भी रूप मे उसका अस्तित्व होने या बने रहने को आधुनिक समाजवाद स्वीकार नही करता।

यद्यपि गीता का शाश्वत समाज विज्ञान आधुनिक समाजवाद की उपयोगी बातो को अनेक अशो मे स्वीकार करता है, परन्तु वह यह नही मानता कि मनुष्य पशु का विकास मात्र है। गीता मनुष्य को इस तरह विवेकहीन बडेरो की सन्तान मानकर उसका आत्म गौरव नष्ट नही करती। यद्यपि मनुष्य एक जरायुज (मा के गर्भ मे वृद्धि पाकर उससे उत्पन्न होनेवाला) प्राणी है, परन्तु वह इतना ही मात्र नही है। गीता का शाश्वत समाज विज्ञान इस सिद्धान्त पर आश्रित है कि तमाम भूत-प्राणियो मे एक, अखण्ड, सम और आनन्दघन चिन्मय जीवन-स्पन्द ओत-प्रोत है और वही अनेक प्रकार की स्थावर-जगम योनियो के रूप धारण करती है (गी० अ० ११ और अ० ९ श्लोक ४ से १०)। परन्तु मनुष्य के अतिरिक्त किसी अन्य

भूत-प्राणी में यह क्षमता नहीं है कि वह उस सत्ता को तत्त्वतः जान सके अथवा अनुभव कर सके। यह क्षमता केवल मनुष्य अथवा नर-नारी के शरीर में ही निहित है। मनुष्य ने अपने परिवार, समाज और राज्य आदि संस्थाओं और उनके विधि-निषेध आदि व्यवस्थाओं का निर्माण, केवल इसीलिए नहीं किया है कि वह उनमें रहकर सिर्फ अर्थ और काम, अर्थात् भोग साधनों की प्राप्ति मात्र ही को पुरुषार्थ की इतिश्री समझकर, केवल इन्हीं में जीवन व्यतीत कर दे। यद्यपि गीता यह अवश्य मानती है कि स्वस्थ, सुखी और उन्नत जीवन के लिए अर्थ और काम अत्यन्त आवश्यक हैं और उनको व्यवस्थित रूप से उपार्जित करना चाहिए (गी० अ० २ श्लोक ७०, अ० ३ श्लोक १०-११-१२, अ० ११ श्लोक ३३), परन्तु मनुष्य जीवन के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है और सामाजिक संस्थाओं तथा व्यवस्थाओं का प्रयोजन भी इतना ही मात्र नहीं है। सुव्यवस्थित सभ्य समाज, नैतिक मान्यताओं पर आश्रित रहता है; और नैतिक मान्यताएँ, मानव जीवन और जगत में व्याप्त एकता के मूलाधार की मान्यता पर आश्रित हैं। मनुष्य नैतिक आचरण क्यों करे ? वह शोषण, झूठ, दमन, हिंसा और अत्याचार करना क्यों छोड़ दे ? यदि मनुष्य के जीवन का मां की कोख से आरम्भ होकर, चिता या कब्र में अन्त हो जाता है, तो वह सामाजिक अनुशासन और व्यवस्थाओं की अवहेलना करके छल, बल, फरेब और कौशल आदि से काम लेकर, बिना श्रम किये भी तो सुखपूर्वक जीवित रह सकता है। फिर नैतिकता की क्या आवश्यकता है ? गीता का शाश्वत समाज विज्ञान इसका यह उत्तर देता है कि इस तरह का नैतिकता से हीन, समाज विरोधी मनुष्य नराधम, असुर, बिना सींग पूंछ का पशु है (गी० अ० १६)। मनुष्य जीवन का प्रयोजन नर से नरोत्तम अथवा पुरुष से पुरुषोत्तम होना है (गी० अ० ४ श्लोक १०, अ० ५ श्लोक १९-२०, अ० ७ श्लोक १८, अ० १२ श्लोक ४, अ० ११ श्लोक ५४-५५), और यही उसके जीवन का सबसे बड़ा पुरुषार्थ और अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए। इस पुरुषार्थ की सिद्धि पारिवारिक और सामाजिक जीवन में ही हो सकती है। अपने में और सब भूत-प्राणी मात्र में ओत-प्रोत एक और सम सच्चिदानन्द को, समस्त पारिवारिक और सामाजिक व्यक्तियों में देखकर, समझकर तथा अनुभव करते हुए, यथायोग्य सम्बन्धों के आधार पर, उनके प्रति अपनी स्वाभाविक योग्यता के कर्तव्य (duty) करके, उसको अपने में ही अमर जीवन, अखण्ड ज्ञान और अटूट आनन्द का अनुभव करना चाहिए। इसी एकता के सिद्धान्त पर व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों और व्यवहारों की नैतिक मर्यादाएँ कायम रह सकती हैं। सबकी एकता के इस शाश्वत सिद्धान्त का तिरस्कार करके मनुष्यों को पशुता का एक पर्याय और प्राणीमात्र को जड़ता का

स्वामी मानता है (गी० अ० ७ श्लोक ४ से ७, अ० १४ श्लोक ३-४)। प्रकृति केवल कार्य-कारण शृंखला मे ही हेतु होती है। चित्, अर्थात् चेतन पुरुष की सत्ता के बिना सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान और स्वतन्त्रता-परतन्त्रता की न तो व्याख्या सम्भव हो सकती है और न उसका अस्तित्व ही सिद्ध होता है (गी० अ० १३ श्लोक १६ से २२)। आधुनिक समाजवाद सम्पूर्ण सत्य के केवल एक खण्ड (जड तत्त्व) पर ही टिका हुआ है, जबकि गीता का शाश्वत समाज विज्ञान, सत्य के जड और चेतन दोनो भावो को एक ही मूल सत्ता के दो पक्ष मानता है, इसलिए उनको यथायोग्य स्थान देने के कारण उसमे अखण्डता और सम्पूर्णता है। विज्ञान की नवीनतम खोजो ने भी सिद्ध कर दिया है कि ससार की कोई भी वस्तु अथवा घटना ऐसी नही है कि जो कोरी जड हो अथवा कोरी चेतन। एटम से लेकर मनुष्य पर्यन्त मे जो पारस्परिक अन्तर पाया जाता है, वह स्थूल अथवा सूक्ष्म नाम-रूपो मे ओत-प्रोत एक ही सर्वव्यापी चेतना की शक्ति के विकास के तारतम्य की मात्रा का है।

३ आधुनिक समाजवाद, आधुनिक प्राणी शास्त्र के आधार पर, मनुष्य को लगूर और बन्दर आदि पशुओ का विकसित रूप मानता है, इसलिए उसकी दृष्टि मे मनुष्य भी एक सामाजिक पशु मात्र है। पशु के जीवन मे आहार, निद्रा, भय और मैथुन के अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नही पाया जाता, उसी तरह, उसके अनुसार, मनुष्य के जीवन का भी, इनके अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नही है। औजार अथवा उपकरण बनाने, उनका कुशलतापूर्वक व्यवहार करके, इसी जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करने, और उनके द्वारा प्रकृति की प्रतिकूलताओ को बदल कर अनुकूलताओ मे परिणत करने एव स्वस्थ, सुखी और दीर्घकाल तक जीवित रहने के लिए ही परिवार, समाज और राज्य आदि सस्थाओ तथा सगठनो का आविष्कार किया गया है। मनुष्य के जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् किसी भी रूप मे उसका अस्तित्व होने या बने रहने को आधुनिक समाजवाद स्वीकार नही करता।

यद्यपि गीता का शाश्वत समाज विज्ञान आधुनिक समाजवाद की उपयोगी बातो को अनेक अशो मे स्वीकार करता है, परन्तु वह यह नही मानता कि मनुष्य पशु का विकास मात्र है। गीता मनुष्य को इस तरह विवेकहीन बडेरो की सन्तान मानकर उसका आत्म गौरव नष्ट नही करती। यद्यपि मनुष्य एक जरायुज (माँ के गर्भ मे वृद्धि पाकर उससे उत्पन्न होनेवाला) प्राणी है, परन्तु वह इतना ही मात्र नही है। गीता का शाश्वत समाज विज्ञान इस सिद्धान्त पर आश्रित है कि समस्त भूत-प्राणियो मे एक, अखण्ड, सम और आनन्दघन चिन्मय जीवन-सत्ता ओत प्रोत है और वही अनेक प्रकार की स्थावर-जगम योनियो के रूप धारण करती है (गी० अ० ११ और अ० ६ श्लोक ४ से १०)। परन्तु मनुष्य के अतिरिक्त किसी अन्य

भूत-प्राणी में यह क्षमता नहीं है कि वह उस सत्ता को तत्त्वतः जान सके अथवा अनुभव कर सके। यह क्षमता केवल मनुष्य अथवा नर-नारी के शरीर में ही निहित है। मनुष्य ने अपने परिवार, समाज और राज्य आदि संस्थाओं और उनके विधि-निषेध आदि व्यवस्थाओं का निर्माण, केवल इसीलिए नहीं किया है कि वह उनमें रहकर सिर्फ अर्थ और काम, अर्थात् भोग साधनों की प्राप्ति मात्र ही को पुरुषार्थ की इतिश्री समझकर, केवल इन्हीं में जीवन व्यतीत कर दे। यद्यपि गीता यह अवश्य मानती है कि स्वस्थ, सुखी और उन्नत जीवन के लिए अर्थ और काम अत्यन्त आवश्यक हैं और उनको व्यवस्थित रूप से उपार्जित करना चाहिए (गी० अ० २ श्लोक ७०, अ० ३ श्लोक १०-११-१२, अ० ११ श्लोक ३३), परन्तु मनुष्य जीवन के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है और सामाजिक संस्थाओं तथा व्यवस्थाओं का प्रयोजन भी इतना ही मात्र नहीं है। सुव्यवस्थित सभ्य समाज, नैतिक मान्यताओं पर आश्रित रहता है; और नैतिक मान्यताएँ, मानव जीवन और जगत में व्याप्त एकता के मूलाधार की मान्यता पर आश्रित हैं। मनुष्य नैतिक आचरण क्यों करे? वह शोषण, झूठ, दमन, हिंसा और अत्याचार करना क्यों छोड़ दे? यदि मनुष्य के जीवन का मां की कोख से आरम्भ होकर, चिता या कब्र में अन्त हो जाता है, तो वह सामाजिक अनुशासन और व्यवस्थाओं की अवहेलना करके छल, बल, फरेब और कौशल आदि से काम लेकर, बिना श्रम किये भी तो सुखपूर्वक जीवित रह सकता है। फिर नैतिकता की क्या आवश्यकता है? गीता का शाश्वत समाज विज्ञान इसका यह उत्तर देता है कि इस तरह का नैतिकता से हीन, समाज विरोधी मनुष्य नराधम, असुर, बिना सींग पूंछ का पशु है (गी० अ० १६)। मनुष्य जीवन का प्रयोजन नर से नरोत्तम अथवा पुरुष से पुरुषोत्तम होना है (गी० अ० ४ श्लोक १०, अ० ५ श्लोक १९-२०, अ० ७ श्लोक १८, अ० १२ श्लोक ४, अ० ११ श्लोक ५४-५५), और यही उसके जीवन का सबसे बड़ा पुरुषार्थ और अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए। इस पुरुषार्थ की सिद्धि पारिवारिक और सामाजिक जीवन में ही हो सकती है। अपने में और सब भूत-प्राणी मात्र में ओत-प्रोत एक और सम सच्चिदानन्द को, समस्त पारिवारिक और सामाजिक व्यक्तियों में देखकर, समझकर तथा अनुभव करते हुए, यथायोग्य सम्बन्धों के आधार पर, उनके प्रति अपनी स्वाभाविक योग्यता के कर्तव्य (duty) करके, उसको अपने में ही अमर जीवन, अखण्ड ज्ञान और अटूट आनन्द का अनुभव करना चाहिए। इसी एकता के सिद्धान्त पर व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों और व्यवहारों की नैतिक मर्यादाएँ कायम रह सकती हैं। सबकी एकता के इस शाश्वत सिद्धान्त का तिरस्कार करके मनुष्यों को पशुता का एक पर्याय और प्राणीमात्र को जड़ता का

जुदा-जुदा विकार मानने से सामाजिक जीवन की आधारभूत किसी प्रकार की नैतिक मान्यता स्थापित होनी सम्भव नही, जिसके बिना समाज और व्यक्ति दोनो ही नष्ट हो जाते हैं।

४ आधुनिक समाजवाद को माननेवाले देशो मे, उसके अनेक रूप देखे जाते हैं, परन्तु उसके दो मुख्य रूप हैं। एक उग्र और दूसरा नरम अथवा उदार। उग्र रूप का समाजवाद स्टेलिन के समय रूस मे था और वर्तमान मे चीन मे है, जहाँ व्यक्ति के लिए अपनी इच्छा और विचार प्रगट करने अथवा निर्णय करने की कोई स्वतन्त्रता नही मानी जाती। व्यक्ति की अपेक्षा समाज और उग्र समाजवाद की सस्थाओ अथवा राजनैतिक दलों को अधिक महत्त्व दिया जाता है, समाज साध्य है, व्यक्ति साधन है, अनुशासन मुख्य है और व्यक्ति की स्वतन्त्रता गौण। वहाँ शासन की सारी बागडोर एक स्वेच्छाचारी अधिनायक (Dictator) के हाथ मे रहती है।

दूसरा नरम अथवा उदार समाजवाद है, जिसको लोकतान्त्रिक समाजवाद (Democratic socialism) कहते है। उसकी मूल मान्यता यह है कि समाज भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के परस्पर विरोधी स्वार्थों की खींचातानियो और कलह के दुष्परिणामो से बचने के लिए पारस्परिक समझौते के रूप मे विकसित हुआ है और उसमें रहनेवाली प्रत्येक इकाई, अर्थात् मनुष्य, स्वभाव से ही विचारशक्ति सम्पन्न, स्वार्थ परायण नर पशु मात्र है। इसलिए व्यक्तियो मे भिन्नता, विषमता और परस्पर विरोधी स्वार्थों की खींचातान और कलह का होना तो किसी न किसी रूप मे स्वाभाविक ही है, परन्तु क्योंकि सबको अपने अपने स्वार्थो की पूर्ति करनी है, इसलिए आपसी समझौते के रूप मे, सस्थाएँ और व्यवस्थाएँ ऐसी बना देनी चाहिए कि जिनमे स्वार्थों मे पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और सघर्ष होते हुए भी, उनके दुष्परिणाम—कलह, युद्ध, हत्याएँ, शोषण, दमन, चोरी, लूट, खसोट आदि यथाशक्य नहीं हों, अथवा कम से कम मात्रा मे हो। ये नरम समाजवादी लोग, समाज के मूल मे व्यक्ति की सत्ता और स्वतन्त्रता को सर्वोपरि और मुख्य मानते है। समाज की सस्थाएँ, व्यवस्थाएँ और अनुशासन को वे गौण मानते हैं। उनकी धारणा है कि समाज की सस्थाओ और व्यवस्थाओ, अर्थात् अनुशासन-सम्बन्धी विधि-निषेध के नियमों-उपनियमो का स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि जिनके आधार पर किसी व्यक्ति या व्यक्तियो के समूह के अपराधो के सम्बन्ध मे विचार करने अथवा दण्ड का निर्णय देने के समय इस बात का ध्यान रखा जाय कि चाहे कितने ही सदोष व्यक्ति दण्डित होने से बच जायँ परन्तु उचित और पर्याप्त तथा पुष्ट प्रमाणो के अभाव मे एक भी निर्दोष

व्यक्ति को दण्डित नहीं किया जाना चाहिए। यद्यपि आधुनिक समाजवाद की इस उदार व्यवस्था में अधिनायक तन्त्र (Dictatorship) की निर्मम और क्रूर व्यवस्थाओं को स्थान नहीं है, और संसदीय लोकतन्त्र का आधार होने के कारण इसमें प्रत्येक व्यक्ति को सोचने, लिखने, बोलने और व्यक्तिगत अथवा संगठित कार्य करने की स्वतन्त्रता पर्याप्त मात्रा में होती है, परन्तु मूल में ही व्यक्तियों की भिन्नता और विषमता के भ्रांत आधार पर संस्थापित होने, और सबकी एकता का आध्यात्मिक आधार न होने के कारण, सदाचार की प्रेरणा के अभाव से उत्पन्न होने वाले व्यावहारिक दुष्परिणाम बहुत भारी मात्रा में होते हैं। संसार में दुष्ट प्रकृति के समाज-विरोधी तत्त्व भी बड़ी संख्या में होते है, जिनको दण्ड देकर दमन करना आवश्यक होता है। जिस तरह शरीर का कोई अंग सड़ जाय या बिगड़ जाय तो सारे शरीर की स्वस्थता के लिए उसका तत्काल ही ऑपरेशन कर दिया जाता है; उसी तरह समाजरूपी शरीर का कोई व्यक्ति दुष्ट हो जाय तो उसको समुचित दण्ड अविलम्ब देकर समाज को स्वस्थ रखना चाहिए।

हमारे देश में नरम समाजवाद का अवलम्बन किया जा रहा है और इसके परिणाम स्वरूप सत्ता की पद लोलुपता, शोषण, विषमता, भ्रष्टाचार आदि बुराइयाँ दिन-प्रतिदिन की चर्चा का विषय बनी हुई हैं।

परन्तु गीता के अनुसार स्थूल शरीरों की भिन्नता और उनके स्वार्थों की विषमता मनुष्य के अस्तित्व में स्वाभाविक और आधार भूत नहीं है। मानव मात्र में एकता, स्वतन्त्रता और समता की मौलिक चेतना अन्तर्निहित है और इसी को आधार भूत मानने और व्यवहार में अनुभव करने से उसे नैतिक कर्तव्य-पालन की प्रेरणा प्राप्त होती है। इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर व्यवहार, प्रचार और संगठन करने से समाज में सच्ची एवं शाश्वत एकता, समता और स्वतन्त्रता कायम रह सकती है। गीता का शाश्वत समाज विज्ञान इसी पर आधारित है। समाज की सुव्यवस्था के लिए दुष्टों को दण्ड देना अवश्य कर्तव्य माना गया है (गी० अ० ४ श्लोक ८, अ० ११ श्लोक ३२-३४, अ० १६ श्लोक १६, अ० १८ श्लोक १७)। इसी से परस्पर की खींचातानियाँ, लूट, खसोट व शोषण आदि बुराइयाँ मिटकर समाज में शान्ति, पुष्टि और तुष्टि रह सकती है।

५. आधुनिक समाजवाद के नरम और उग्र दोनों ही पक्षवालों का कहना है कि संसार-भर में शोषक और शोषित के बीच में जो पारस्परिक स्वार्थ-भेद है, वह संसार में होने वाले युद्धों और संघर्षों का मूल कारण है; इसलिए उसको खतम कर देना चाहिए। उग्र समाजवादी रक्त क्रान्ति और युद्ध के द्वारा तत्काल उसको

खतम करना चाहते है, और नरम समाजवादी लोकतांत्रिक प्रणाली से, संसदीय निर्वाचन, प्रचार, संगठन और आन्दोलन द्वारा पूंजीवाद और साम्राज्यवाद की वर्तमान शोषक प्रणालियों का अन्त शनै शनै करना चाहते हैं। दोनो का लक्ष्य एक ही है, केवल साधन, समय और सुविधा का अन्तर है। दोनो ही इस बात मे एकमत है कि उत्पादन, वितरण, संचार, परिवहन और पूंजी विनियोग के तमाम साधनो पर किसी व्यक्ति विशेष, अथवा वर्ग विशेष का स्वामित्व न होकर, उन पर राज्य का स्वामित्व, अथवा राज्य द्वारा नियमित उत्पादक और उपभोक्ताओं की सामाजिक संस्थाओ का स्वामित्व होना चाहिए। जिस तरह विजितदास, क्रीतदास और जन्मजात दासपन की प्रथाओ का अन्त हुआ, उसी तरह वेतन भोगी दासप्रथा से होने वाले शोषण का भी अन्त होना चाहिए। आधुनिक समाज वाद को मानने और उसमे कुछ सफलता प्राप्त करनेवाले देशो ने यद्यपि अर्थ-व्यवस्था की प्रणाली में मौलिक और क्रान्तिकारी परिवर्तन करके अपने समाज के आर्थिक क्षेत्र मे मनुष्य द्वारा मनुष्य के, और एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण और बेकारी व बेरोजगारी का अन्त कर दिया है, इसलिए वहाँ समाज को वर्ग विहीन बनाने का दावा किया जाता है, परन्तु वहाँ राजनैतिक दलो में, धन शक्ति के स्थान मे जन शक्ति का और उसके द्वारा शासन शक्ति का केन्द्रीकरण हो जाने से, उनमें भी नये रूप मे वर्ग भेद (Class distinctions) उत्पन्न हो गये हैं, जिनसे आपस मे लड़ाइयां और खींचातानियां चलती रहती है और जन साधारण के साथ दमन अथवा उपेक्षा का बर्ताव भारी मात्रा मे होता है। जब तक मनुष्यो मे आपस से सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक व्यवहार करने का उद्देश्य, अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि (Profit motive) ही रहेगा, तब तक जिस किसी व्यक्ति या वर्ग के हाथ मे, जिस किसी प्रकार की शक्ति का संचय होगा, उसका उपयोग करने मे वह समाज को हानि पहुँचने की परवाह नहीं करेगा और वहाँ किसी न किसी रूप मे शोषण, दमन एवं उत्तरदायित्वहीन उपेक्षा का चक्र चलेगा।

परन्तु गीता के शाश्वत समाज विज्ञान मे समाज को एक समष्टि सजीव पुरुष के रूप मे माना गया है। प्रकृति के सात्त्विक, राजस और तामस तीन स्वाभाविक गुणों की कमी-बेशी के आधार पर शरीरों की योग्यता के अनुसार, समाज की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए शिक्षा, रक्षा, वाणिज्य और सेवा का कार्य-विभाग किया गया है। मानव देह के मस्तिष्क मे सत्त्व गुण की प्रधानता होने के कारण, वह ज्ञान और विचार शक्ति का केन्द्र है; उसी तरह सत्त्व गुण प्रधान मनुष्यो मे ज्ञान और विचार शक्ति का विशेष विकास होने के कारण, उनमें शिक्षा देने की विशेष योग्यता होती है; अत उनको ब्राह्मण वर्ण की संज्ञा देकर, समाज

शिक्षा के कार्य करना, उनका नियत कर्तव्य कर्म निश्चित किया गया। मानव देह की रज-सत्त्व प्रधान भुजाओं में रक्षा करने की योग्यता होती है; उसी आधार पर रज-सत्त्व प्रधान मनुष्यों में रक्षा का कार्य करने की विशेष योग्यता होने के कारण, उनको क्षत्रिय संज्ञा देकर, समाज की रक्षा करने का कार्य उनके लिए नियत किया गया। उसी तरह रजोगुण प्रधान उदर और तमोगुण प्रधान पैरों के आदर्श पर, पोषक और सेवक वर्णों को वाणिज्य और शारीरिक श्रम के द्वारा, समाज के शारीरिक जीवन के आवश्यक पदार्थ उत्पन्न करके, उपलब्ध करने का कार्य, वैश्य और शूद्र वर्ण की संज्ञा देकर उनके लिए नियत किया गया (गी० अ० १८ श्लोक ४१ से ४७)। गीता की वर्ण-व्यवस्था जन्मजात अधिकारों पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु मनुष्यों के स्वाभाविक गुणों की योग्यता के आधार पर निर्मित है। जन्मजात जाति-पाँति के भेदों को गीता में बिलकुल स्थान नहीं है। समाज के सदस्यों की स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, उपर्युक्त चार वर्णों या समाज के अंगों की आवश्यकता अनिवार्य और अत्यन्त स्वाभाविक रूप से रहती है। वर्ग व्यवस्था और वर्ण व्यवस्था में यह बड़ा अन्तर है कि वर्ग व्यवस्था लोक विग्रह (फूट, कलह और युद्ध अथवा क्रान्तियाँ) उत्पन्न करती है; और वर्ण व्यवस्था लोक संग्रह (एकता, प्रेम, शान्ति और आनन्द) बनाये रखती है। वह सबको एक ही कुटुम्ब की तरह आपस में मिलकर प्रेम तथा सुख-शान्तिपूर्वक जीवनयापन करने की व्यवस्था करती है। यह सबके अपने-अपने स्वाभाविक गुणों और उपार्जित क्षमताओं के आधार पर अपने-अपने वर्ण के कर्तव्य कर्म करने द्वारा सबकी शिक्षा, रक्षा, पोषण और सेवा-सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी करने की समन्वयात्मक व्यवस्था है। वर्ग व्यवस्थाएँ बदलती रहती हैं और उनके बदलने के साथ ही समाज की वर्ग मूलक व्यवस्थाओं के आदर्श भी बदलते रहते हैं; परन्तु चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का सिद्धान्त मानव समाज की प्रकृति पर आश्रित होने से, वह स्वाभाविक और शाश्वत है। वर्ण व्यवस्था चाहे जिस युग की हो और वह किसी भी रूप में हो, उसमें स्वार्थों की खींचातानी, शोषण, संघर्ष आदि के लोक विग्रह और वर्ग विद्वेष का दमन करने के लोक निग्रहकारी दुष्परिणाम नहीं होते।

सभी देशों में किसी न किसी रूप में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की आवश्यकता रहती ही है। रूस में इस बात का दावा किया जाता है कि वहाँ वर्ग भेद खतम कर दिया गया है, इसलिए वहाँ एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण नहीं होता। परन्तु किसी न किसी रूप में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की झलक तो वहाँ भी पाई जाती है। वहाँ कम्युनिष्ट पार्टी, शिक्षक वर्ण का कार्य करती है; मार्क्स का दर्शन उसीके अधिकार में है। लाल सेना (Red army) रक्षक वर्ण का कार्य करती है। प्रबन्धक

खतम करना चाहते है, और नरम समाजवादी लोकतान्त्रिक प्रणाली से, ससदीय निर्वाचन, प्रचार, सगठन और आन्दोलन द्वारा पूँजीवाद और साम्राज्यवाद की वर्तमान शोषक प्रणालियो का अन्त शनै शनै करना चाहते है। दोनो का लक्ष्य एक ही है, केवल साधन, समय और सुविधा का अन्तर है। दोनो ही इस बात मे एकमत हैं कि उत्पादन, वितरण, सचार, परिवहन और पूँजी विनियोग के तमाम साधनो पर किसी व्यक्ति विशेष, अथवा वर्ग विशेष का स्वामित्व न होकर, उन पर राज्य का स्वामित्व, अथवा राज्य द्वारा नियन्त्रित उत्पादक और उपभोक्ताओं की सामाजिक सस्थाओ का स्वामित्व होना चाहिए। जिस तरह विजितदास, क्रीतदास और जन्मजात दासपन की प्रथाओ का अन्त हुआ, उसी तरह वेतन भोगी दासप्रथा से होने वाले शोषण का भी अन्त होना चाहिए। आधुनिक समाजवाद को मानने और उसमे कुछ सफलता प्राप्त करनेवाले देशो ने यद्यपि अर्थ-व्यवस्था की प्रणाली मे मौलिक और क्रान्तिकारी परिवर्तन करके अपने समाज के आर्थिक क्षेत्र मे मनुष्य द्वारा मनुष्य के, और एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण और बेकारी व बेरोजगारी का अन्त कर दिया है, इसलिए वहाँ समाज को वर्ग विहीन बनाने का दावा किया जाता है, परन्तु वहाँ राजनैतिक दलो मे, धन शक्ति के स्थान मे जन शक्ति का और उसके द्वारा शासन शक्ति का केन्द्रीकरण हो जाने से, उनमे भी नये रूप मे वर्ग भेद (Class distinctions) उत्पन्न हो गये है, जिनमे आपस मे लडाइयाँ और खीचातानियाँ चलती रहती है और जन साधारण के साथ दमन अथवा उपेक्षा का बर्ताव भारी मात्रा मे होता है। जब तक मनुष्यो मे आपस मे सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक व्यवहार करने का उद्देश्य, अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि (Profit motive) का रहेगा, तब तक जिस किसी व्यक्ति या वर्ग के हाथ मे, जिस किसी प्रकार की शक्ति का सचय होगा, उसका उपयोग करने मे वह समाज को हानि पहुँचने की परवाह नही करेगा और वहाँ किसी न किसी रूप मे शोषण, दमन एव उत्तरदायित्वहीन उपेक्षा का चक्र चलेगा।

परन्तु गीता के शाश्वत समाज विज्ञान मे समाज को एक समष्टि सजीव पुरुष के रूप मे माना गया है। प्रकृति के सात्त्विक, राजस और तामस तीन स्वाभाविक गुणो की कमी-बेशी के आधार पर शरीरो की योग्यता के अनुसार, समाज की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए शिक्षा, रक्षा, वाणिज्य और सेवा का कार्य-विभाग किया गया है। मानव देह के मस्तिष्क मे सत्त्व गुण की प्रधानता होने के कारण, वह ज्ञान और विचार शक्ति का केन्द्र है, उसी तरह सत्त्व गुण प्रधान मनुष्यो मे ज्ञान और विचार शक्ति का विशेष विकास होने के कारण, उनमे शिक्षा देने की विशेष योग्यता होती है; अत- उनको ब्राह्मण वर्ण की सज्ञा देकर, समाज

शिक्षा के कार्य करना, उनका नियत कर्तव्य कर्म निश्चित किया गया। मानव देह की रज-सत्त्व प्रधान भुजाओं में रक्षा करने की योग्यता होती है; उसी आधार पर रज-सत्त्व प्रधान मनुष्यों में रक्षा का कार्य करने की विशेष योग्यता होने के कारण, उनको क्षत्रिय संज्ञा देकर, समाज की रक्षा करने का कार्य उनके लिए नियत किया गया। उसी तरह रजोगुण प्रधान उदर और तमोगुण प्रधान पैरों के आदर्श पर, पोषक और सेवक वर्णों को वाणिज्य और शारीरिक श्रम के द्वारा, समाज के शारीरिक जीवन के आवश्यक पदार्थ उत्पन्न करके, उपलब्ध करने का कार्य, वैश्य और शूद्र वर्ण की संज्ञा देकर उनके लिए नियत किया गया (गी०.अ० १८ श्लोक ४१ से ४७)। गीता की वर्ण-व्यवस्था जन्मजात अधिकारों पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु मनुष्यों के स्वाभाविक गुणों की योग्यता के आधार पर निर्मित है। जन्मजात जाति-पाँति के भेदों को गीता में बिलकुल स्थान नहीं है। समाज के सदस्यों की स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, उपर्युक्त चार वर्णों या समाज के अंगों की आवश्वकता अनिवार्य और अत्यन्त स्वाभाविक रूप से रहती है। वर्ग व्यवस्था और वर्ण व्यवस्था में यह बड़ा अन्तर है कि वर्ग व्यवस्था लोक विग्रह (फूट, कलह और युद्ध अथवा क्रान्तियाँ) उत्पन्न करती है; और वर्ण व्यवस्था लोक संग्रह (एकता, प्रेम, शान्ति और आनन्द) बनाये रखती है। वह सबको एक ही कुटुम्ब की तरह आपस में मिलकर प्रेम तथा सुख-शान्तिपूर्वक जीवनयापन करने की व्यवस्था करती हैं। यह सबके अपने-अपने स्वाभाविक गुणों और उपार्जित क्षमताओं के आधार पर अपने-अपने वर्ण के कर्तव्य कर्म करने द्वारा सबकी शिक्षा, रक्षा, पोषण और सेवा-सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी करने की समन्वयात्मक व्यवस्था है। वर्ग व्यवस्थाएँ बदलती रहती हैं और उनके बदलने के साथ ही समाज की वर्ग मूलक व्यवस्थाओं के आदर्श भी बदलते रहते हैं; परन्तु चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का सिद्धान्त मानव समाज की प्रकृति पर आश्रित होने से, वह स्वाभाविक और शाश्वत है। वर्ण व्यवस्था चाहे जिस युग की हो और वह किसी भी रूप में हो, उसमें स्वार्थों की खींचातानी, शोषण, संघर्ष आदि के लोक विग्रह और वर्ग विद्वेष का दमन करने के लोक निग्रहकारी दुष्परिणाम नहीं होते।

सभी देशों में किसी न किसी रूप में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की आवश्यकता रहती ही है। रूस में इस बात का दावा किया जाता है कि वहाँ वर्ग भेद खतम कर दिया गया है, इसलिए वहाँ एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण नहीं होता। परन्तु किसी न किसी रूप में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की झलक तो वहाँ भी पाई जाती है। वहाँ कम्युनिष्ट पार्टी, शिक्षक वर्ण का कार्य करती है; मार्क्स का दर्शन उसीके अधि-
... ाल सेना (Red army) रक्षक वर्ण का कार्य करती है। प्रबन्धक

श्रेणी (Managerial class) उत्पादन, वितरण, प्रबन्ध और कृषक श्रेणी के संगठन द्वारा पोषक वर्ण का कार्य करती है; तथा श्रमिकों की यूनियनें (Unions) सेवक वर्ण का कार्य करती है। इस व्यवस्था में रहकर रूस ने आशातीत उन्नति की है।

गीता में, सामाजिक मनुष्य को एक-दूसरे के सुख-दुःख की वेदनाएँ अपने ही समान समझने की आत्मौपम्य बुद्धि का नैतिक आदर्श, सबके लिए समान रूप से पालन करने का विधान किया गया है (गी० अ० ६ श्लोक ३२)। समाज व्यवस्था के लिए इससे अधिक उच्च आदर्श कोई नहीं हो सकता। वर्ण व्यवस्था में आजीविका उपार्जन की अथवा अधिकार प्राप्त करने की वृत्ति, समाज के लिए अपना नियत कर्तव्य कर्म पालन करने के उच्च आदर्श अथवा गौरव की भावना में निहित है (गी० अ० २ श्लोक ४७ से ५१)। इस व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार अपने लिए नियत कर्तव्य कर्म पालन करके, उससे अपनी आजीविका अथवा अधिकार की वृत्ति को ग्रहण करता है अर्थात् उसका वरण करता है। गीता में इसीको यज्ञ माना है (गी० अ० ३ श्लोक १० से १६)। वह व्यक्तिगत लोभ अथवा लाभ (Profit motive) की दृष्टि न रखकर, समाज की स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सहयोग देना अपना कर्तव्य समझता है, और उसके प्रतिफल स्वरूप जो कुछ उसे प्राप्त हो, उसे यज्ञशिष्ट अमृत समझकर ग्रहण करता हुआ, अपने योगक्षेम का निर्वाह करता है, उसीमें सन्तुष्ट और प्रसन्न रहता है (गी० अ० ४ श्लोक ३१)। इसीको वह अपना अधिकार मानता है। इस व्यवस्था में एक वर्ण दूसरे वर्ण के अधिकारों और कर्तव्यों का लोभवश अतिक्रमण करने की दुश्चेष्टा नहीं करता, परन्तु अपने गुणों को उन्नत करने द्वारा अपनी सर्वांगीण उन्नति करने का उसको पूर्ण अधिकार रहता है। इस व्यवस्था से समाज में विषमता और विग्रह नहीं होते, किन्तु समता, सौमनस्य और संग्रह की स्थिति बनी रहती है।

६ आधुनिक समाजवाद, भौतिक भिन्नता को सत्य मानने के कारण, शारीरिक स्वतन्त्रता को विशेष महत्त्व देता है। परन्तु शरीर अलग-अलग होने के कारण, और वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर निर्भर रहने के कारण कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की कामनाओं के बने रहते, और उन कामनाओं की पूर्ति अपने से भिन्न, दूसरी दृष्ट अथवा अदृष्ट शक्तियों से होने की आशाओं, तथा काम, क्रोध, हर्ष, शोक, लोभ, मोह, भय आदि अनेक विकारों के रहते, किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। मानसिक गुलामी के रहते सच्ची स्वतन्त्रता नहीं होती। इसलिए गीता

मानसिक स्वतन्त्रता को अधिक महत्त्व देती है। मन में सबकी एकता और समता के निश्चयपूर्वक, व्यक्तिगत स्वार्थों की कामनाएँ न रखने, आशाओं से रहित होने और सब प्रकार के विकारों को जीत लेने से ही मनुष्य वास्तव में स्वतन्त्र हो सकता है (गी० अ० २ श्लोक ५५, अ० ३ श्लोक ३०, अ० ५ श्लोक २८)। उसके शरीर की सब आवश्यकताएँ स्वावलम्बन से ही पूरी होती रहती हैं।

७. आधुनिक समाजवाद में धर्म निर्पेक्षता (Secularism) और जाति-पाँति के भेद मिटाकर सबकी समता (Equality) के उच्च आदर्श पर जोर दिया जाता है। परन्तु जबतक जनता में साम्प्रदायिक धर्मों से व्यक्तिगत कल्याण होने का अन्धविश्वास बना हुआ है, तथा जाति और वर्ग (Caste and class) के ऊँच-नीच के भेद का अभिमान कायम है, तबतक न तो समाज और राष्ट्र, धर्म निर्पेक्ष हो सकता है और न जाति-पाँति के भेद मिट सकते हैं। गीता इससे बहुत आगे बढ़कर सब साम्प्रदायिक धर्मों को सर्वथा छोड़ देने (गी० अ० २ श्लोक ४५, अ० १८ श्लोक ६६), और जाति, कुल, वंश तथा वर्ग (Caste, race, tribe and class) आदि की श्रेष्ठता का अभिमान बिल्कुल न करके, सबमें एकता (Oneness), और समता (Sameness) का अनुभव करने का उपदेश देती है (गी० अ० ५ श्लोक १८, अ० ६ श्लोक २९ से ३२, अ० १३ श्लोक २७-२८)। ऐसा करने से ही समाज पूरी उन्नति कर सकता है और उसमें सुव्यवस्था रह सकती है।

८. आधुनिक समाजवाद सर्वात्मभाव में स्थित बुद्धिवाले, राग-द्वेष रहित, द्वन्द्वातीत और जीवन मुक्त आदर्श पुरुषों का निर्माण नहीं कर सकता। परन्तु गीता के शाश्वत समाज विज्ञान में ऐसे आदर्श महापुरुषों के निर्माण की व्यवस्था है। वे महापुरुष सब देश, काल, कुल, और जाति के अभिमान और साम्प्रदायिक मिथ्या बाह्य संस्कारों, अन्धविश्वासों और संकीर्णताओं, तथा मानसिक विकारों की परतन्त्रता से मुक्त होते हैं; और अपनी स्वतन्त्र इच्छापूर्वक, लोक संग्रह के उद्देश्य से व्यवहार करते हुए, जनता के सम्मुख श्रेष्ठ जीवन का आदर्श उपस्थित करते हैं (गी० अ० २ श्लोक ५५ से ७२, अ० ३ श्लोक २० से ३०)। जन साधारण उनके जीवन से प्रेरणा प्राप्त करके एवं उनका अनुकरण करने द्वारा शनैः-शनैः अपने को अज्ञान, स्वार्थ और अन्धविश्वास आदि मानसिक विकारों की पराधीनता से मुक्त करने में सफलता प्राप्त करते हैं।

९. आधुनिक समाजवाद पुनर्जन्म की मान्यता को झूठी और समाज विरोधी बताता है, क्योंकि उसकी मान्यता है, कि इससे प्रारब्ध और भाग्यवाद की उत्पत्ति होती है। परन्तु गीता पुनर्जन्म की मान्यता को, एक बुद्धि संगत तथ्य मानती है; क्योंकि जीवन का अस्तित्व, एक शरीर के अन्त होने पर समाप्त नहीं हो जाता। वह

निरन्तर किसी-न-किसी रूप मे बना रहता है। कर्मवाद का सिद्धान्त है कि क्रिया (Action) की प्रतिक्रिया (Reaction) होना प्रकृति का अटल नियम है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही उसका फल उसको भोगना पड़ता है। यदि इस शरीर मे नही भोगा गया तो भविष्य मे किसी दूसरे शरीर मे भोगना अनिवार्य है। प्रकृति के इस अटल नियम और कर्मविपाक के इस सिद्धान्त के विरुद्ध, पुनर्जन्म को न मानने वाले लोग कोई युक्तिसगत विकल्प नही बता सकते; परन्तु गीता पुनर्जन्म की मान्यता से इस सिद्धान्त की बड़ी ही युक्तिसगत व्यवस्था करती है, और समाज की सुव्यवस्था के लिए पुनर्जन्म की मान्यता को आवश्यक ही नही किन्तु अनिवार्य ठहराती है। जो स्थूल बुद्धि के अविवेकी लोग पुनर्जन्म को नही मानते और इस शरीर के मरने पर अपना जीवन समाप्त होना मानते हैं, वे समाज विरोधी काम करने मे नि सकोच हो सकते है। वास्तव मे अपने अस्तित्व की समाप्ति का विचार पुनर्जन्म को न मानने वालो को भी सहन नही हो सकता। इसीलिए वे अनन्तकाल तक जीवित रहने के सामान, अपने लिए तथा अपने उत्तराधिकारियो के लिए, येन-केन उचित-अनुचित प्रकार से जुटाते ही रहते है। गीता शरीर के अन्त के साथ जीवन का अस्तित्व समाप्त हो जाने के निराशावाद को स्थान नही देती; किन्तु मनुष्य को उत्साह देती है कि यदि एक जन्म मे लक्ष्य पर नही पहुँचा जाय तो दूसरे जन्म मे पहुँचा जा सकता है, पुरुषार्थ करते हुए अग्रसर होते रहना चाहिए। प्रारब्ध या भाग्य केवल पुनर्जन्म के प्रभाव से नहीं बनते, किन्तु इस जन्म के कर्मो के प्रभाव से भी बनते रहते हैं। प्रारब्ध या भाग्य पुरुषार्थ से ही बनते हैं। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से पूर्व कर्मों के प्रभाव को घटा-बढा सकता है और मिटा भी सकता है। गीता प्रारब्ध या भाग्यवाद का खण्डन करती है। वह पुरुषार्थ को ही महत्व देती है (गी० अ० २ श्लोक ४७, अ० ३ और ४)।

ये ही गीता के शाश्वत समाज विज्ञान की कुछ अतिरिक्त विशेषताएँ है, जो आधुनिक समाजवाद की अपेक्षा श्रेष्ठ सिद्ध होती हैं।

गीता के समत्व-योग अथवा शाश्वत समाज विज्ञान का वर्तमान जनता में प्रचार क्यों नहीं हुआ?

ससार मे परिवर्तन का चक्कर निरन्तर चलता रहता है। कोई भी वस्तु सदा एक-सी नही रहती। क्रिया-प्रतिक्रिया (Action-reaction) का तांता बंधा ही रहता है। यह प्रकृति का अटल नियम है। समत्व-योग का साक्षात् आदर्श, सूरज भी उदय और अस्त होता रहता है। उन्नति और अवनति का क्रम भी लगातार चलता ही रहता है। उन्नति के बाद उसकी प्रतिक्रिया रूप अवनति होती है और

अवनति के बाद उसकी प्रतिक्रिया—उन्नति होती है। जब कोई व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज या राष्ट्र बहुत उन्नत हो जाता है, तब उसकी प्रतिक्रिया में लोग अभिमानी, स्वार्थी, विलासी, प्रमादी और आलसी हो जाते हैं और उनको अविवेक तथा मूढ़ता दबा देते हैं, जिससे उनकी गिरावट होती है। मध्य युग में हमारे देश की यही दशा हुई थी। उन्नति के शिखर पर चढ़ने का अहंकार और मद तथा स्वार्थपरता बहुत बढ़ गई थी। इस जन्म के स्वार्थों से ही उनको सन्तोष नहीं रहा था, किन्तु मरने के बाद व्यक्तिगत कल्याण, मोक्ष और स्वर्ग-प्राप्ति की लालसा उग्र हो गई थी, और ये सब स्वार्थ, धार्मिक क्रियाओं से सस्ते भाव में प्राप्त होने का अन्ध विश्वास सारी जनता के हृदय में पक्का जम गया था। व्यक्तिगत सस्ते कल्याण के लिए, समाज को सुव्यवस्थित रखने वाले अपने कर्तव्य कर्मों की उपेक्षा करके, हवन-यज्ञ आदि वैदिक कर्मकाण्डों, उपासना, जप, तप, पूजापाठ, योगाभ्यास, सूखे आत्मज्ञान की चर्चा करने और आत्म चिन्तन में लगे रहने के लिए त्याग, वैराग्य और संन्यास आदि को ही जनता ने विशेष महत्त्व दिया और अधिकतर लोग उनमें संलग्न रहने लगे। इन विषयों की अनेक सम्प्रदायें बन गई और सबने अपने-अपने सम्प्रदायों के शास्त्र रचे। अद्वैत वेदान्त के सत् शास्त्र—उपनिषद्, भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र जैसे ग्रन्थों के अर्थ को भी तोड़-मरोड़ कर, उनपर उन्होंने अपने-अपने सम्प्रदायों के अनुकूल टीकाएँ लिखीं और उन टीकाओं का प्रचार सारे देश में हो गया। गीता के कई शब्दों का अत्यन्त संकुचित, प्रचलित रूढ़ि अर्थ करके, उसके असली सच्चे सिद्धान्त को लुप्त कर दिया गया। प्रायः सभी साम्प्रदायिक टीकाकार इस तथ्य को सर्वथा भूल गए कि गीता बनने का कारण ही अर्जुन की समाज के प्रति अपने कर्तव्य की किंकर्तव्य विमूढ़ता थी (गी० अ० २ श्लोक ७); जिसको मिटाने के लिए भगवान ने उसको अनेक प्रकार के दार्शनिक और वैज्ञानिक सिद्धान्तों की मीमांसा करके, इस समत्व-योग संज्ञक शाश्वत समाज विज्ञान का उपदेश दिया था (गी० अ० ४ श्लोक १ से ३)। वहाँ इन साम्प्रदायिक ज्ञान, कर्मोपासना आदि में लगने के विधान का अवसर ही नहीं था। गीता का अर्थ करने में इन साम्प्रदायिक टीकाकारों ने जिन-जिन शब्दों का प्रचलित संकुचित रूढ़ि अर्थ किया है, उन शब्दों का सच्चा व्यापक अर्थ स्वयं गीता ही में स्पष्ट किया हुआ है, परन्तु इन टीकाकारों ने उनकी बिल्कुल अवहेलना की और पूर्वापर की असंगति और परस्पर के विरोध की भी परवाह नहीं की। लोकमान्य तिलक ने अपने 'गीता रहस्य' ग्रन्थ में इन टीकाकारों के अनेक स्थलों पर असंगत और परस्पर विरोधी अर्थों पर अच्छी तरह प्रकाश डाला है।

गीता में कई शब्द ऐसे हैं जिनके प्रचलित संकुचित रूढ़ि अर्थ और स्वयं गीता

में निर्दिष्ट किये गए सच्चे व्यापक अर्थों में बहुत अन्तर ही नहीं, किन्तु विरोध भी है। जैसे—

१. ईश्वर—शब्द का आमतौर से प्रचलित रूढ़ि अर्थ, जगत से अलग, किसी विशेष कल्पित स्थान या स्थिति में रहते हुए, जगत को रचने और उसका शासन करने वाले, विशेष गुणों युक्त, "व्यक्ति ईश्वर" किया जाता है; जिसकी स्तुति और प्रार्थना तथा अर्चन पूजन आदि की चाटुकारिता (चापलूसी) करने से, वह प्रसन्न होकर मनुष्य को इच्छित पदार्थ देता है, उसके सब पाप क्षमा कर देता है और मरने के बाद उसको स्वर्ग भेज देता है, और जो उसकी इस तरह खुशामद नहीं करते, उनपर वह क्रुद्ध होकर उनको दुःख देता है और मरने के बाद उनको नरक में गिरा देता है। इस तरह मानवीय विकारों और दुर्बलताओं युक्त व्यक्ति ईश्वर माना जाता है। परन्तु गीता ऐसे खुशामद पसन्द व्यक्ति ईश्वर का अस्तित्व नहीं मानती। गीता में ईश्वर का जहाँ भी उल्लेख हुआ है, वहाँ सबके अन्दर एक समान ओत-प्रोत, ठसाठस भरी हुई सर्वव्यापक सत्ता अर्थात् अन्तरात्मा को ही ईश्वर माना है (गी० अ० १३ श्लोक १२ से १७, श्लोक २७, २८)। उस चेतन सत्ता से ही सब शरीरों और जगत के व्यवहार चलते हैं और वह सत्ता ही सबका आधार है। इसलिए वह सबका स्वामी होने के कारण उसको ईश्वर संज्ञा दी गई है (गी०अ० १८ श्लोक ६१)। व्यष्टिभाव से वह सत्ता प्रत्येक शरीर का स्वामी जीवात्मा कहा जाता है (गी० अ० १५ श्लोक ७-८), और समष्टि भाव से सारे ब्रह्माण्ड का स्वामी परमात्मा अथवा ईश्वर या परमेश्वर कहा जाता है (गी० अ० १३ श्लोक २२, अ० १५ श्लोक १७)।

व्यक्ति ईश्वर की मान्यता की तो गीता में निन्दा की गई है और उसका खण्डन किया गया है (गी० अ० ७ श्लोक २४)। भगवान् कृष्ण ने अपने को जो परमेश्वर, महेश्वर, ब्रह्म, परमात्मा और पुरुषोत्तम कहा है, वह व्यक्ति भाव से नहीं कहा है किन्तु सबके साथ एकता के सर्वात्मभाव से कहा है। भगवान् ने अपने लिए जो उत्तम पुरुष वाचक "अहम्, माम्, मम, मत् मयि" आदि सर्वनामों का प्रयोग किया है, वह सब के अपने आप, सबके आत्मभाव के लिए किया है, न कि अपने अलग व्यक्तित्व के लिए। अध्याय ७ से ११ और १४-१५ तो भगवान् कृष्ण के सर्वात्म भाव के वर्णनों से भरे हुए हैं। ५ वें अध्याय के श्लोक २९ में, १३ वें अध्याय के श्लोक २ में और चौथे अध्याय के आरम्भ में भी इसी सर्वात्म भाव का वर्णन है।

२. धर्म—शब्द का आमतौर से प्रचलित रूढ़ि अर्थ, अलग-अलग साम्प्रदायिक कर्मकाण्डों की रूढ़ियों, ईश्वर और देवी-देवताओं की उपासना तथा पूजन के नियम, सम्प्रदायों एवं मतमतान्तरों के अलग-अलग शास्त्रों में वर्णित विधि-

निषेध के नियम, व जाति-पाँति के रीतिरिवाजों आदि का किया जाता है। परन्तु गीता इनको धर्म नहीं मानती। इन साम्प्रदायिक धर्मों को तो सर्वथा त्याग देने का आदेश देती है (गी० अ० २ श्लोक ४२ से ४६, अ० १८ श्लोक ६६)। गीता के अनुसार सबके, अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार कर्तव्य कर्म, समाज की सुव्यवस्था के लिए, परिस्थिति के उपयुक्त करना ही 'धर्म" है; चाहे साम्प्रदायिक दृष्टि में वे कर्तव्य कर्म श्रेष्ठ हों या निषिद्ध, सौम्य हों या क्रूर, पवित्र हों या मलिन, उच्च-कोटि के हों या हीन कोटि के, जिन कर्मों से समाज की सुव्यवस्था बनी रहे, वे ही गीता के अनुसार "धर्म" हैं (गीता अ० २ श्लोक ३१ से ३३-४०, अध्याय ३ श्लोक ३५, अध्याय ७ श्लोक ११, अध्याय ९ श्लोक २, अध्याय १२ श्लोक २०, अध्याय १४ श्लोक २७ और अध्याय १८ श्लोक ४७)।

३. यज्ञ—शब्द का आमतौर से प्रचलित रूढ़ि अर्थ, अग्नि में पदार्थों का हवन करना किया जाता है। परन्तु गीता में इस तरह के यज्ञों की निन्दा की गई है और इन यज्ञों को राजस-तामस यज्ञ कहा गया है (गी० अ० २ श्लोक ४२ से ४४, अ० ९ श्लोक २०-२१, अध्याय १७ श्लोक १२-१३)। गीता में अपने अलग व्यष्टिभाव को समष्टिभाव में लय करके, सबके साथ अपनी एकता के निश्चय से समाज की सुव्यवस्था के लिए, अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के व्यवसाय करने द्वारा एक दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करने में सहयोग देना और सहायक होना ही सच्चा यज्ञ कहा गया है (गी० अ० ३ श्लोक १० से १६, अ० ४ श्लोक २४)।

४. देव, देवता—शब्द का प्रचलित रूढि अर्थ, स्वर्ग लोक में रहने वाले विशेष नामों, विशेष रूपों तथा विशेष आकृतियों वाले, विशेष शक्ति-सम्पन्न कल्पित अलौकिक व्यक्तियों के अस्तित्व का किया जाता है, जिनकी हवन-यजन आदि वैदिक विधि से, अथवा अर्चन-पूजन द्वारा उपासना करने से, तथा अग्नि में डाली हुई आहुतियों एवं बलिदान आदि से वे तृप्त और सन्तुष्ट होकर मनवांछित पदार्थ देते हैं, ऐसा विश्वास किया जाता है। परन्तु गीता इस तरह के देवताओं की मान्यता और उनकी उपासना की निन्दा करती है, और ऐसी उपासना करने वालों को बुद्धिभ्रष्ट, मूर्ख बताकर उनका पतन होना निश्चित ठहराती है (गी० अ० ७ श्लोक २० से २३, अ० ९ श्लोक २०, २१, २३, २४)। गीता में सब शरीरों और जगत के अन्दर रहने वाली एवं उनको धारण करने वाली व्यष्टि और समष्टि सूक्ष्म शक्तियों को देव माना है, और प्रत्येक मनुष्य के व्यष्टि कर्मों के सहयोग द्वारा उन समष्टि शक्तियों को पुष्ट करने से सब भोग्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिनसे जीवन की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं, यह प्रतिपादन किया गया है। (गी० अ०

मे निर्दिष्ट किये गए सच्चे व्यापक अर्थों मे बहुत अन्तर ही नही, किन्तु विरोध भी है। जैसे—

१. ईश्वर—शब्द का आमतौर से प्रचलित रूढि अर्थ, जगत से अलग, किसी विशेष कल्पित स्थान या स्थिति मे रहते हुए, जगत को रचने और उसका शासन करने वाले, विशेष गुणो युक्त, "व्यक्ति ईश्वर" किया जाता है, जिसकी स्तुति और प्रार्थना तथा अर्चन-पूजन आदि की चाटुकारिता (चापलूसी) करने से, वह प्रसन्न होकर मनुष्य को इच्छित पदार्थ देता है, उसके सब पाप क्षमा कर देता है और मरने के बाद उसको स्वर्ग भेज देता है, और जो उसकी इस तरह खुशामद नही करते, उनपर वह क्रुद्ध होकर उनको दुःख देता है और मरने के बाद उनको नरक मे गिरा देता है। इस तरह मानवीय विकारो और दुर्बलताओ युक्त व्यक्ति ईश्वर माना जाता है। परन्तु गीता ऐसे खुशामद पसन्द व्यक्ति ईश्वर का अस्तित्व नही मानती। गीता मे ईश्वर का जहाँ भी उल्लेख हुआ है, वहाँ सबके अन्दर एक समान ओत-प्रोत, ठसाठस भरी हुई सर्वव्यापक सत्ता यानी अन्तरात्मा को ही ईश्वर माना है (गी० अ० १३ श्लोक १२ से १७, श्लोक २७, २८)। उस चेतन सत्ता से ही सब शरीरो और जगत के व्यवहार चलते हैं और वह सत्ता ही सबका आधार है। इसलिए वह सबका स्वामी होने के कारण उसको ईश्वर सज्ञा दी गई है (गी०अ० १८ श्लोक ६१)। व्यक्तिभाव से वह सत्ता प्रत्येक शरीर का स्वामी जीवात्मा कहा जाता है (गी० अ० १५ श्लोक ७-८), और समष्टि भाव से सारे ब्रह्माण्ड का स्वामी परमात्मा अथवा ईश्वर या परमेश्वर कहा जाता है (गी० अ० १३ श्लोक २२, अ० १५ श्लोक १७)।

व्यक्ति ईश्वर की मान्यता की तो गीता मे निन्दा की गई है और उसका खण्डन किया गया है (गी० अ० ७ श्लोक २४)। भगवान् कृष्ण ने अपने को जो परमेश्वर, महेश्वर, ब्रह्म, परमात्मा और पुरुषोत्तम कहा है, वह व्यक्ति भाव से नही कहा है किन्तु सबके साथ एकता के सर्वात्मभाव से कहा है। भगवान् ने अपने लिए जो उत्तम पुरुष वाचक "अहम्, माम्, मम, मत् मयि" आदि सर्वनामो का प्रयोग किया है, वह सब के अपने आप, सबके आत्मभाव के लिए किया है, न कि अपने अलग व्यक्तित्व के लिए। अध्याय ७ से ११ और १४-१५ तो भगवान् कृष्ण के सर्वात्म भाव के वर्णनो से भरे हुए हैं। ५ वें अध्याय के श्लोक २९ मे, १३ वें अध्याय के श्लोक २ मे और चौथे अध्याय के आरम्भ मे भी इसी सर्वात्म भाव का वर्णन है।

२ धर्म—शब्द का आमतौर से प्रचलित रूढि अर्थ, अलग-अलग साम्प्रदायिक कर्मकाण्डो की रूढियो, ईश्वर और देवी-देवताओ की उपासना तथा पूजन के नियम, सम्प्रदायो एव मतमतान्तरो के अलग-अलग शास्त्रो मे वर्णित विधि-

निषेध के नियम, व जाति-पाँति के रीतिरिवाजों आदि का किया जाता है। परन्तु गीता इनको धर्म नहीं मानती। इन साम्प्रदायिक धर्मों को तो सर्वथा त्याग देने का आदेश देती है (गी० अ० २ श्लोक ४२ से ४६, अ० १८ श्लोक ६६)। गीता के अनुसार सबके, अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार कर्तव्य कर्म, समाज की सुव्यवस्था के लिए, परिस्थिति के उपयुक्त करना ही 'धर्म" है; चाहे साम्प्रदायिक दृष्टि में वे कर्तव्य कर्म श्रेष्ठ हों या निषिद्ध, सौम्य हों या क्रूर, पवित्र हों या मलिन, उच्च-कोटि के हों या हीन कोटि के, जिन कर्मों से समाज की सुव्यवस्था बनी रहे, वे ही गीता के अनुसार "धर्म" हैं (गीता अ० २ श्लोक ३१ से ३३-४०, अध्याय ३ श्लोक ३५, अध्याय ७ श्लोक ११, अध्याय ९ श्लोक २, अध्याय १२ श्लोक २०, अध्याय १४ श्लोक २७ और अध्याय १८ श्लोक ४७)।

३. **यज्ञ**—शब्द का आमतौर से प्रचलित रूढ़ि अर्थ, अग्नि में पदार्थों का हवन करना किया जाता है। परन्तु गीता में इस तरह के यज्ञों की निन्दा की गई है और इन यज्ञों को राजस-तामस यज्ञ कहा गया है (गी० अ० २ श्लोक ४२ से ४४, अ० ९ श्लोक २०-२१, अध्याय १७ श्लोक १२-१३)। गीता में अपने अलग व्यष्टिभाव को समष्टिभाव में लय करके, सबके साथ अपनी एकता के निश्चय से समाज की सुव्यवस्था के लिए, अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के व्यवसाय करने द्वारा एक दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करने में सहयोग देना और सहायक होना ही सच्चा यज्ञ कहा गया है (गी० अ० ३ श्लोक १० से १६, अ० ४ श्लोक २४)।

४. **देव, देवता**—शब्द का प्रचलित रूढि अर्थ, स्वर्ग लोक में रहने वाले विशेष नामों, विशेष रूपों तथा विशेष आकृतियों वाले, विशेष शक्ति-सम्पन्न कल्पित अलौकिक व्यक्तियों के अस्तित्व का किया जाता है, जिनकी हवन-यजन आदि वैदिक विधि से, अथवा अर्चन-पूजन द्वारा उपासना करने से, तथा अग्नि में डाली हुई आहुतियों एवं बलिदान आदि से वे तृप्त और सन्तुष्ट होकर मनवांच्छित पदार्थ देते हैं, ऐसा विश्वास किया जाता है। परन्तु गीता इस तरह के देवताओं की मान्यता और उनकी उपासना की निन्दा करती है, और ऐसी उपासना करने वालों को बुद्धिभ्रष्ट, मूर्ख बताकर उनका पतन होना निश्चित ठहराती है (गी० अ० ७ श्लोक २० से २३, अ० ९ श्लोक २०, २१, २३, २४)। गीता में सब शरीरों और जगत के अन्दर रहने वाली एवं उनको धारण करने वाली व्यष्टि और समष्टि सूक्ष्म शक्तियों को देव माना है, और प्रत्येक मनुष्य के व्यष्टि कर्मों के सहयोग द्वारा उन समष्टि शक्तियों को पुष्ट करने से सब भोग्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिनसे जीवन की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं, यह प्रतिपादन किया गया है। (गी० अ०

३ श्लोक १० से १६, अ० १८ श्लोक ४६)।

५. योग—शब्द का आमतौर से प्रचलित रूढ़ि अर्थ, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि आदि योगाभ्यास की क्रियाओं का किया जाता है। परन्तु गीता में अपने व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ कर, सबकी एकता और समता के भाव में जुड़े रहना और उस समता के भाव से अपने अपने व्यवहार करते हुए, अनुकूलता-प्रतिकूलता, सफलता-असफलता आदि द्वन्द्वों में अन्तःकरण का सन्तुलन एकसा बनाये रखने को 'योग' कहा है (गीता० अ० २ श्लोक ४८, ५०, अध्याय ४ श्लोक १ से ३, अध्याय ६ श्लोक २९ से ३३)। छठे अध्याय में ध्यान योग का जो विधान किया गया है, वह सबकी एकता और समता के भाव को निरन्तर याद रखने के अभ्यास के लिए किया गया है।

६ कर्म—शब्द का साम्प्रदायिक रूढ़ि अर्थ, वैदिक देवकर्म, पितृ कर्म, नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म आदि कर्मकाण्ड किया जाता है, और इन कर्मों को किसी कामना के उद्देश्य बिना करना निष्काम कर्म माना जाता है, तथा इन कर्मों को 'ब्रह्मार्पण' अथवा 'कृष्णार्पण' अथवा 'ईश्वरार्पण' शब्द कह कर संकल्प छोड़ने को *कर्मफल त्याग कहा जाता है। परन्तु गीता ऐसा नहीं मानती।* इन वैदिक कर्म-काण्डों का गीता में निषेध किया गया है (गी० अ० २ श्लोक ४२-४४, अ० ६ श्लोक ४४-४६, अ० ८ श्लोक २८, अ० ११ श्लोक ४८)। गीता में अपनी-अपनी योग्यता के काम-धन्धे और व्यवसाय करना ही कर्म शब्द का व्यापक अर्थ माना गया है, और ये कर्म केवल व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि का ही उद्देश्य न रखकर, समाज की सुव्यवस्था अथवा लोक संग्रह के उद्देश्य से करने को निष्काम कर्म-योग कहा है (गी० अ० ३ श्लोक १९ से ३०), तथा इन कर्मों से जो कुछ प्राप्त हो, उसमें दूसरों का साझा समझते हुए, दूसरों को उनका हिस्सा यथायोग्य बाँट कर शेष अपने उपयोग में लेना—इसको कर्मफल त्याग कहा है (गी० अ० २ श्लोक ४७ से ५१, अध्याय ४ श्लोक १३ से २४, अध्याय ५ श्लोक ७ से १३, अध्याय ९ श्लोक २७-२८)।

७ भक्ति—शब्द का आमतौर से प्रचलित रूढ़ि अर्थ, व्यक्ति ईश्वर अथवा देवी देवताओं का अर्चन-पूजन, उनका स्मरण, नाम-जप, स्तोत्र-पाठ, प्रार्थना, अथवा निर्गुण निराकार का ध्यान और चिन्तन आदि करके, उनको प्रसन्न करने का किया जाता है, जिससे व्यक्तिगत कल्याण होने और इच्छित पदार्थ प्राप्त होने की आशा की जाती है, अथवा अन्तःकरण शुद्ध होने का उपाय माना जाता है। परन्तु गीता में इस तरह की व्यक्ति भाव की भक्ति या उपासना की कड़े शब्दों में निन्दा की गई है और ऐसी भक्ति करने वालों को मूर्ख, राक्षसी-आसुरी प्रकृति

का कहा गया है (गीता अध्याय ७ श्लोक २० से २४, अध्याय ९ श्लोक ११-१२)। गीता में सारे विश्व की एकता का ध्यान रखते हुए सबके साथ अनन्य भाव के प्रेम का यथा-योग्य व्यवहार और आचरण करने और सबके हित में लगे रहने को सच्ची भक्ति कहा है (गीता अध्याय ११ श्लोक ५४-५५, अध्याय १२ श्लोक २ से ६ और श्लोक १३ से १९)।

८. **जप**—शब्द का रूढि अर्थ, ईश्वर अथवा देवी-देवताओं के कल्पित नामों को बार-बार रटने और उच्चारण करने का प्रचलित है। परन्तु गीता में जप शब्द सबकी एकता और समता रूप परमात्मा के प्रतीक शब्द 'ओंकार' के उच्चारण द्वारा एकता और समता का निरन्तर स्मरण और चिन्तन करते हुए अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म करते रहने के लिए प्रयोग किया गया है (गीता अ० ८ श्लोक १३, अ० १७ श्लोक २३-२४)।

९. **तप**—शब्द का आमतौर से प्रचलित रूढ़ि अर्थ, शरीर को पीड़ा देने, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि सहन करने की कठिन तपस्याएँ करने का किया जाता है। परन्तु गीता इन तपस्याओं की बहुत निन्दा करती है। ऐसी तपस्याएँ करने वालों को मूढ़, अहंकारी, पाखंडी, असुर कहा है (गीता अ० १७ श्लोक ५-६ और श्लोक १९)। गीता में सामाजिक शिष्टाचार को ही तप माना गया है। शरीर, वाणी और मन से एक-दूसरे के साथ सभ्यता के आचरण करने का सत्रहवें अध्याय के श्लोक १४ से १७ तक में तप का विधान किया गया है।

१०. **श्रद्धा**—शब्द का प्रचलित रूढि अर्थ साम्प्रदायिक शास्त्रों और गुरु, पुरोहितों, साधु, संन्यासियों आदि के वचनों में अन्धविश्वास रखना और कल्पित व्यक्ति ईश्वर, देवी-देवता, भूत-प्रेत, राशि-ग्रह के फलों आदि के वहम विचारों को, विना तर्क किये मानना, सामाजिक रीति-रिवाजों का पालन करना, बुद्धि से बिल्कुल काम नहीं लेना किया जाता है। परन्तु गीता इस तरह के अन्धविश्वासों और वहम विचारों की मान्यताओं को राजसी-तामसी श्रद्धा बताती है (गीता अ० १७ श्लोक ४, अ० ७ श्लोक २० से २३, अ० ९ श्लोक २३ से २५)। गीता के अनुसार जगत की अनेक प्रकार की अनेकता के भावों में एकता का निश्चय रखना, आत्म-विश्वास रखना, और जिस विषय को समझने की अपने में योग्यता न हो, उस विषय में पहले उस विषय के मर्मज्ञ सत्पुरुषों के वचनों में श्रद्धा करके, फिर बुद्धि की कसौटी पर जांच कर अच्छी तरह समझना—विशेष करके आत्म-ज्ञान के सूक्ष्म रहस्य के विषय में पहले पहल, निस्पृह आत्मज्ञानी महापुरुषों के वचनों में श्रद्धा करके उनका मनन करना, यह श्रद्धा का विधान किया गया है और इस श्रद्धा को आवश्यक बताया है (गीता अ० ३ श्लोक ३१, अ० १७ श्लोक २-३

३ श्लोक १० से १६, अ० १८ श्लोक ४६)।

५. योग—शब्द का आमतौर से प्रचलित रूढि अर्थ, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि आदि योगाभ्यास की क्रियाओ का किया जाता है। परन्तु गीता मे अपने व्यक्तित्व को सबके साथ जोड कर, सबकी एकता और समता के भाव मे जुडे रहना और उस समता के भाव से अपने-अपने व्यवहार करते हुए अनुकूलता-प्रतिकूलता, सफलता-असफलता आदि द्वन्द्वो मे अन्त.करण का सन्तुलन एकसा बनाये रखने को 'योग' कहा है (गीता० अ० २ श्लोक ४८, ५०, अध्याय ४ श्लोक १ से ३, अध्याय ६ श्लोक २६ से ३३)। छठे अध्याय मे ध्यान योग का जो विधान किया गया है, वह सबकी एकता और समता के भाव को निरन्तर याद रखने के अभ्यास के लिए किया गया है।

६ कर्म—शब्द का साम्प्रदायिक रूढि अर्थ, वैदिक देवकर्म, पितृ कर्म, नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म आदि कर्मकाण्ड किया जाता है, और इन कर्मों को किसी कामना के उद्देश्य बिना करना निष्काम कर्म माना जाता है, तथा इन कर्मों को 'ब्रह्मार्पण' अथवा 'कृष्णार्पण' अथवा 'ईश्वरार्पण' शब्द कह कर सकल्प छोड़ने को कर्मफल त्याग कहा जाता है। परन्तु गीता ऐसा नही मानती। इन वैदिक कर्म-काण्डो का गीता मे निषेध किया गया है (गी० अ० २ श्लोक ४२-४४, अ० ६ श्लोक ४४-४६, अ० ८ श्लोक २८, अ० ११ श्लोक ४८)। गीता मे अपनी-अपनी योग्यता के काम-धन्धे और व्यवसाय करना ही कर्म शब्द का व्यापक अर्थ माना गया है, और ये कर्म केवल व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि का ही उद्देश्य न रखकर, समाज की सुव्यवस्था अथवा लोक सग्रह के उद्देश्य से करने को निष्काम कर्म-योग कहा है (गी० अ० ३ श्लोक १९ से ३०); तथा इन कर्मों से जो कुछ प्राप्त हो, उसमे दूसरो का साझा समझते हुए, दूसरो को उनका हिस्सा यथायोग्य बाँट कर शेष अपने उपयोग मे लेना—इसको कर्मफल त्याग कहा है (गी० अ० २ श्लोक ४७ से ५१, अध्याय ४ श्लोक १३ से २४, अध्याय ५ श्लोक ७ से १२, अध्याय ६ श्लोक २७-२८)।

७ भक्ति—शब्द का आमतौर से प्रचलित रूढि अर्थ, व्यक्ति ईश्वर अथवा देवी देवताओ का अर्चन-पूजन, उनका स्मरण, नाम-जप, स्तोत्र-पाठ, प्रार्थना, अथवा निर्गुण निराकार का ध्यान और चिन्तन आदि करके, उनको प्रसन्न करने का किया जाता है, जिससे व्यक्तिगत कल्याण होने और इच्छित पदार्थ प्राप्त होने की आशा की जाती है, अथवा अन्त.करण शुद्ध होने का उपाय माना जाता है। परन्तु गीता मे इस तरह की व्यक्ति भाव की भक्ति या उपासना की कडे शब्दो मे निन्दा की गई है और ऐसी भक्ति करने वालो को मूर्ख, राक्षसी-आसुरी प्रकृति

का कहा गया है (गीता अध्याय ७ श्लोक २० से २४, अध्याय ९ श्लोक ११-१२)। गीता में सारे विश्व की एकता का ध्यान रखते हुए सबके साथ अनन्य भाव के प्रेम का यथा-योग्य व्यवहार और आचरण करने और सबके हित में लगे रहने को सच्ची भक्ति कहा है (गीता अध्याय ११ श्लोक ५४-५५, अध्याय १२ श्लोक २ से ६ और श्लोक १३ से १९)।

८. जप—शब्द का रूढ़ि अर्थ, ईश्वर अथवा देवी-देवताओं के कल्पित नामों को बार-बार रटने और उच्चारण करने का प्रचलित है। परन्तु गीता में जप शब्द सबकी एकता और समता रूप परमात्मा के प्रतीक शब्द 'ओंकार' के उच्चारण द्वारा एकता और समता का निरन्तर स्मरण और चिन्तन करते हुए अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म करते रहने के लिए प्रयोग किया गया है (गीता अ० ८ श्लोक १३, अ० १७ श्लोक २३-२४)।

९. तप—शब्द का आमतौर से प्रचलित रूढ़ि अर्थ, शरीर को पीड़ा देने, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि सहन करने की कठिन तपस्याएँ करने का किया जाता है। परन्तु गीता इन तपस्याओं की बहुत निन्दा करती है। ऐसी तपस्याएँ करने वालों को मूढ़, अहंकारी, पाखंडी, असुर कहा है (गीता अ० १७ श्लोक ५-६ और श्लोक १९)। गीता में सामाजिक शिष्टाचार को ही तप माना गया है। शरीर, वाणी और मन से एक-दूसरे के साथ सभ्यता के आचरण करने का सत्रहवें अध्याय के श्लोक १४ से १७ तक में तप का विधान किया गया है।

१०. श्रद्धा—शब्द का प्रचलित रूढ़ि अर्थ साम्प्रदायिक शास्त्रों और गुरु, पुरोहितों, साधु, संन्यासियों आदि के वचनों में अन्धविश्वास रखना और कल्पित व्यक्ति ईश्वर, देवी-देवता, भूत-प्रेत, राशि-ग्रह के फलों आदि के वहम विचारों को, बिना तर्क किये मानना, सामाजिक रीति-रिवाजों का पालन करना, बुद्धि से बिल्कुल काम नहीं लेना किया जाता है। परन्तु गीता इस तरह के अन्धविश्वासों और वहम विचारों की मान्यताओं को राजसी-तामसी श्रद्धा बताती है (गीता अ० १७ श्लोक ४, अ० ७ श्लोक २० से २३, अ० ९ श्लोक २३ से २५)। गीता के अनुसार जगत की अनेक प्रकार की अनेकता के भावों में एकता का निश्चय रखना, आत्म-विश्वास रखना, और जिस विषय को समझने की अपने में योग्यता न हो, उस विषय में पहले उस विषय के मर्मज्ञ सत्पुरुषों के वचनों में श्रद्धा करके, फिर बुद्धि की कसौटी पर जाँच कर अच्छी तरह समझना—विशेष करके आत्म-ज्ञान के सूक्ष्म रहस्य के विषय में पहले पहल, निस्पृह आत्मज्ञानी महापुरुषों के वचनों में श्रद्धा करके उनका मनन करना, यह श्रद्धा का विधान किया गया है और इस श्रद्धा को आवश्यक बताया है (गीता अ० ३ श्लोक ३१, अ० १७ श्लोक २-३

और २८, अ० १८ श्लोक ६३ और ७१) ।

११ शास्त्र—शब्द का आमतौर से प्रचलित रूढ़ि अर्थ, अलग-अलग सम्प्रदायो के कर्मकाण्डो का विधान करने वाले और साम्प्रदायिक धर्मों की महिमा गाने वाले, उनके माहात्म्य के बखान करने वाले जितने भी ग्रन्थ रचे जाते हैं, उन सबको शास्त्र माना जाता है। उनके सत्यासत्य को अथवा युक्ति सगत होने की जाँच करने के लिए बुद्धि का उपयोग करने की कोई आवश्यकता नही समझी जाती, उनमे जो कुछ भी ऊटपटाग लिखा गया हो, उनको अन्ध श्रद्धा से प्रमाण माना जाता है, उनमे तर्क करने की मनाई है। परन्तु गीता ऐसे शास्त्रो का खंडन करती है (गीता अ० २ श्लोक ४५-४६ और ५०-५३)। गीता के अनुसार अभेद प्रतिपादक सत्शास्त्र ही प्रामाणिक हैं जिनमे सत्यासत्य का निर्णय किया गया है और जो युक्ति और तर्क सगत है (गीता अध्याय १३ श्लोक ४, अध्याय १५ श्लोक २०)।

१२ ज्ञान—शब्द का रूढ़ि अर्थ, कोरे आत्म-ज्ञान की बातें बनाने मे लगे रहना, आत्मज्ञान के ग्रन्थो के पद-पदार्थों और प्रक्रियाओं को याद कर लेना, और वादविवाद करना मात्र ही किया जाता है, आत्मज्ञान के आधार पर आचरण करने के विषय की सर्वथा उपेक्षा की जाती है। परन्तु गीता मे सबकी एकता के आत्मज्ञान युक्त आचरण करने ही के विज्ञान सहित ज्ञान को यथार्थ ज्ञान कहा गया है (गीता अ० ७ श्लोक २, अ० ९ श्लोक १, अ० १३ श्लोक ७ से ११)।

१३ वर्ण व्यवस्था—का अर्थ आमतौर से, जन्मगत जाति-पाँति की ऊँच-नीचता के भेद और वश परम्परा के व्यवसायों तथा उनके अलग-अलग रीति-रिवाजो का कट्टरता से पालन करना समझा जाता है। परन्तु गीता की वर्ण-व्यवस्था समाज की सुव्यवस्था के लिए मनुष्यो के स्वाभाविक गुणो के आधार पर, अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म करने का कार्य विभाग है, जिससे समाज की सब प्रकार की आवश्यकताएँ पूरी होती रहे (गीता अ० ४ श्लोक १३, अ० १८ श्लोक ४१ से ४६), और सभी वर्णो के कर्म अपने-अपने स्थान मे श्रेष्ठ और एक समान आवश्यक माने गये है। कोई भी उत्तम या निकृष्ट नही समझा गया है। (गीता अ० ३ श्लोक ३५, अ० १८ श्लोक ४७)। कार्य विभाग गुणो की योग्यता के आधार पर होने तभी सुव्यवस्था रह सकती है। गुणो के विरुद्ध केवल जन्म के आधार पर वंश परम्परागत व्यवसाय करने से व्यवस्था बिगड जाती है और समाज मे उच्छृंखलता उत्पन्न हो जाती है, जिसको गीता मे वर्णसंकरता कहा है (गीता अ० २ श्लोक ३३, अ० ३ श्लोक २४)। गीता मे जन्मगत जाति भेद के लिए स्थान नही है। किन्तु सबको एक ही आत्मा-परमात्मा के अनेक रूप माने

गये हैं और सबके साथ समता का वर्ताव करने का विधान किया गया है (गीता अ० ५ श्लोक १८-१९, अ० ६ श्लोक २९ से ३२, अ० ९ श्लोक २९ से ३२, अ० १३ श्लोक २७-२८-३०)। जन्मजात जाति और कुल का अभिमान करने वालों को असुर कहा गया है (गीता अ० १६ श्लोक ४, १५)।

१४. समता—शब्द का अर्थ आमतौर से, भले-बुरे, श्रेष्ठ-दुष्ट, पवित्र-मलीन, गुड़-गोबर आदि सबको, उनके गुणों पर दृष्टि न रख कर, एक समान देखने और उनके साथ एकसा आचरण करने का किया जाता है, और उस आचरण में अनुकूलता-प्रतिकूलता की प्रतीति भी न होना माना जाता है। परन्तु गीता में समता के भाव को इस तरह की जड़ता नहीं माना गया है। गीता संसार की सब रचनाओं को एक ही सम आत्मा अथवा परमात्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति के अनेक बनाव बता कर, जिस बनाव में जैसे गुण हों, उसके साथ उसी प्रकार के यथा-योग्य व्यवहार करते हुए भी, सबकी मौलिक एकता और समता (sameness) का निरन्तर ध्यान रखने का कहती है। ऊपर के बनावों को कल्पित और मौलिक एकता और समता को वास्तविक समझकर, किसीके साथ राग-द्वेष नहीं रखना, किसीके साथ घृणा अथवा तिरस्कार का वर्ताव नहीं करना, सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करते हुए और अनुकूलता-प्रतिकूलता का अनुभव करते हुए भी अन्तःकरण के सन्तुलन को बनाये रखना सच्ची समता है। अच्छे के साथ अच्छा और बुरे के साथ बुरा यथायोग्य वर्ताव, उनकी मान्यताओं और गुणों के कारण स्वाभाविक होता है। समत्वयोगी अपनी तरफ से किसी के साथ भलाई या बुराई करने का भाव नहीं रखता। अच्छे लोगों के उद्धार और दुष्टों के नाश के लिए ही गीता बनी है (गीता अ० ४ श्लोक ८, ११ और अ० ९ श्लोक २९)।

१५. त्याग-वैराग्य-संन्यास—इन शब्दों का आमतौर से रूढ़ि अर्थ, गृहस्थ के कर्तव्य और संसार के सभी काम-धन्धों को छोड़कर, जनता से दूर जाकर, एकान्त में ज्ञान-चर्चा में लग जाने, अथवा योगाभ्यास करने, अथवा भगवदाराधना में लगे रहने, और निठल्ले हो जाने का किया जाता है। परन्तु गीता इस तरह के त्याग-वैराग्य या संन्यास को राजस, तामस त्याग बताती है और उसकी निन्दा करती है (गीता अ० १८ श्लोक ७-८, अ० ३ श्लोक ६, अ० ५ श्लोक ६)। गीता के अनुसार सच्चा त्याग या संन्यास, अपने व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थों को समष्टि अहंकार और समष्टि स्वार्थों में जोड़कर, अपने घर गृहस्थ के कर्तव्य कर्म और संसार के सब प्रकार के व्यवहार करने से होता है (गीता अ० १८ श्लोक ९ से १२, अ० ३ श्लोक ७ से ९, अ० ५ श्लोक २-३, अध्याय ६ श्लोक १-२)।

१६. मुक्ति अथवा मोक्ष—का अर्थ आमतौर से मरने के बाद शून्यता में

प्रवेश कर जाना; अथवा उस स्थिति मे लय हो जाना कि जिसमे कुछ भी अनुभव नही होता, अथवा कल्पित भगवान के सामने या उसके साथ निरन्तर उपस्थित रहना और उसके शरण मे पड़े रहना आदि माना जाता है। परन्तु गीता मरने के बाद की इस तरह की मुक्ति या मोक्ष नही मानती। गीता के अनुसार सब प्रकार के बन्धन और पराधीनताएँ मिटाकर, इसी जन्म मे पूर्ण स्वतन्त्रता का पक्का, अटल, अचल, अडिग निश्चय हो जाना ही मुक्ति अथवा मोक्ष है। सारे बन्धन और पराधीनताएँ द्वैत भाव से होते है। जब तक मन मे बाँधने वाले और बँधने वाले—दो का भेद बना रहता है तब तक एक-दूसरे की आधीनता, एक-दूसरे का भय, एक-दूसरे का सकोच, काम, क्रोध, शोक मोह, ममता, राग-द्वेष आदि बन्धन बने रहते है। शरीरो के सम्बन्ध और उपाधियो को सत्य मानने के कारण, इन विकारो के सस्कार अन्त करण मे जमे रहते हैं, जो स्थूल शरीर छूटने के बाद भी बने रहते हैं। इसलिए मरने के बाद बन्धनो और पराधीनता से छुटकारा होकर मुक्ति या मोक्ष का अनुभव नही हो सकता। परन्तु जब सब भेद मिटकर सबकी अपने साथ पूर्ण एकता का निश्चय हो जाता है, सब ससार अपना ही रूप प्रतीत होने लग जाता है, और उस निश्चय के आधार पर दूसरो के साथ अपनी आत्मीयता के अनुभव युक्त यथायोग्य साम्यभाव का व्यवहार किया जाता है, तब अपने आपसे भिन्न किसी बाधनेवाले अथवा आधीन करने वाले का अस्तित्व न रहने से इसी शरीर मे पूर्ण स्वतन्त्र अथवा मुक्त होने का अनुभव हो जाता है (गीता अ० ६ श्लोक २६ से ३२, अ० ५ श्लोक १६ से २६ और २८-२६, अ० १८ श्लोक १७)। मरने के बाद की मुक्ति या मोक्ष का जो विश्वास किया जाता है, उसमे अपने से भिन्न किसी अप्राप्त वस्तु या स्थिति के प्राप्त होने का भाव रहता है, परन्तु वास्तव मे अपने आप से भिन्न किसी दूसरी अप्राप्त वस्तु का अस्तित्व है ही नही; यह कोरा भ्रम है। यह भ्रम अथवा अज्ञान मिटा देना ही मुक्ति अथवा मोक्ष है, और यह अज्ञान इस मनुष्य शरीर मे ही सात्त्विक बुद्धि से विचार करने आदि साधनो से मिट सकता है। मरने के बाद या दूसरी किसी योनि मे इसको मिटाने की योग्यता और साधन नही होते (गीता अ० २ श्लोक ५०-५१, अ० २ श्लोक ५५ से ५७ और ७०-७१, अ० ४ श्लोक १६ से २४)। मरने के बाद किसी विशेष स्थिति मे प्रवेश करके अथवा लय होकर उसी मे पडे रहना, उससे निकलने की योग्यता ही नही रखना, तो एक प्रकार का स्थायी बन्धन होना है।

भेदवादी लोगों को गीता मे भगवान ने महा मूर्ख कहकर, उनकी बडी दुर्गति होना निश्चित बताया है (गीता अ० ७ श्लोक १३ से १५, और २४-२५, अ० ६

श्लोक ११-१२)।

गीता के शब्दों के प्रचलित संकुचित रूढ़ि अर्थों का इस तरह सहारा लेकर साम्प्रदायिक टीकाकारों ने उसका सच्चा ज्ञान-विज्ञान, समत्व-योग अथवा शाश्वत समाज विज्ञान जनता के हृदय से बिल्कुल ही लुप्त कर दिया। इसीलिए देश की गिरावट और दुर्दशा हुई। अब जनता में पुनः जागृति होने लगी है और गीता का सच्चा रहस्य समझने की उत्सुकता उत्पन्न हुई है। इसलिए इस विषय का साहित्य अधिकाधिक प्रकाशित हो रहा है। यह पुस्तक भी उसी साहित्य की पुष्टि और वृद्धि करने के उद्देश्य से लिखी गई है। आशा है जनता जनार्दन इसको स्वीकार करके मेरा उत्साह बढ़ावेंगे।

आभार-प्रदर्शन

मेरे मित्र डॉक्टर श्री छगनलाल मोहता और श्रीमती गंगादेवी साहित्य रत्न, पी. यू. सी. सहायक प्रधानाध्यापिका बीकानेर महिला मण्डल ने मुझे इस पुस्तक के लिखने और (proof) शोधन में बहुत सहायता और सहयोग दिया है जिसके लिए मैं उनका आभार प्रकट करना अपना कर्तव्य समझता हूं।

विशेष निवेदन

गीता के श्लोकों का हिन्दी अनुवाद जो इस ग्रन्थ में किया गया है, वह प्रत्येक श्लोक के नीचे, अलग-अलग शब्द, ब्रेकेट में काले टाइप से छापकर, उन शब्दों का हिन्दी अर्थ छापा गया है; जो पाठक-पाठिका श्लोकों का समूचा अर्थ लगातार एक साथ पढ़ना चाहें, वे कृपा करके ब्रेकेट में छपे हुए संस्कृत के शब्दों को छोड़कर पढ़ें।

२०, फिरोजशाह रोड,
नई दिल्ली।
दि० १५।८।१९६३ ई०
मि० भाद्रपद कृष्णा ११ बृहस्पतिवार
संवत् २०२० विक्रमी।

—रामगोपाल मोहता

गीता का समत्व-योग

अर्थात्

शाश्वत समाज विज्ञान

अथ प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ।। १ ।।

धर्मक्षेत्रे, कुरुक्षेत्रे, समवेताः, युयुत्सवः,
मामकाः, पाण्डवाः, च, एव, किम्, अकुर्वत, संजय ।। १ ।।

धृतराष्ट्र ने पूछा—

(संजय) हे संजय ! (धर्मक्षेत्रे) धर्मक्षेत्र (कुरुक्षेत्रे) कुरुक्षेत्र में (समवेताः) इकट्ठे हुए (युयुत्सवः) युद्ध की इच्छा वाले (मामकाः) मेरे (च एव) और (पाण्डवाः) पाण्डु के पुत्रों ने (किम्) क्या (अकुर्वत) किया ?

संजय को व्यास भगवान् के प्रसाद से मनोयोग की दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई थी ; उसको हस्तिनापुर में बैठे-बैठे भी कुरुक्षेत्र के मैदान में होते हुए महायुद्ध के सब वृत्तान्त ज्यों-के-त्यों प्रत्यक्ष रूप में प्रतीत होते थे, जिन्हें वह राजा धृतराष्ट्र को सुनाता था । योग की अष्ट सिद्धियों में से यह भी एक सिद्धि है ।

कुरुक्षेत्र को 'धर्मक्षेत्र' का विशेषण इसलिए दिया गया है कि उस मैदान में समय-समय पर बड़े-बड़े वीर योद्धा लोग धर्मयुद्धों में वीरतापूर्वक लड़कर अपना क्षात्र-धर्म पालन करते थे ।

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ।। २ ।।

दृष्ट्वा, तु, पाण्डवानीकम्, व्यूढम्, दुर्योधनः, तदा,
आचार्यम्, उपसंगम्य, राजा, वचनम्, अब्रवीत् ।। २ ।।

संजय बोला कि—

(तदा) उस समय (राजा) राजा (दुर्योधनः) दुर्योधन ने (व्यूढम्) व्यूह रचना युक्त (पाण्डवानीकम्) पाण्डवों की सेना को (दृष्ट्वा) देखकर (तु) और (आचार्यम्) द्रोणाचार्य के (उपसंगम्य) पास जाकर (वचनम्) यह वचन (अब्रवीत्) कहा।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

पश्य, एताम्, पाण्डुपुत्राणाम्, आचार्य, महतीम्, चमूम्,
व्यूढाम्, द्रुपदपुत्रेण, तव, शिष्येण, धीमता ॥ ३ ॥

(आचार्य) हे आचार्य (तव) आपके (धीमता) बुद्धिमान् (शिष्येण) शिष्य (द्रुपद पुत्रेण) द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा (व्यूढाम्) व्यूहाकार खड़ी की हुई (पाण्डु-पुत्राणाम्) पाण्डु पुत्रों की (एताम्) इस (महतीम्) बड़ी भारी (चमूम्) सेना को (पश्य) देखिये।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुन समा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

अत्र, शूराः, महेष्वासाः, भीमार्जुन, समाः, युधि,
युयुधान, विराट, च, द्रुपद, च, महारथ ॥ ४ ॥

(अत्र) इस (युधि) युद्ध में (महेष्वासा) बड़े-बड़े धनुषधारी (भीमार्जुन) भीम और अर्जुन (समाः) के समान (शूराः) बहुत-से शूरवीर, (युयुधान) सात्यकि (च) और (विराट) विराट (च) तथा (महारथ) महारथी (द्रुपद) राजा द्रुपद।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

धृष्टकेतु, चेकितानः, काशिराजः, च, वीर्यवान्,
पुरुजित्, कुन्तिभोजः, च, शैब्य, च, नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

(च) और (धृष्टकेतु) धृष्टकेतु, (चेकितान) चेकितान (च) तथा (वीर्यवान्) बलवान (काशिराज) काशिराज, (पुरुजित्) पुरुजित्, (कुन्ति-भोजः) कुन्तिभोज (च) और (नरपुङ्गव) नर श्रेष्ठ (शैब्यः) शैब्य।

युधामन्युश्च विक्रान्तः उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

युधामन्युः, च, विक्रान्तः, उत्तमौजाः, च, वीर्यवान्,
सौभद्रः, द्रौपदेयाः, च, सर्वे, एव, महारथाः ॥ ६ ॥

(च) और (विक्रान्तः) पराक्रमी (युधामन्युः) युधामन्यु (च) तथा (वीर्यवान्) बलवान् (उत्तमौजाः) उत्तमौजा (सौभद्रः) सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु (च) और (द्रौपदेयाः) द्रौपदी के पाँचों पुत्र, ये (सर्वे) सब (एव) ही (महारथाः) महारथी हैं।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

अस्माकम्, तु, विशिष्टाः, ये, तान्, निबोध, द्विजोत्तम,
नायकाः, मम, सैन्यस्य, संज्ञार्थम्, तान्, ब्रवीमि, ते ॥ ७ ॥

(द्विजोत्तम) हे ब्राह्मण श्रेष्ठ (अस्माकम्) हमारे पक्ष में (तु) भी सेना के (ये) जो-जो (विशिष्टाः) प्रधान हैं (तान्) उनको आप (निबोध) सुन लीजिए (ते) आपके (संज्ञार्थम्) जानने के लिए (मम) मेरी (सैन्यस्य) सेना के जो (नायकाः) सेनापति हैं (तान्) उनको (ब्रवीमि) कहता हूँ।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

भवान्, भीष्मः, च, कर्णः, च, कृपः, च, समितिंजयः,
अश्वत्थामा, विकर्णः, च, सौमदत्तिः, तथा, एव, च ॥ ८ ॥

(भवान्) आप (च) और (भीष्म) पितामह भीष्म (च) और (कर्णः) कर्ण (च) तथा (समितिंजय) संग्राम विजयी (कृपः) कृपाचार्य (च) तथा (तथा) वैसे (एव) ही (अश्वत्थामा) अश्वत्थामा, (विकर्णः) विकर्ण (च) और (सौमदत्तिः) सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्र प्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अन्ये, च, बहवः, शूराः, मदर्थे, त्यक्तजीविताः,
नानाशस्त्रप्रहरणाः, सर्वे, युद्ध, विशारदाः ॥ ९ ॥

(अन्ये) और (च) भी (बहवः) बहुत से (शूराः) शूरवीर (नानाशस्त्र प्रहरणाः) अनेक प्रकार के शस्त्र-अस्त्रों से सुसज्जित (मदर्थे) मेरे लिए (त्यक्त जीविताः) जीवन अर्पण करने वाले (सर्वे) सबके सब (युद्ध विशारदाः) युद्ध में कुशल हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

अपर्याप्तम्, तत्, अस्माकम्, बलम्, भीष्माभिरक्षितम्,
पर्याप्तम्, तु, इदम्, एतेषाम्, बलम्, भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

(भीष्माभिरक्षितम्) भीष्मपितामह द्वारा सुरक्षित (अस्माकम्) हमारी (तत्) वह (बलम्) सेना (अपर्याप्तम्) अपरिमित है (तु) और (भीमाभिरक्षितम्) भीम द्वारा सुरक्षित (एतेषाम्) इन लोगों की (इदम्) यह (बलम्) सेना (पर्याप्तम्) परिमित है।

अयनेषु च सर्वेषु यथा भागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

अयनेषु, च, सर्वेषु, यथाभागम्, अवस्थिताः,
भीष्मम्, एव, अभिरक्षन्तु, भवन्तः, सर्वे, एव, हि ॥११॥

(च) अतः (सर्वेषु) सब (अयनेषु) मोर्चों पर (भवन्तः) आप लोग (सर्वे) सब के सब (एव) अवश्य (हि) ही (यथा) अपनी-अपनी (भागम्) जगह (अवस्थिता) स्थित रहते हुए (भीष्मम्) भीष्म पितामह की (एव) ही (अभिरक्षन्तु) रक्षा करें।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

तस्य, संजनयन्, हर्षम्, कुरुवृद्धः, पितामहः,
सिंहनादम्, विनद्य, उच्चैः, शङ्खम्, दध्मौ, प्रतापवान् ॥१२॥

(कुरुवृद्ध) कौरवों में वृद्ध (प्रतापवान्) बड़े प्रतापी (पितामह) पितामह भीष्म ने (तस्य) उस दुर्योधन के हृदय में (हर्षम्) हर्ष (संजनयन्) उत्पन्न करते हुए (उच्चैः) उच्च स्वर से (सिंहनादम्) सिंह की गर्ज के समान (विनद्य) गर्ज कर (शङ्खम्) शंख (दध्मौ) बजाया।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

ततः, शङ्खाः, च, भेर्यः, च, पणवानकगोमुखाः,
सहसा, एव, अभ्यहन्यन्त, सः, शब्दः, तुमुलः, अभवत् ॥१३॥

(ततः) उसके उपरान्त (शङ्खाः) शंख (च) और (भेर्यः) नगारे (च) तथा (पणवानकगोमुखाः) पणव, आनक, गोमुख आदि फौजी बाजे (सहसा) एक साथ

(एव) ही (अभ्यहन्यन्त) बजे उनका (सः) वह (शब्दः) शब्द (तुमुलः) बड़ा भयंकर (अभवत्) हुआ।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

ततः, श्वेतैः, हयैः, युक्ते, महति, स्यन्दने, स्थितौ,
माधवः, पाण्डवः, च, एव, दिव्यौ, शङ्खौ, प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

(ततः) इसके उपरान्त (श्वेतैः) सफेद (हयैः) घोड़ों से (युक्ते) युक्त, (महति) बड़े (स्यन्दने) रथ में (स्थितौ) बैठे हुए (माधवः) श्रीकृष्ण महाराज (च) और (पाण्डवः) अर्जुन ने (एव) भी (दिव्यौ) अपूर्व नाद वाले (शङ्खौ) शंख (प्रदध्मतुः) बजाये।

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

पाञ्चजन्यम्, हृषीकेशः, देवदत्तम्, धनंजयः,
पौण्ड्रम्, दध्मौ, महाशङ्खम्, भीमकर्मा, वृकोदरः ॥ १५ ॥

(हृषीकेशः) श्रीकृष्ण महाराज ने (पाञ्चजन्यम्) पाञ्चजन्य नामक शङ्ख, (धनंजयः) अर्जुन ने (देवदत्तम्) देवदत्त नामक शङ्ख, (भीमकर्मा) भयानक कर्म वाले (वृकोदरः) भीमसेन ने (पौण्ड्रम्) पौण्ड्र नामक (महाशंखम्) महाशङ्ख (दध्मौ) बजाया।

अनन्तविजयं राजा कुन्तिपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

अनन्तविजयम्, राजा, कुन्तिपुत्रः, युधिष्ठिरः,
नकुलः, सहदेवः, च, सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

(कुन्तिपुत्रः) कुन्तिपुत्र (राजा) राजा (युधिष्ठिरः) युधिष्ठिर ने (अनन्त विजयम्) अनन्तविजय नामक, (नकुलः) नकुल (च) तथा (सहदेवः) सहदेव ने (सुघोषमणिपुष्पकौ) सुघोष और मणिपुष्पक नामवाले शंख बजाये।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥

काश्यः, च, परमेष्वासः, शिखण्डी, च, महारथः,
धृष्टद्युम्नः, विराटः, च, सात्यकिः, च, अपराजितः ॥ १७ ॥

(परमेष्वासः) बड़े धनुष वाले (काश्यः) काशिराज (च) और (महा-

रथ·) महारथी (शिखण्डी) शिखण्डी (च) और (धृष्टद्युम्नः) धृष्टद्युम्न (च) तथा (विराट) राजा विराट (च) और (अपराजित·) अजेय (सात्यकिः) सात्यकि,

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ।। १८ ।।

द्रुपद, द्रौपदेया·, च, सर्वश, पृथिवीपते,
सौभद्र·, च, महाबाहु., शखान्, दध्मु, पृथक्, पृथक् ।। १८ ।।

(द्रुपद) राजा द्रुपद (च) और (द्रौपदेया) द्रौपदी के पांचो पुत्र (च) और (महाबाहु) बड़ी भुजावाला (सौभद्र) सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु, (सर्वशः) इन सबने, (पृथिवीपते) हे राजन् (पृथक्) अलग (पृथक्) अलग (शङ्खान) शङ्ख (दध्मु) बजाये।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ।। १९ ।।

स, घोष., धार्तराष्ट्राणाम्, हृदयानि, व्यदारयत्,
नभ·, च, पृथिवीम्, च, एव, तुमुलः व्यनुनादयन् ।। १९ ।।

(च) और (स) उस (तुमुलः) भयानक (घोष.) शब्द ने (नभ) आकाश (च) और (पृथिवीम्) पृथ्वी को (एव) भी (व्यनुनादयन्) शब्दायमान करते हुए, अर्थात् गुंजाते हुए (धार्तराष्ट्राणाम्) धृतराष्ट्र के पुत्रों के (हृदयानि) हृदय (व्यदारयत्) विदीर्ण कर दिये।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ।। २० ।।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।। २१ ।।

अथ, व्यवस्थितान्, दृष्ट्वा, धार्तराष्ट्रान्, कपिध्वजः,
प्रवृत्ते, शस्त्रसम्पाते, धनु·, उद्यम्य, पाण्डव· ।। २० ।।
हृषिकेशम्, तदा, वाक्यम्, इदम्, आह, महीपते,
सेनयो, उभयो·, मध्ये, रथम्, स्थापय, मे, अच्युत ।। २१ ।।

(महीपते) हे राजन् (अथ) उसके उपरान्त (कपिध्वज.) कपिध्वज (पाण्डवः) अर्जुन ने (व्यवस्थितान्) व्यवस्था से खड़े हुए (धार्तराष्ट्रान्)

धृतराष्ट्र के पुत्रों को (दृष्ट्वा) देखकर (तदा) उस (शस्त्रसम्पाते) शस्त्र चलने की तैयारी के समय (धनुः) धनुष (उद्यम्य) उठाकर (हृषिकेशम्) हृषिकेश श्रीकृष्ण महाराज से (इदम्) यह (वाक्यम्) वचन (आह) कहा, (अच्युत) हे अच्युत, (मे) मेरे (रथम्) रथ को (उभयोः) दोनों (सेनयोः) सेनाओं के (मध्ये) बीच में (स्थापय) खड़ा करिये।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रण समुद्यमे ॥ २२ ॥

यावत्, एतान्, निरीक्षे, अहम्, योद्धुकामान्, अवस्थितान्,
कैः, मया, सह, योद्धव्यम्,अस्मिन्, रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

(यावत्) जब तक (अहम्) मैं (एतान्) इन (अवस्थितान्) उपस्थित हुए (योद्धुकामान्) युद्ध की इच्छा वालों को (निरीक्षे) अच्छी प्रकार देख लूँ कि (अस्मिन्) इस (रणसमुद्यमे) युद्ध में (मया) मुझे (कैः) किन-किन के (सह) साथ (योद्धव्यम्) युद्ध करना है।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

योत्स्यमानान्, अवेक्षे, अहम्, ये, एते, अत्र, समागताः,
धार्तराष्ट्रस्य, दुर्बुद्धेः, युद्धे, प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

(दुर्बुद्धे) दुर्बुद्धि (धार्तराष्ट्रस्य) दुर्योधन का, (युद्धे प्रियचिकीर्षवः) युद्ध में प्रिय चाहने वाले (ये) जो जो (एते) ये राजा लोग (अत्र) यहाँ (समागताः) आये हैं, (योत्स्यमानान्) युद्ध करने वालों को (अहम्) मैं (अवेक्षे) देख लूँ।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

एवम्, उक्तः, हृषीकेशः, गुडाकेशेन, भारत,
सेनयोः, उभयोः, मध्ये, स्थापयित्वा, रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः, सर्वेषाम्, च, महीक्षिताम्,
उवाच, पार्थ, पश्य, एतान्, समवेतान्, कुरून्, इति ॥ २५ ॥

संजय बोला—

(भारत) हे धृतराष्ट्र (गुडाकेशेन) अर्जुन द्वारा (एवम्) इस प्रकार (उक्तः) कहे जाने पर (हृषीकेशः) श्रीकृष्ण ने (उभयो) दोनों (सेनयोः) सेनाओं के (मध्ये) बीच में (भीष्मद्रोणप्रमुखतः) भीष्म और द्रोणाचार्य आदि (च) और (सर्वेषाम्) सम्पूर्ण (महीक्षिताम्) राजाओं के सामने (रथोत्तमम्) उत्तम रथ को (स्थापयित्वा) खड़ा करके (इति) ऐसे (उवाच) कहा कि (पार्थ) हे अर्जुन (एतान्) इन (समवेतान्) इकट्ठे हुए (कुरून्) कौरवों को (पश्य) देख।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

तत्र, अपश्यत्, स्थितान्, पार्थः, पितॄन्, अथ, पितामहान्,
आचार्यान्, मातुलान्, भ्रातॄन्, पुत्रान्, पौत्रान्, सखीन् तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्, सुहृदः, च, एव, सेनयोः, उभयोः, अपि।

(अथ) उसके उपरान्त (पार्थ) पृथा पुत्र अर्जुन ने (तत्र) उन (उभयोः) दोनों (अपि) ही (सेनयोः) सेनाओं में (स्थितान्) स्थित हुए (पितृन्) पिता के भाइयों को, (पितामहान्) पितामहों को, (आचार्यान्) आचार्यों को, (मातुलान्) मामों को, (भ्रातृन्) भाइयों को, (पुत्रान्) पुत्रों को, (पौत्रान्) पौत्रों को, (तथा) तथा (सखीन्) मित्रों को, (श्वशुरान्) ससुरों को (च) और (सुहृद) सुहृदों को (एव) भी (अपश्यत्) देखा।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

तान्, समीक्ष्य, सः, कौन्तेय, सर्वान्, बन्धून्, अवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया, परया, आविष्टः, विषीदन्, इदम्, अब्रवीत्,

(तान्) उन (अवस्थितान्) खड़े हुए (सर्वान्) सम्पूर्ण (बन्धून्) बन्धुओं को (समीक्ष्य) देखकर (विषीदन्) शोक करता हुआ (सः) वह (परया) अत्यन्त (कृपया) करुणा से (आविष्ट) युक्त हुआ (कौन्तेय) कुन्ती पुत्र अर्जुन (इदम्) यह (अब्रवीत्) बोला।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।। २९ ।।

दृष्ट्वा, इमम्, स्वजनम्, कृष्ण, युयुत्सुम्, समुपस्थितम् ।। २८ ।।
सीदन्ति, मम, गात्राणि, मुखम्, च, परिशुष्यति,
वेपथुः, च, शरीरे, मे, रोमहर्षः, च, जायते ।। २९ ।।

अर्जुन बोला—

(कृष्ण) हे कृष्ण ! (युयुत्सुम्) युद्ध की इच्छा वाले (समुपस्थितम्) खड़े हुए (इमम्) इस (स्वजनम्) स्वजन समुदाय को (दृष्ट्वा) देखकर (मम) मेरे (गात्राणि) अंग (सीदन्ति) शिथिल हुए जाते हैं (च) और (मुखम्) मुख (परिशुष्यति) सूखा जाता है (च) और (मे) मेरे (शरीरे) शरीर में (वेपथुः) कम्प (च) और (रोमहर्ष) रोमाञ्च (जायते) होता है।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।। ३० ।।

गाण्डीवम्, स्रंसते, हस्तात्, त्वक्, च, एव, परिदह्यते,
न, च, शक्नोमि, अवस्थातुम्, भ्रमति, इव, च, मे, मनः ।। ३० ।।

(हस्तात्) हाथ से (गाण्डीवम्) गाण्डीव धनुष (स्रंसते) फिसल रहा है (च) और (त्वक्) त्वचा (एव) भी (परिदह्यते) बहुत जलती है (च) तथा (मे) मेरा (मनः) मन (भ्रमति इव) भ्रमित सा हो रहा है। मैं (अवस्थातुम्) खड़ा रहने को (च) भी (न शक्नोमि) समर्थ नहीं हूँ।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।। ३१ ।।

निमित्तानि, च, पश्यामि, विपरीतानि, केशव,
न, च, श्रेयः, अनुपश्यामि, हत्वा, स्वजनम्, आहवे ।। ३१ ।।

(च) और (केशव) हे केशव, मैं (निमित्तानि) सभी लक्षणों को (विपरीतानि) विपरीत (पश्यामि) देखता हूँ, तथा (आहवे) युद्ध में (स्वजनम्) अपने स्वजन बन्धुओं को (हत्वा) मार कर (श्रेयः) कोई भलाई (च) भी (न) नहीं (अनुपश्यामि) देखता हूँ।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा ।। ३२ ।।

न, कांक्षे, विजयम्, कृष्ण, न, च, राज्यम्, सुखानि, च,
किम्, नः, राज्येन, गोविन्द, किम् भोगैः, जीवितेन, वा ॥ ३२ ॥

(कृष्ण) हे कृष्ण ! मैं (विजयम्) विजय को (न) नहीं (कांक्षे) चाहता (च) और (न) न (राज्यम्) राज्य को ही, (गोविन्द) हे गोविन्द (नः) हमें (राज्येन) राज्य से (किम्) क्या, और (भोगैः) भोगों से (वा) अथवा (जीवितेन) जीवन से (किम्) क्या प्रयोजन है ?

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥

येषाम्, अर्थे, कांक्षितम्, नः, राज्यम्, भोगाः, सुखानि, च,
ते, इमे, अवस्थिताः, युद्धे, प्राणान्, त्यक्त्वा, धनानि, च ॥ ३३ ॥

(नः) हम (येषाम्) जिनके (अर्थे) लिए (राज्यम्) राज्य, (भोगाः) भोग (च) और (सुखानि) सुखादिक (कांक्षितम्) चाहते हैं (ते) वे ही (इमे) ये सब, (धनानि) धन (च) और (प्राणान्) जीवन की आशा को (त्यक्त्वा) त्यागकर (युद्धे) युद्ध में (अवस्थिताः) खड़े हैं ।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥

आचार्याः, पितरः, पुत्राः, तथा, एव, च, पितामहाः,
मातुलाः, श्वशुराः, पौत्राः, श्यालाः, सम्बन्धिनः, तथा ॥ ३४ ॥

(आचार्याः) गुरुजन, (पितरः) ताऊ, चाचे, (पुत्राः) लड़के (च) और (तथा) वैसे (एव) ही (पितामहाः) पितामह, (मातुलाः) मामा, (श्वशुराः) ससुर, (पौत्राः) पोते, (श्यालाः) साले (तथा) तथा (सम्बन्धिनः) सम्बन्धी लोग ।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

एतान्, न, हन्तुम्, इच्छामि, घ्नतः, अपि, मधुसूदन,
अपि, त्रैलोक्यराज्यस्य, हेतोः, किम्, नु, महीकृते ॥ ३५ ॥

(मधुसूदन) हे मधुसूदन ! ये लोग मुझे (घ्नतः) मार दें, तो (अपि) भी मैं (त्रैलोक्य राज्यस्य) तीनों लोकों के राज्य के (हेतोः) लिए (अपि) भी (एतान्) इनको (हन्तुम्) मारना (न) नहीं (इच्छामि) चाहता, फिर (महीकृते) पृथ्वी के लिए तो (नु किम्) कहना ही क्या है ?

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

निहत्य, धार्तराष्ट्रान्, नः, का, प्रीतिः, स्यात्, जनार्दन,
पापम् एव, आश्रयेत्, अस्मान्, हत्वा, एतान्, आततायिनः ॥ ३६ ॥

(जनार्दन) हे जनार्दन ! (धार्तराष्ट्रान्) धृतराष्ट्र के पुत्रों को (निहत्य) मारने से (नः) हमारी (का) क्या (प्रीतिः) भलाई (स्यात्) होगी (एतानि) इन (आततायिनः) आततायियों को (हत्वा) मारने से (अस्मान्) हमें तो (पापम्) पाप (एव) ही (आश्रयेत्) लगेगा ।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

तस्मात्, न, अर्हाः, वयम्, हन्तुम्, धार्तराष्ट्रान्, स्वबान्धवान्,
स्वजनम्, हि, कथम्, हत्वा, सुखिनः, स्याम, माधव ॥ ३७ ॥

(तस्मात्) इसलिए (माधव) हे माधव ! (स्वबान्धवान्) अपने बान्धव (धार्तराष्ट्रान्) धृतराष्ट्र के पुत्रों को (हन्तुम्) मारना (वयम्) हमें (न अर्हाः) उचित नहीं है (हि) क्योंकि (स्वजनम्) अपने कुटुम्बी जनों को (हत्वा) मार कर, हम (कथम्) कैसे (सुखिनः) सुखी (स्याम) होंगे ।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥

यद्यपि, एते, न, पश्यन्ति, लोभोपहतचेतसः,
कुलक्षयकृतम्, दोषम्, मित्रद्रोहे, च, पातकम् ॥ ३८ ॥

(यद्यपि) यद्यपि (लोभोपहत चेतसः) लोभ से भ्रष्ट हुए चित्त वाले (एते) ये लोग (कुलक्षयकृतम्) कुल के नाश से होने वाले (दोषम्) दोष को (च) और (मित्रद्रोहे) मित्रों के साथ द्रोह करने के (पातकम्) पाप को (न) नहीं (पश्यन्ति) देखते हैं ।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

कथम्, न, ज्ञेयम्, अस्माभिः, पापात्, अस्मात्, निवर्तितुम्,
कुलक्षयकृतम्, दोषम्, प्रपश्यद्भिः, जनार्दन ॥ ३९ ॥

(जनार्दन) परन्तु, हे जनार्दन ! (कुलक्षयकृतम्) कुल के नाश करने से होने

वाले (दोषम्) दोष को (प्रपश्यद्भिः) जानने वाले (अस्माभिः) हम लोगों को (अस्मात्) इस (पापात्) पाप से (निवर्तितुम्) बचने के लिए (कथम्) क्यों (न) नही (ज्ञेयम्) विचार करना चाहिए ?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

कुलक्षये, प्रणश्यन्ति, कुलधर्माः, सनातनाः,
धर्मे, नष्टे, कुलम्, कृत्स्नम्, अधर्मः, अभिभवति, उत ॥ ४० ॥

(कुलक्षये) क्योंकि, कुल के नाश होने से (सनातनाः) सनातन (कुलधर्माः) कुलधर्म (प्रणश्यन्ति) नष्ट हो जाते हैं, (धर्मे) धर्म के (नष्टे) नष्ट होने से (कृत्स्नम्) सम्पूर्ण (कुलम्) कुल को (अधर्मः) अधर्म (उत) ही (अभिभवति) बहुत दबा लेता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

अधर्माभिभवात्, कृष्ण, प्रदुष्यन्ति, कुलस्त्रियः,
स्त्रीषु, दुष्टासु, वार्ष्णेय, जायते, वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

(कृष्ण) हे कृष्ण (अधर्माभिभवात्) अधर्म के बढ जाने से (कुलस्त्रियः) कुल की स्त्रियाँ (प्रदुष्यन्ति) दूषित हो जाती हैं, और (वार्ष्णेय) हे वार्ष्णेय ! (स्त्रीषु) स्त्रियों के दूषित होने पर (वर्णसंकरः) वर्णसंकरः (जायते) उत्पन्न होते हैं।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

संकरः, नरकाय, एव, कुलघ्नानाम्, कुलस्य, च,
पतन्ति, पितरः, हि, एषाम्, लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

(संकरः) वर्णसंकर (कुलघ्नानाम्) कुलघातियों को (च) और (कुलस्य), कुल को (नरकाय) नरक में ले जाने के लिए (एव) ही होते हैं। (लुप्तपिण्डोदकक्रियाः) पिण्ड और जल की क्रिया, पितृ कर्म लुप्त होने से (एषाम्) इनके (पितरः) पितर लोग (हि) भी नरक में (पतन्ति) गिर जाते हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

दोषै, एतैः, कुलघ्नानाम्, वर्णसंकरकारकैः,
उत्साद्यन्ते, जातिधर्माः, कुलधर्माः, च, शाश्वताः ।। ४३ ।।

(कुलघ्नानाम्) कुलघातियों के (वर्णसंकरकारकैः) वर्णसंकर उत्पन्न करने वाले (एतैः) इन (दोषैः) दोषों से (शाश्वताः) सनातन (कुलधर्माः) कुल धर्म (च) और (जातिधर्माः) जाति धर्म (उत्साद्यन्ते) नष्ट हो जाते हैं।

संगति—आर्य संस्कृति में प्राचीनकाल ही से वंश-शुद्धि धर्म का प्रधान अंग माना जाता रहा है, क्योंकि शुद्ध रक्त के लोग अपने धर्म (कर्तव्य कर्म) जैसे ठीक तौर से पाल सकते हैं, वैसे मिश्रित रक्त के लोग नहीं पाल सकते। इसलिए एक वर्ण के पुरुष का दूसरे वर्ण की स्त्री के साथ सहवास से उत्पन्न होने वाले सन्तान को वर्णसंकर माना जाता है, जो धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक आदि सभी प्रकार के अधिकारों से प्रायः वंचित रहते हैं।

यद्यपि उस समय विधवा स्त्री का उसके मृत-पति के सपिण्ड, सगोत्र व सजातीय पुरुष के साथ नियोग करना श्रेष्ठ धर्म माना जाता था (मनुस्मृति अ ९, श्लोक ५९) और ऐसी सन्तान उसके मृत-पति की शुद्ध सन्तान समझी जाती थी; स्वयं कौरव-पाण्डव भी नियोग ही की सन्तान थे, परन्तु अर्जुन को तो भय इस बात का था कि युद्ध में जब सारा ही कुल नष्ट हो जायगा तब कुल की विधवा स्त्रियों से नियोग करने वाला सपिण्ड, सगोत्र व सजातीय पुरुष ही नहीं बचेगा—ऐसी दशा में वे विवश होकर हीन वर्ण के पुरुषों के संयोग से वर्णसंकर सन्तान उत्पन करेंगी; जो न तो जाति की मर्यादाओं का यथावत पालन कर सकेंगी और न उनका दिया हुआ पिण्डोदक ही पितरों को मिलेगा। परिणाम-स्वरूप जाति धर्म तथा कुल धर्म सब नष्ट हो जाएँगे और सारे पितर नरक में पड़ेंगे। उपर्युक्त श्लोकों में 'वर्णसंकर' शब्द इसी प्रयोजन से प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।। ४४ ।।

उत्सन्नकुलधर्माणाम्, मनुष्याणाम्, जनार्दन,
नरके, अनियतम्, वासः, भवति, इति, अनुशुश्रुम ।। ४४ ।।

(जनार्दन) हे जनार्दन ! (उत्सन्नकुलधर्माणाम्) नष्ट हुए कुल धर्म वाले (मनुष्याणाम्) मनुष्यों का (अनियतम्) अनन्त काल तक (नरके) नरक में (वासः) वास (भवति) होता है (इति) ऐसा (अनुशुश्रुम) सुना है।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।। ४५ ।।

अहो, बत, महत्पापम्, कर्तुम्, व्यवसिताः, वयम्,
यत्, राज्यसुखलोभेन, हन्तुम्, स्वजनम्, उद्यताः ॥ ४५ ॥

(अहो) हाय! (बत) बड़ा शोक है कि (वयम्) हम लोग (महत्पापम्) महान् पाप (कर्तुम्) करने को (व्यवसिता) तैयार हुए हैं (यत्) जो कि (राज्यसुखलोभेन) राज्य और सुख के लोभ से (स्वजनम्) अपने कुटुम्बी जनों को (हन्तुम्) मारने के लिए (उद्यता) उद्यत हुए है।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

यदि, माम्, अप्रतीकारम्, अशस्त्रम् शस्त्रपाणय',
धार्तराष्ट्रा, रणे, हन्यु, तत्, मे, क्षेमतरम्, भवेत् ॥ ४६ ॥

(यदि) यदि (माम्) मुझ (अशस्त्रम्) शस्त्र रहित (अप्रतिकारम्) सामना न करने वाले को (शस्त्रपाणय) शस्त्रधारी (धार्तराष्ट्रा) धृतराष्ट्र के पुत्र (रणे) रण में (हन्यु) मार दें, तो भी (तत्) वह (मे) मेरे लिए (क्षेमतरम्) अधिक अच्छा (भवेत्) होगा।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

एवम्, उक्त्वा, अर्जुन., संख्ये, रथोपस्थे, उपाविशत्,
विसृज्य, सशरम्, चापम्, शोक, संविग्नमानस. ॥ ४७ ॥

(संख्ये) रणभूमि में (शोकसंविग्नमानस) शोक, से उद्विग्न मन वाला (अर्जुन) अर्जुन (एवम्) इस प्रकार (उक्त्वा) कहकर (सशरम्) बाण सहित (चापम्) धनुष को (विसृज्य) छोड़कर (रथोपस्थे) रथ के पिछले भाग में (उपाविशत्) बैठ गया।

संगति—अर्जुन का विषाद वैसा ही है जैसाकि साधारणतया आत्म-ज्ञान-विहीन आधिभौतिक और आधिदैविक विचारों के लोगों को, इस तरह के विकट अवसरों पर हुआ करता है। उन लोगों की बुद्धि या तो प्रत्यक्ष के सुख-दुःख, हानि-लाभ, कीर्ति अकीर्ति आदि के विचारों तक ही परिमित रहती है; अथवा शास्त्रों में कहे हुए धर्माधर्म के अदृष्ट फल और स्वर्ग-नरक आदि के परोक्ष सुख-दुःखों के विचार तक पहुँचकर रह जाती है। इससे अधिक सूक्ष्म अर्थात् आध्यात्मिक विचार तक उनकी बुद्धि नहीं पहुँचती। इसीलिए उनके चित्त का विषाद नहीं मिटता। फलत. वे बहुत दुखी होते हैं और विषाद ही में अपना जीवन नष्ट कर

देते हैं। भगवान कृष्ण ने अर्जुन के उपर्युक्त विषाद की निन्दा करके उसे आधिभौतिक और आधिदैविक विचारों से ऊपर उठकर आत्म-ज्ञान युक्त अपने कर्तव्य पालन करने का उपदेश आगे दिया है। इसलिए अर्जुन के उपर्युक्त वाक्य व्यावहारिक वेदान्त की दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखते और धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक आदि के विचार तथ्यहीन हो जाते हैं। आगे यही बात स्पष्ट करने के लिए इस प्रथम अध्याय में पूर्व-पक्ष उठाया गया है।

॥ पहला अध्याय समाप्त ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

तम्, तथा, कृपया, आविष्टम्, अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्,
विषीदन्तम्, इदम्, वाक्यम्, उवाच, मधुसूदनः ॥१॥

संजय बोला कि—

(तथा) इस तरह (कृपया) करुणा से (आविष्टम्) भरे हुए (और) (अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्) आँसुओं से पूर्ण व्याकुल नेत्र वाले (विषीदन्तम्) शोकयुक्त (तम्) उस अर्जुन के प्रति (मधुसूदन) भगवान मधुसूदन ने (इदम्) यह (वाक्यम्) वचन (उवाच) कहा।

श्री भगवान् उवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

कुतः, त्वा, कश्मलम्, इदम्, विषमे, समुपस्थितम्,
अनार्यजुष्टम्, अस्वर्ग्यम्, अकीर्तिकरम्, अर्जुन ॥ २ ॥

भगवान बोले कि—

(अर्जुन) हे अर्जुन (त्वा) तुमको, इस (विषमे) विषम परिस्थिति मे (इदम्) यह (कश्मलम्) मोह (कुतः) कहाँ से (समुपस्थितम्) आ गया (अनार्यजुष्टम्) जो आर्य लोगो के योग्य नही है (अस्वर्ग्यम्, अकीर्तिकरम्) सुख तथा यश का नाशक है।

क्लैब्यं मा स्मगमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

क्लैब्यम्, मा, स्म, गमः, पार्थ, न, एतत्, त्वयि, उपपद्यते,
क्षुद्रम्, हृदयदौर्बल्यम्, त्यक्त्वा, उत्तिष्ठ, परंतप ॥ ३ ॥

(पार्थ) हे अर्जुन (क्लैब्यम्) नपुंसकता को (मास्मगमः) मत प्राप्त हो (एतत्) यह (त्वयि) तेरे (न उपपद्यते) योग्य नहीं है (परतप) हे परंतप ! (क्षुद्रम् हृदय दौर्बल्यम्) हृदय की तुच्छ दुर्बलता को (त्यक्त्वा) त्यागकर (उत्तिष्ठ) खड़ा हो।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

कथम्, भीष्मम्, अहम्, संख्ये, द्रोणम्, च, मधुसूदन,
इषुभिः, प्रति, योत्स्यामि, पूजार्हौ, अरिसूदन ॥ ४ ॥

अर्जुन बोला कि—

(मधुसूदन) हे मधुसूदन ! (अरिसूदन) हे अरिसूदन ! (अहम्) मैं (संख्ये) रणभूमि मे (पूजार्हौ) पूजनीय (भीष्मम्) भीष्मपितामह (च) और (द्रोणम्) द्रोणाचार्य के (प्रति) प्रति (कथम्) किस प्रकार (इषुभिः) बाणों से (योत्स्यामि) युद्ध करूँगा।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

गुरून्, अहत्वा, हि, महानुभावान्, श्रेयः, भोक्तुम्,
भैक्ष्यम्, अपि, इह, लोके, हत्वा, अर्थकामान्, तु, गुरून्,
इह, एव, भुञ्जीय, भोगान्, रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

(महानुभावान्) बड़े प्रभावशाली (गुरून्) बड़ों को (अहत्वा) न मारकर (इह) इस (लाके) लोक में (भैक्ष्यम्) भिक्षा माँगकर (अपि) भी (भोक्तुम्) खाना (श्रेयः) श्रेयस्कर है (हि) क्योंकि (अर्थकामान्) धन के लोभी (गुरून्) बड़ों को (हत्वा) मारकर (इह) इस लोक में (रुधिरप्रदिग्धान्) रुधिर से सने हुए (भोगान्) भोगों को (एव तु) ही तो (भुञ्जीय) भोगूंगा।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

न, च, एतत्, विद्म:, कतरत्, न, गरीय:, यद्वा, जयेम,
यदि, वा, न:, जयेयु:, यान्, एव, हत्वा, न, जिजीविषाम:,
ते, अवस्थिता:, प्रमुखे, धार्तराष्ट्रा: ॥ ६ ॥

(च) और (एतत्) यह भी हम (न) नहीं (विद्म) जानते कि (यद्वा) यदि (जयेम) हम जीतें (यदि वा) या (न) हमको (जयेयु) वे जीतें, (न) हम सबके लिए (कतरत्) क्या (गरीय) श्रेष्ठ है; (यान्) जिनको (हत्वा) मारकर हम (न जिजीविषाम) जीना भी नहीं चाहते (ते) वे (एव) ही (धार्तराष्ट्रा:) धृतराष्ट्र के पुत्र (प्रमुखे) हमारे सामने (अवस्थिता:) खड़े हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव: पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेता:।
यच्छ्रेय: स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव:, पृच्छामि, त्वाम्, धर्मसंमूढचेता:,
यत्, श्रेय:, स्यात्, निश्चितम्, ब्रूहि, तत्, मे, शिष्य:,
ते, अहम्, शाधि, माम्, त्वाम्, प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

(कार्पण्यदोषोपहत स्वभाव) कृपणता के दोष से नष्ट हुई बुद्धिवाला और (धर्म संमूढचेता) समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य रूप धर्मों के विषय में मोहग्रस्त, किंकर्त्तव्यविमूढ़ चित्त वाला (त्वाम्) मैं आपको (पृच्छामि) पूछता हूँ कि (यत्) जो, मेरे लिए (निश्चितम्) निश्चित किया हुआ (श्रेय) श्रेयस्कर (स्यात्) हो (तत्) वह (मे) मुझे (ब्रूहि) कहिये (अहम्) मैं (ते) आपका (शिष्य) शिष्य हूँ (त्वाम्) आपकी (प्रपन्नम्) शरण हुए (माम्) मुझको (शाधि) शिक्षा दीजिये।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

न, हि, प्रपश्यामि, मम, अपनुद्याद्, यत्, शोकम्, उच्छोषणम्,
इन्द्रियाणाम्, अवाप्य, भूमौ, असपत्नम्, ऋद्धम्, राज्यम्,
सुराणाम्, अपि, च, आधिपत्यम् ॥ ८ ॥

(हि) क्योंकि (भूमौ) सारी पृथ्वी का (असपत्नम्) निष्कण्टक (ऋद्धम्) धनधान्य सम्पन्न (राज्यम्) राज्य को (च) और (सुराणाम्) देवताओं के (आधिपत्यम्) आधिपत्य को (अवाप्य) प्राप्त होकर (अपि) भी (न प्रपश्यामि) मैं ऐसा साधन नहीं देखता हूँ (यत्) जो (मम) मेरी (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों के (उच्छोषणम्) सुखाने वाले (शोकम्) शोक को (अपनुद्यात्) दूर कर सके।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्ये इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥९॥

एवम्, उक्त्वा, हृषीकेशम्, गुडाकेशः, परंतप,
न, योत्स्ये, इति, गोविन्दम्, उक्त्वा, तूष्णीम्, बभूव, ह॥ ९॥

संजय बोला—

(परन्तप) हे राजन्! (गुडाकेशः) अर्जुन (हृषीकेशम्) श्रीकृष्ण महाराज के प्रति (एवम्) इस प्रकार (उक्त्वा) कहकर, फिर (गोविन्दम्) गोविन्द भगवान को (इति) ऐसे (ह) स्पष्ट (उक्त्वा) कहकर कि मैं तो (न योत्स्ये) युद्ध नहीं करूँगा (तूष्णीम्) चुप (बभूव) हो गया।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥१०॥

तम्, उवाच, हृषीकेशः, प्रहसन्, इव, भारत,
सेनयोः, उभयोः, मध्ये, विषीदन्तम्, इदम्, वचः॥१०॥

(भारत) हे भारत! तब (हृषीकेशः) श्रीकृष्ण महाराज ने (तम्) उस (विषीदन्तम्) शोकयुक्त अर्जुन को (प्रहसन् इव) मुस्कराते हुए (उभयोः) दोनों (सेनयोः) सेनाओं के (मध्ये) बीच में (इदम्) यह (वचः) वचन (उवाच) कहा।

संगति—अर्जुन एक शूरवीर, व्यवहार-कुशल, पुण्यवान् एवं ईश्वर भक्त क्षत्रिय था। दैवी सम्पत्ति के गुणों की उसमें प्रधानता थी। लौकिक मर्यादाओं के नीतिशास्त्र और धर्म शास्त्र का भी उसे अच्छा ज्ञान था। दुष्टों द्वारा अन्याय से छीनी गई अपनी पैतृक सम्पत्ति को पुनः प्राप्त करने के निमित्त उसे युद्ध के लिए प्रस्तुत होना पड़ा था। जिस समय लड़ाई में शस्त्र चलने ही वाले थे कि ठीक उसी समय दोनों सेनाओं में अपने स्वजन-बान्धवों को मृत्यु के सम्मुख उपस्थित देखकर एकाएक अर्जुन का चित्त व्याकुल हो गया। यद्यपि उस समय की परिस्थिति, उन दुष्ट आततायियों को वीरता पूर्वक लड़कर दण्ड देने की थी, परन्तु आत्म-ज्ञान से रहित होने के कारण ऐसी विकट परिस्थिति में भी उसके चित्त में अपने स्वजन-बान्धवों के भौतिक शरीरों में ममत्व की आसक्ति हो गई और उनके मारे जाने की सम्भावना से, उसके हृदय के वे प्रेम, मैत्री तथा करुणा आदि के सात्विक भाव पलटकर शोक और मोह में परिणत हो गए। ऐसी अवस्था में नीतिशास्त्र तथा धर्मशास्त्र

के ज्ञान ने उसके शोक और मोह को बढाने मे सहायता दी। उन शास्त्रो ने स्वजनों की हत्या का घोर पाप लगने और कुल क्षय से कुल-धर्म तथा जाति-धर्म का नाश होने तथा अपने कुल के नरक मे जाने व पिण्डोदक क्रिया लुप्त होने से पितरो की भी दुर्गति होने की चिन्ता उत्पन्न कर दी। परिणाम यह हुआ कि अर्जुन का कलेजा दहल गया और वह अपने कर्तव्य-कर्म, युद्ध मे विरक्त होकर, शस्त्र फेंक कर व्याकुलता मे रोने लगा। तब भगवान् श्रीकृष्ण ने उसको मूर्ख-अज्ञानियो की तरह शोक और मोह करने के लिए बहुत फटकारा तथा उसे हृदय की दुर्बलता दूर करके लडने के लिए खडे होने की आज्ञा दी।

यदि गीता का प्रयोजन केवल युद्ध से विरक्त अर्जुन को फिर से उत्साहित करके लडाने मात्र का ही होता, जैसाकि कई लोग मानते हैं, तो वह यही पर समाप्त हो जाती, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण जो अपने को सबकी आत्मा बताते हैं, उनके द्वारा दिया हुआ गीता ज्ञान का उपदेश इतना सकुचित नही हो सकता कि वह केवल अर्जुन को युद्ध मे प्रवृत्त करा देने मात्र तक ही परिमित हो। सासारिक व्यवहार करने वाले प्राय सभी प्रकार के धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक कार्य-कर्ताओ के सम्मुख अपनी-अपनी योग्यतानुसार ऐसे विकट अवसर आते ही रहते है, जैसाकि अर्जुन के सम्मुख आया था। ऐसी परिस्थिति मे वे कर्तव्याकर्तव्य का ठीक निर्णय न कर सकने के कारण मोह मे फँस जाते हैं और समाज विरोधी आचरण करके अपना तथा दूसरों का घोर अनिष्ट कर लेते हैं। ऐसे लोगो का मोह दूर करने एवं उनको समाज के प्रति अपना कर्तव्याकर्तव्य का सच्चा रास्ता दिखाने के लिए, अर्जुन के मोह को दूर करने के प्रसग को लेकर, भगवान ने सारे ससार को आत्म ज्ञान युक्त सासारिक व्यवहार करने का सार्वजनिक उपदेश गीता मे देकर अनन्त प्रकार की उलझनो को निश्चित रूप से सुलझाने का एक मात्र सत्य एव श्रेयस्कर उपाय बताया है जिसका अवलम्बन करके प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी योग्यतानुसार, अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के आध्यात्मिक आधार पर, ससार के व्यवहार यथायोग्य करता हुआ अपना इहलौकिक अभ्युदय और पारलौकिक नि.श्रेयस एक साथ सम्पादन कर सकता है। उस गीता-ज्ञान का उपदेश यहाँ से आरम्भ होता है—

श्री भगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिता. ॥११॥

अशोच्यान्, अन्वशोच., त्वम्, प्रज्ञावादान्, च, भाषसे,
गतासून, अगतासून्, च न, अनुशोचन्ति, पण्डिता ॥११॥

श्री भगवान् बोले कि--

(अशोच्यान्) जो शोक करने योग्य नहीं उनके लिए (त्वम्) तूं (अन्वशोचः) शोक करता है (च) और (प्रज्ञावादान्) बुद्धिमानों की सी (भाषसे) बातें बनाता है (पण्डिताः) वास्तविक बुद्धिमान लोग (गतासून्) मरे हुओं का (च) और (अगतासून्) जीवतों का (न अनुशोचन्ति) शोक नहीं करते।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

न, तु, एव, अहम्, जातु, न, आसम्, न, त्वम्, न, इमे, जनाधिपाः, न, च, एव, न, भविष्यामः, सर्वे, वयम्, अतः, परम् ॥१२॥

(तु) क्योंकि (न एव) न तो ऐसा ही है कि (अहम्) मैं (जातु) पहले कभी (न) नहीं (आसम्) था, या (त्वम्) तूं (न) नहीं था, या (इमे) ये (जनाधिपाः) राजा लोग (न) नहीं थे (च) और (न एव) न ऐसा ही है कि (अतः) इससे (परम्) आगे (वयम्) हम (सर्वे) सब (न) नहीं (भविष्यामः) रहेंगे।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तर प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

देहिनः, अस्मिन्, यथा, देहे, कौमारम्, यौवनम्, जरा, तथा, देहान्तरप्राप्तिः, धीरः, तत्र, न, मुह्यति ॥१३॥

(यथा) जैसे (देहिनः) जीवात्मा की (अस्मिन्) इस (देहे) शरीर में (कौमारम्) बाल्यावस्था (यौवनम्) युवावस्था और (जरा) वृद्धावस्था होती है (तथा) वैसे ही (देहान्तर प्राप्तिः) अन्य शरीर की प्राप्ति होती है (तत्र) उस विषय में (धीरः) बुद्धिमान् (न) नहीं (मुह्यति) मोहित होता है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

मात्रास्पर्शाः, तु, कौन्तेय, शीतोष्णसुखदुःखदा, आगमापायिनः, अनित्याः, तान्, तितिक्षस्व, भारत ॥ १४ ॥

(कौन्तेय) हे कुन्तीपुत्र ! (शीतोष्ण-सुखदुःखदाः) सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख को देनेवाले (मात्रास्पर्शाः) इन्द्रियों के समूह रूप शरीर और इनसे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ और विषयादि (तु) तो (आगमापायिनः) आने जाने वाले (अनित्याः) निरन्तर बदलनेवाले असत् होते हैं (भारत) हे अर्जुन ! (तान्) उनके संयोग-वियोग को (तितिक्षस्व) सहन कर।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

यम्, हि, न, व्यथयन्ति, एते, पुरुषम्, पुरुषर्षभ,
समदुःखसुखम्, धीरम्, सः, अमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

(हि) क्योंकि (पुरुषर्षभ) हे पुरुषश्रेष्ठ ! (समदुःख सुखम्) दुःख-सुख को समान समझने वाले (यम्) जिस (धीरम्) धैर्यवान (पुरुषम्) पुरुष को (एते) ये, इन्द्रियों के समूह शरीर और इनसे सम्बन्ध रखने वालों के संयोग-वियोग (न व्यथयन्ति) व्याकुल नहीं कर सकते (सः) वह (अमृतत्वाय) अक्षय आनन्द रूप परमात्म भाव को प्राप्त करने (कल्पते) योग्य होता है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

न, असतः, विद्यते, भावः, न, अभावः, विद्यते, सतः,
उभयोः, अपि, दृष्टः, अन्तः, तु, अनयोः, तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

(असतः) असत का (भाव) अस्तित्व (न) नहीं (विद्यते) होता (तु) और (सतः) सत का (अभाव) अभाव (न) नहीं (विद्यते) होता (अनयोः) इन (उभयोः अपि) दोनों ही का (अन्तः) अन्तिम रहस्य (तत्त्वदर्शिभिः) तत्त्व-ज्ञानी पुरुषों द्वारा (दृष्टः) देख लिया गया है अर्थात् अनुभव कर लिया गया है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

अविनाशि, तु, तत्, विद्धि, येन, सर्वम्, इदम्, ततम्,
विनाशम्, अव्ययस्य, अस्य, न, कश्चित्, कर्तुम्, अर्हति ॥ १७ ॥

(अविनाशि) नाश रहित, सत् (तु) तो (तत्) उसको (विद्धि) जान (येन) जिससे (इदम्) यह (सर्वम्) सम्पूर्ण जगत (ततम्) व्याप्त हो रहा है (अस्य) इस (अव्ययस्य) निर्विकार का (विनाशम्) विनाश (कश्चित्) कोई भी (न कर्तुम् अर्हति) नहीं कर सकता।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

अन्तवन्तः, इमे, देहाः, नित्यस्य, उक्ताः, शरीरिणः,
अनाशिनः, अप्रमेयस्य, तस्मात्, युध्यस्व, भारत ॥ १८ ॥

(अनाशिनः) नाशरहित, (अप्रमेयस्य) प्रमाणों से परे, स्वतः प्रमाण, (नित्यस्य) सदा एक-सा रहने वाले, (शरीरिणः) शरीर धारी सत् जीवात्मा के (इमे) ये (देहाः) सब शरीर (अन्तवन्तः) नाशवान्, असत् (उक्ताः) कहे गये हैं (तस्मात्) इसलिए (भारत) हे अर्जुन ! (युध्यस्व) युद्ध कर।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

यः, एनम्, वेत्ति, हन्तारम, यः, च, एनम, मन्यते, हतम्,
उभौ, तौ, न, विजानीतः, न, अयम्, हन्ति, न, हन्यते ॥ १९ ॥

(यः) जो (एनम्) इस जीवात्मा को (हन्तारम्) मारने वाला (वेत्ति) समझता है (च) और (यः) जो (एनम्) इसको (हतम्) मारा गया (मन्यते) मानता है (तौ) वे (उभौ) दोनों ही (न) नहीं (विजानीतः) जानते हैं, अर्थात् अज्ञानी हैं; (अयम्) यह जीवात्मा (न) न (हन्ति) मारता है (न) न (हन्यते) मारा जाता है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

न, जायते, म्रियते, वा, कदाचित्, न, अयम्, भूत्वा,
भविता, वा, न, भूयः, अजः, नित्यः, शाश्वतः, अयम्,
पुराणः, न, हन्यते, हन्यमाने, शरीरे॥ २० ॥

(अयम्) यह जीवात्मा (कदाचित्) किसी काल में भी (जायते) जन्मता (वा) और (म्रियते) मरता (न) नहीं है (वा) और (न) न ऐसा ही है कि (भूत्वा) पहले होकर (भूयः) फिर (भविता न) नहीं होता (अयम्) यह जीवात्मा (अजः) जन्म रहित, (नित्यः) सदा विद्यमान, (शाश्वतः) एक समान रहनेवाला (पुराणः) अनादि है (शरीरे) शरीर के (हन्यमाने) मारे जाने पर (न हन्यते) नहीं मारा जाता।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

वेद, अविनाशिनम्, नित्यम्, यः, एनम्, अजम्, अव्ययम्,
कथम्, सः, पुरुषः, पार्थ, कम्, घातयति, हन्ति, कम् ॥ २१ ॥

(पार्थ) हे अर्जुन ! (यः) जो मनुष्य (एनम्) इस जीवात्मा को (अविनाशिनम्) नाशरहित (नित्यम्) सदा विद्यमान रहने वाला, (अजम्) जन्म रहित

(अव्ययम्) निर्विकार (वेद) जानता है (सः) वह (पुरुषः) पुरुष (कथम्) कैसे (कम्) किसको (घातयति) मरवाता है (और) (कम्) किसको (हन्ति) मारता है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २२॥

वासांसि, जीर्णानि, यथा, विहाय, नवानि, गृह्णाति,
नरः, अपराणि, तथा, शरीराणि, विहाय, जीर्णानि,
अन्यानि, संयाति, नवानि, देही॥ २२॥

(यथा) जैसे (नरः) मनुष्य (जीर्णानि) पुराने अनुपयुक्त (वासांसि) वस्त्रों को (विहाय) उतारकर (अपराणि) दूसरे (नवानि) नये वस्त्रों को (गृह्णाति) धारण करता है अर्थात् पहनता है (तथा) वैसे ही (देही) जीवात्मा (जीर्णानि) पुराने अनुपयुक्त (शरीराणि) शरीरों को (विहाय) छोड़कर (अन्यानि) दूसरे (नवानि) नये शरीरों को (संयाति) धारण करता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥२३॥

न, एनम्, छिन्दन्ति, शस्त्राणि, न, एनम्, दहति, पावकः,
न, च, एनम्, क्लेदयन्ति, आपः, न, शोषयति, मारुतः॥ २३॥

(एनम्) इस जीवात्मा को (शस्त्राणि) शस्त्रादि (न) नहीं (छिन्दन्ति) काट सकते (एनम्) इसको (पावकः) अग्नि (न) नहीं (दहति) जला सकती (एनम्) इसको (आपः) जल (न) नहीं (क्लेदयन्ति) गला सकते (च) और (मारुतः) वायु (न) नहीं (शोषयति) सुखा सकता।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥

अच्छेद्यः, अयम्, अदाह्यः, अयम्, अक्लेद्यः, अशोष्यः, एव, च,
नित्यः, सर्वगतः, स्थाणुः, अचलः, अयम्, सनातनः॥ २४॥

(अयम्) यह जीवात्मा (अच्छेद्यः) न कटने वाला है, (अयम्) यह जीवात्मा (अदाह्यः) न जलने वाला है, (अक्लेद्यः) न गलने वाला है (च) और (अशोष्यः) न सूखने वाला (एव) ही है, (अयम्) यह जीवात्मा (नित्यः) सदा एक समान रहने वाला, (सर्वगतः) सर्वव्यापक (अचलः) आवागमन रहित (स्थाणुः) अविनाशी (सनातनः) सनातन, अनादि है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।। २५ ।।

अव्यक्तः, अयम्, अचिन्त्यः, अयम्, अविकार्यः, अयम्, उच्यते,
तस्मात्, एवम्, विदित्वा, एनम्, न, अनुशोचितुम्, अर्हसि ।। २५ ।।

(अयम्) यह जीवात्मा (अव्यक्तः) अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों से प्रतीत नहीं हो सकता, (अयम्) यह जीवात्मा (अचिन्त्यः) अचिन्त्य अर्थात् मन से चिन्तन नहीं किया जा सकता, (अयम्) यह जीवात्मा (अविकार्यः) निर्विकार अर्थात् नहीं बदलने वाला (उच्यते) कहा जाता है (तस्मात्) इसलिए (एनम्) इस जीवात्मा को (एवम्) ऐसा (विदित्वा) समझकर (अनुशोचितुम्) शोक करना (न अर्हसि) तुझे उचित नहीं है, अर्थात् तुझे शोक नहीं करना चाहिए।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ।।२६।।

अथ, च, एनम्, नित्यजातम्, नित्यम्, वा, मन्यसे, मृतम्,
तथापि, त्वम्, महाबाहो, न, एवम्, शोचितुम्, अर्हसि ।।२६।।

(अथ च) और यदि (त्वम्) तूं, भौतिकवादी दार्शनिकों की तरह (एनम्) इसको (नित्यजातम्) शरीर के साथ सदा जन्मने (वा) और (नित्यम्) शरीर के साथ सदा (मृतम्) मरने वाला (मन्यसे) माने (तथापि) तो भी (महाबाहो) हे अर्जुन ! (एवम्) इस प्रकार (शोचितुम्) शोक करना (न अर्हसि) तुझे उचित नहीं है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।२७।।

जातस्य, हि, ध्रुवः, मृत्युः, ध्रुवम्, जन्म, मृतस्य, च,
तस्मात्, अपरिहार्ये, अर्थे, न, त्वम्, शोचितुम्, अर्हसि ।।२७।।

(हि) क्योंकि (जातस्य) जन्मने वाले का (मृत्युः) मरना (ध्रुवः) अवश्यम्भावी है (च) और (मृतस्य) मरने वाले का (जन्म) जन्म होना (ध्रुवम्) अवश्यम्भावी है (तस्मात्) इसलिए (अपरिहार्ये) अनिवार्य (अर्थे) विषय में (त्वम्) तुझे (शोचितुम्) शोक करना (न अर्हसि) उचित नहीं है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।।२८।।

अव्यक्तादीनि, भूतानि, व्यक्तमध्यानि, भारत,
अव्यक्तनिधनानि, एव, तत्र, का, परिदेवना ॥२८॥

(भारत) हे अर्जुन! (भूतानि) पंच भूतों के समुदाय (अव्यक्तादीनि) शरीर रूप बनने से पहले, सूक्ष्म भाव में इन्द्रियों के अगोचर रहते हैं, (व्यक्तमध्यानि) शरीर रूप में संगठित होने पर, बीच में इन्द्रिय गोचर अर्थात् स्थूल भाव बनते हैं, (अव्यक्त निधनानि एव) फिर मरने के बाद शरीर का संगठन बिखरने पर, इन्द्रियों के अगोचर अर्थात् सूक्ष्म हो जाते हैं, जब पंच भूतों का सूक्ष्म से स्थूल और स्थूल से सूक्ष्म भाव होना ही जन्मना मरना है तो—(तत्र) उस विषय में (परिदेवना) शोक करना और रोना (का) किस बात का?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोतिश्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥२९॥

आश्चर्यवत्, पश्यति, कश्चित्, एनम्, आश्चर्यवत्, वदति,
तथा, एव, च, अन्यः, आश्चर्यवत्, च एनम्, अन्यः,
शृणोति, श्रुत्वा, अपि, एनम्, वेद न, च, एव, कश्चित् ॥२९॥

(एनम्) इस जीवात्मा को (कश्चित्) कोई (आश्चर्यवत्) अचम्भे की तरह (पश्यति) देखता है अर्थात् अन्वेषण करता है (च) और (तथा) वैसे (एव) ही (अन्यः) दूसरा कोई (आश्चर्यवत्) अचम्भे की तरह इसके विषय में (वदति) वर्णन करता है अर्थात् अटकलें लगाता है (च) और (अन्यः) दूसरा कोई (आश्चर्यवत्) अचम्भे की तरह (एनम्) इसके वर्णनों को (शृणोति) सुनता है (च) और (कश्चित्) कोई (श्रुत्वा) सुनकर (अपि) भी (एनम्) इस जीवात्मा को (न एव) यथार्थतया नहीं (वेद) जानता।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ ३०॥

देही, नित्यम्, अवध्यः, अयम्, देहे, सर्वस्य, भारत,
तस्मात्, सर्वाणि, भूतानि, न, त्वम्, शोचितुम्, अर्हसि॥ ३०॥

(भारत) हे अर्जुन! (सर्वस्य) सब के (देहे) शरीरों में रहने वाला (अयम्) यह (देही) आत्मा (नित्यम्) सदा ही (अवध्यः) अवध्य है अर्थात् कभी मारा नहीं जाता (तस्मात्) इसलिए (सर्वाणि भूतानि) सम्पूर्ण भूत प्राणियों अर्थात् किसी के लिए भी (त्वम्) तुझे (शोचितुम्) शोक करना (न अर्हसि) उचित नहीं है।

संगति—प्रथम अध्याय के अन्तिम श्लोक में संजय ने कहा था कि लड़ाई में स्वजन बन्धुओं के मारे जाने की आशंका से अर्जुन शोक-ग्रसित होकर अत्यन्त व्याकुल हो गया था; और इस अध्याय के आठवें श्लोक में अर्जुन ने यह कहकर कि, इन्द्रियों को सुखाने वाले मेरे इस शोक को दूर करने का कोई उपाय मुझे नहीं दीखता, फिर नौवें श्लोक में स्पष्ट कह दिया कि "मैं तो नहीं लड़ूँगा"। इस पर भगवान उसका शोक दूर करने के लिए, सबसे पहले उसको आत्मज्ञान का उपदेश देते हैं और मुस्कराते हुए, ग्यारहवें श्लोक में कुछ ताना देकर कहते हैं कि बुद्धिमान् लोग मरने-जीने का कुछ भी शोक नहीं करते, क्योंकि मरना-जन्मना वास्तव में कुछ है नहीं। जिस तरह पुराने अनुपयुक्त कपड़े बदलकर नये कपड़े पहने जाते हैं, उसी तरह जीवात्मा अनुपयुक्त शरीर बदल कर नये शरीर धारण करता है। केवल रूपों का बदलना ही मरना-जन्मना कहलता है। जीवात्मा के शरीर के तीन भाव होते हैं—एक जागृत अवस्था का आधिभौतिक स्थूल भाव; दूसरा स्वप्न अवस्था का आधिदैविक सूक्ष्म भाव; तीसरा गहरी नींद (सुषुप्ति अवस्था) का आध्यात्मिक=कारण भाव। ये भाव बदलते रहते हैं परन्तु सब शरीरों का अपना आप आत्मा इन तीनों में इकसार बना रहता है। जिस तरह स्थूल शरीर की बाल्यावस्था बदलकर युवा अवस्था हो जाती है; युवा अवस्था बदलकर वृद्धावस्था हो जाती है, उसी तरह जीवात्मा सूक्ष्म शरीर को छोड़कर दूसरा स्थूल शरीर धारण करता है। यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि सत् वस्तु का कभी अभाव नहीं होता और असत् वस्तु की वास्तव में स्थिति नहीं रह सकती। स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों में रहने वाला अपना आप (आत्मा) सत् है, इसलिए उसका कभी नाश या परिवर्तन नहीं होता; परन्तु अनेक भावों और रूपों वाले शरीरों का निरन्तर परिवर्तन और उत्पत्ति-नाश होते रहते हैं, इसलिए वे असत् हैं। अतः असत् पदार्थों के लिए शोक करने का कोई कारण नहीं है। उत्तम पुरुष वाचक 'मैं', मध्यम पुरुष वाचक 'तू' और अन्य पुरुष वाचक 'ये लोग', इन तीनों भेदों वाली यह सृष्टि, बदलते हुए किसी न किसी रूप में पहले भी थी, वर्तमान में है और फिर आगे भी रहेगी ही। वर्तमान में तो सब लोग आधिभौतिक-स्थूल भाव में दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु पहले और पीछे आधिदैविक-सूक्ष्म भाव में अदृष्ट रहते हैं। किन्तु इनका सर्वथा अभाव कभी नहीं होता। सब शरीरों का मूल तत्त्व एक ही है, जो अविनाशी है, कभी बदलता नहीं और सदा इकसार बना रहता है। शरीरों के साथ यह न जन्मता और न मरता है। शरीरों के बदलते रहने पर भी इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। इसको कोई कभी किसी भी प्रकार से मार नहीं सकता। इसलिए शोक नहीं करना चाहिए। यदि शरीरों को पीड़ा या दुःख

होने का शोक हो तो सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का जोड़ा होता है। सुख के साथ दुःख और दुःख के साथ सुख सदा लगा ही रहता है। परन्तु ये सब अस्थायी हैं सदा आते-जाते रहते हैं इसलिए इनको सहन ही करना चाहिए, घबड़ाना नहीं चाहिए। जो मनुष्य सुख-दुःख आदि की अनुकूलता-प्रतिकूलता के परस्पर विरोधी जोड़ों से नहीं घबड़ाता, वही सब प्रकार के शोक-फिकर से रहित, परमानन्द रूप परमपद को पाने योग्य होता है। इस आत्मज्ञान के रहस्य को थोड़े ही लोग यथार्थ रीति से समझ पाते हैं, इसलिए अद्भुत सा लगता है। परन्तु यही यथार्थ रहस्य है। इसको समझ लेने से कोई शोक नहीं होता।

जो लोग आत्मज्ञान के इस सूक्ष्म रहस्य को नहीं समझ सकते, केवल भौतिक शरीरों को ही सत्य मानते हैं और शरीर के साथ ही आत्मा का जन्मना-मरना मानते हैं, उनके लिए भी शोक करने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि जो जन्मता है, वह अवश्य मरता है और जो मरता है वह अवश्य जन्मता है। क्योंकि सृष्टि में उत्पत्ति-नाश का क्रम निरन्तर प्रत्यक्ष रूप से चल रहा है। इसको कोई बदल नहीं सकता। फिर निश्चित बात के लिए शोक कैसा ?

यहाँ तक आत्म ज्ञान का उपदेश देकर अब भगवान अर्जुन के माने हुए धर्मशास्त्रों के अनुसार भी अपने कर्त्तव्य कर्म, युद्ध करने की अवश्य कर्तव्यता बताते हैं।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

स्वधर्मम्, अपि, च, अवेक्ष्य, न, विकम्पितुम्, अर्हसि,
धर्म्यात्, हि, युद्धात्, श्रेयः, अन्यत्, क्षत्रियस्य, न, विद्यते ॥ ३१ ॥

(च) और (स्वधर्मम्) अपने धर्म अर्थात् कर्तव्य को (अवेक्ष्य) देखे तो (अपि) भी, तुझे युद्ध से (विकम्पितुम्) विचलित होना (न अर्हसि) उचित नहीं है (हि) क्योंकि धर्मशास्त्र के अनुसार भी (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय के लिए (धर्म्यात्) धर्म (युद्धात्) युद्ध से बढ़कर (श्रेय) श्रेयस्कर (अन्यत्) दूसरा कुछ नहीं (विद्यते) है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

यदृच्छया, च, उपपन्नम्, स्वर्गद्वारम्, अपावृतम्,
सुखिन, क्षत्रियाः, पार्थ, लभन्ते, युद्धम्, ईदृशम् ॥ ३२ ॥

(पार्थ) हे पार्थ ! (यदृच्छया) अपने आप (उपपन्नम्) प्राप्त हुए (च) और,

धर्मशास्त्र के अनुसार (अपावृतम्) खुले हुए (स्वर्गद्वारम्) स्वर्ग के द्वार रूप (ईदृशम्) इस प्रकार के (युद्धम्) युद्ध के अवसर को (सुखिनः) भाग्यवान् (क्षत्रियाः) क्षत्रिय लोग ही (लभन्ते) पाते हैं।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

अथ, चेत्, त्वम्, इमम्, धर्म्यम्, संग्रामम्, न, करिष्यसि,
ततः, स्वधर्मम्, कीर्तिम्, च, हित्वा, पापम्, अवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

(अथ) अतएव (चेत्) यदि (त्वम्) तू (इमम्) इस (धर्म्यम्) धर्मानुकूल (संग्रामम्) संग्राम को (न) नहीं (करिष्यसि) करेगा (ततः) तो (स्वधर्मम्) अपने धर्म को (च) और) (कीर्तिम्) कीर्ति को (हित्वा) खोकर (पापम्) पाप को (अवाप्स्यसि) प्राप्त होगा।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

अकीर्तिम्, च, अपि, भूतानि, कथयिष्यन्ति, ते, अव्ययाम्,
सम्भावितस्य, च, अकीर्तिः, मरणात्, अतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

(च) इसके अतिरिक्त (भूतानि) जनसाधारण (ते) तेरी (अव्ययाम्) निरन्तर (अकीर्तिम्) निन्दा (कथयिष्यन्ति) करते रहेंगे (च) और (संभावितस्य) माननीय पुरुष के लिए (अकीर्तिः) निन्दा (मरणात्) मरण से (अपि) भी (अतिरिच्यते) बढ़कर होती है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

भयात्, रणात्, उपरतम्, मंस्यन्ते, त्वाम्, महारथाः,
येषाम्, च, त्वम्, बहुमतः, भूत्वा, यास्यसि, लाघवम् ॥ ३५ ॥

(महारथाः) महारथी लोग (त्वाम्) तुझे (भयात्) भय के कारण (रणात्) युद्ध से (उपरतम्) हटा हुआ (मंस्यन्ते) समझेंगे (च) और (येषाम्) जिनकी दृष्टि में (त्वम्) तू अबतक (बहुमतः) बहुत माननीय (भूत्वा) था, अब युद्ध नहीं करने से (लाघवम्) तुच्छ (यास्यसि) हो जायगा।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

अवाच्यवादान्, च, बहून्, वदिष्यन्ति, तव, अहिताः,
निन्दन्तः, तव, सामर्थ्यम्, ततः, दुःखतरम्, नु, किम् ॥ ३६ ॥

(च) और (तव) तेरे (अहिताः) वैरी लोग (तव) तेरे (सामर्थ्यम्) सामर्थ्य की (निन्दन्तः) निन्दा करते हुए (बहून्) बहुत से (अवाच्य-वादान्) न कहने योग्य बातें (वदिष्यन्ति) कहेंगे, ताने मारेंगे (नु) फिर (ततः) उससे (दुःखतरम्) अधिक दुःख और (किम्) क्या होगा ?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

हतः, वा, प्राप्स्यसि, स्वर्गम्, जित्वा, वा, भोक्ष्यसे, महीम्,
तस्मात्, उत्तिष्ठ, कौन्तेय, युद्धाय, कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

(वा) यदि (हतः) तू मारा गया तो धर्मशास्त्र के अनुसार (स्वर्गम्) स्वर्ग को (प्राप्स्यसि) प्राप्त होगा (वा) और (जित्वा) जीत गया तो (महीम्) पृथ्वी का राज्य (भोक्ष्यसे) भोगेगा (तस्मात्) इसलिए (कौन्तेय) हे अर्जुन ! (कृतनिश्चयः) निश्चय करके (युद्धाय) युद्ध के लिए (उत्तिष्ठ) उठ खड़ा हो।

संगति—११वें से ३० श्लोक तक अर्जुन का शोक मिटाने के लिए भगवान् ने आत्मज्ञान का उपदेश दिया। अब, जो अर्जुन ने प्रथम अध्याय में, धर्मशास्त्रों के आधार पर स्वजन बान्धवों की हिंसा का पाप लगने और कुल धर्म तथा जाति धर्म के नाश होने एवं पितरों के पिण्डोदक लुप्त होने के कारण दुर्गति होने व नरक में गिरने आदि की आशंकाएँ की थी, उनका समाधान, भगवान उसीके माने हुए धर्म-शास्त्रों के आधार पर करते हैं। ३१वें से ३७वें श्लोकों तक में भगवान कहते हैं कि धर्म-शास्त्र तो युद्ध करना ही तेरा परम धर्म बताते हैं। क्षत्री के लिए धर्म युद्ध में बढ़कर दूसरा कोई श्रेयस्कर धर्म नहीं है और ऐसे धर्म-युद्ध में मरने वाले क्षत्री के लिए स्वर्ग का दरवाजा खुला बताते है। शास्त्रों के अनुसार तो यदि तू मारा गया तो स्वर्ग प्राप्त करेगा और जीत गया तो राज्य भोगेगा। ऐसे धर्म-युद्ध का मौका तो भाग्यवान क्षत्रियों को ही मिलता है। फिर धर्म नाश होने और नरक में गिरने की तो बात ही कैसी ? परन्तु यदि तू इस धर्म युद्ध रूप अपने कर्तव्य का पालन नहीं करेगा तो अवश्य ही अपने धर्म का नाश करेगा और उल्टा पाप का भागी होगा। लोग तेरी बहुत निन्दा करेंगे और तेरी बहुत गिरावट हो जायगी। इसलिए तुझे अवश्य ही लड़ना चाहिए। इन श्लोकों से स्पष्ट होता है कि धर्म-शास्त्रों के अनुसार भी समाज की सुव्यवस्था के लिए अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म करना ही यथार्थ धर्म है। उनमें हिंसादि दोष हो तो भी पाप नहीं

लगता; परन्तु अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म नहीं करने से धर्म, अवश्य ही नष्ट होता है और पाप लगता है। इस तरह अर्जुन के माने हुए धर्म-शास्त्रों के अनुसार भी युद्ध करने की अवश्य कर्तव्यता बताकर, फिर आगे के ३८वें श्लोक में भगवान, साम्यभाव से अपने-अपने कर्तव्य कर्म करने का, अपना स्पष्ट मत, अर्जुन के माध्यम से सबके लिए कहते हैं कि सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीत-हार आदि द्वन्द्वों में सम रहते हुए, अपना कर्तव्य कर्म सब को निश्चय ही करना चाहिए। ऐसा करने से कोई पाप नहीं लगता।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सुखदुःखे, समे, कृत्वा, लाभालाभौ, जयाजयौ,
ततः, युद्धाय, युज्यस्व, न, एवम्, पापम्, अवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

(सुख-दुःखे) सुख-दुःख, (लाभालाभौ) लाभ-हानि, (जयाजयौ) जय-पराजय आदि द्वन्द्वों को (समे) समान (कृत्वा) समझकर (तत) फिर (युद्धाय) युद्ध के लिए (युज्यस्व) जुट जा (एवम्) इस तरह करने से तू (पापम्) पाप को (न) नहीं (अवाप्स्यसि) प्राप्त होगा।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

एषा, ते, अभिहिता, सांख्ये, बुद्धिः, योगे, तु, इमाम्, श्रृणु,
बुद्धया, युक्तः, यया, पार्थ, कर्मबन्धम्, प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

(पार्थ) हे पार्थ! (एषा) यह (बुद्धिः) बुद्धि (ते) तेरे लिए (सांख्ये) आत्मज्ञान के विषय में (अभिहिता) कही गई (तु) अब (इमाम्) इसी बुद्धि को (योगे) कर्म योग में जोड़ने अर्थात् आत्मज्ञान युक्त साम्य भाव से कर्म करने के विषय में (श्रृणु) सुन। (यया बुद्ध्या) जिस बुद्धि से (युक्तः) युक्त होकर तू (कर्मबन्धम्) कर्मों के बन्धन से (प्रहास्यसि) मुक्त रहेगा।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

न, इह, अभिक्रमनाशः, अस्ति, प्रत्यवायः, न, विद्यते,
स्वल्पम्, अपि, अस्य, धर्मस्य, त्रायते, महतः, भयात् ॥ ४० ॥

(इह) इस समत्वयोग के आचरण में (अभिक्रमनाशः) आरम्भ का नाश (न) नहीं (अस्ति) होता, (प्रत्यवायः) इसका उल्टा फल भी (न) नहीं (विद्यते)

होता। (अस्य) इस समत्व योग रूप (धर्मस्य) धर्म का (स्वल्पम्) थोड़ा (अपि) भी आचरण (महतः) महान (भयात्) भय से (त्रायते) मुक्त कर देता है।

सगति—श्लोक १२ से ३० तक मे भगवान ने आत्मज्ञान का उपदेश दिया और श्लोक ३१ से ३७ तक अर्जुन के माने हुए धर्मशास्त्रो के अनुसार भी, युद्ध रूप अपने कर्तव्य कर्म करने की अवश्य कर्तव्यता बताकर ३८ वे श्लोक मे साम्य भाव से अपने कर्तव्य कर्म करने को कहा। अब ३९ वे श्लोक मे उस आत्मज्ञान की बुद्धि युक्त अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म साम्य भाव से करने के समत्व योग के विधान की प्रस्तावना करते है और ४०वें श्लोक मे इस समत्वयोग की महिमा कहते है, कि इसका आचरण निरन्तर चलता रहता है, क्योकि यह स्वभाविक धर्म है। इसका आचरण कभी व्यर्थ नही जाता। जितना इसका आचरण किया जाता है, उतनी ही उन्नति होती जाती है; और अन्य धार्मिक कर्म-काण्डो की तरह यह ऊपर से लगाया हुआ आगन्तुक धर्म नही है, अत॰ इसका कोई उलटा परिणाम भी नही होता, न इसमे कोई विघ्न-बाधा या पराधीनता ही उपस्थित होती है। इसके थोड़े भी आचरण से मानसिक दुर्बलता से उत्पन्न होने वाले सब भय दूर हो जाते हैं।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ ४१॥

व्यवसायात्मिका, बुद्धिः, एका, इह, कुरुनन्दन,
बहुशाखा, हि, अनन्ताः, च, बुद्धयः, अव्यवसायिनाम्॥ ३१॥

(कुरुनन्दन) हे अर्जुन! (इह) इस आत्मज्ञान युक्त साम्यभाव से ससार के व्यवहार करने के विषय मे (व्यवसायात्मिका) निश्चयात्मक (बुद्धि) बुद्धि (एका हि) एक ही होती है। (अव्यवसायिनाम्) परन्तु साम्यभाव से व्यवहार नही करने वाले अज्ञानी लोगो की (बुद्धय) बुद्धियां (बहुशाखा) बहुत भेदो वाली (च) और (अनन्ता) अनन्त होती हैं।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥

याम्, इमाम, पुष्पिताम्, वाचम्, प्रवदन्ति, अविपश्चितः,
वेदवादरता, पार्थ, न, अन्यत्, अस्ति, इति, वादिन॥ ४२॥

कामात्मानः, स्वर्गपराः, जन्मकर्मफलप्रदाम्.
क्रियाविशेपबहुलाम्, भोगैश्वर्यगतिम्, प्रति ॥ ४३ ॥

(पार्थ) हे अर्जुन ! (कामात्मानः) कामनाओं में आसक्त, (वेदवादरताः) वेदों के अर्थ वाद के रोचक वचनों में उलझे हुए, (न अन्यत् अस्ति) इसके सिवाय और कुछ भी नहीं है (इति) ऐसा (वादिनः) कहने वाले, (स्वर्गपराः) स्वर्ग प्राप्ति ही को परम ध्येय मानने वाले (अविपश्चितः) मूर्ख लोग, (भोगैश्वर्यगतिम् प्रति) भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के निमित्त, (जन्मकर्मफलप्रदाम्) जन्म और कर्म फल को देने वाली, (क्रियाविशेषबहुलाम्) बहुत से कर्मकाण्डों के प्रपंच कराने वाली (इमाम्) इस तरह की (याम्) जो (पुष्पिताम्) मनलुभावनी, सुन्दर दीखने वाली (वाचम्) बातें (प्रवदन्ति) बनाते रहते हैं।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्, तया, अपहृतचेतसाम्,
व्यवसायात्मिका, बुद्धिः, समाधौ, न, विधीयते ॥ ४४ ॥

(तया) उन बातों से (अपहृतचेतसाम्) हरे हुए चित्त वाले, (भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्) भोग और ऐश्वर्य में अत्यन्त आसक्त लोगों की (व्यवसायात्मिका) निश्चयात्मक (बुद्धिः) बुद्धि (समाधौ) साम्यभाव में स्थित (न विधीयते) कभी नहीं होती।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

त्रैगुण्यविषयाः, वेदाः, निस्त्रैगुण्यः, भव, अर्जुन,
निर्द्वन्द्वो, नित्यसत्त्वस्थः, निर्योगक्षेमः, आत्मवान् ॥ ४५ ॥

(अर्जुन) हे अर्जुन! (वेदाः) भेद प्रतिपादक वेदादिशास्त्र (त्रैगुण्यविषयाः) तीनों गुणों को ही विषय करनेवाले हैं; (निर्द्वन्द्वः) तू हर्ष-शोक, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से अलिप्त, (नित्यसत्त्वस्थः) सदा सत्त्व अर्थात् सत्य भाव में स्थित, (निर्योगक्षेमः) योगक्षेम की चिन्ता से रहित, (निस्त्रैगुण्यः) तीनों गुणों से अतीत, (आत्मवान्) अपने वास्तविक स्वरूप—आत्मा के अनुभव परायण (भव) हो।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

यावान्, अर्थः, उदपाने, सर्वतः, संप्लतोदके,
तावान्, सर्वेषु, वेदेषु, ब्राह्मणस्य, विजानतः ॥ ४६ ॥

होता। (अस्य) इस समत्व योग रूप (धर्मस्य) धर्म का (स्वल्पम्) थोड़ा (अपि) भी आचरण (महत) महान (भयात्) भय से (त्रायते) मुक्त कर देता है।

संगति—श्लोक १२ से ३० तक मे भगवान ने आत्मज्ञान का उपदेश दिया और श्लोक ३१ से ३७ तक अर्जुन के माने हुए धर्मशास्त्रो के अनुसार भी, युद्ध रूप अपने कर्तव्य कर्म करने की अवश्य कर्तव्यता बताकर ३८ वें श्लोक मे साम्य भाव से अपने कर्तव्य कर्म करने को कहा। अब ३९ वे श्लोक मे उस आत्मज्ञान की बुद्धि युक्त अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म साम्य भाव से करने के समत्व योग के विधान की प्रस्तावना करते है और ४० वे श्लोक मे इस समत्वयोग की महिमा कहते हैं, कि इसका आचरण निरन्तर चलता रहता है, क्योंकि यह स्वभाविक धर्म है। इसका आचरण कभी व्यर्थ नहीं जाता। जितना इसका आचरण किया जाता है, उतनी ही उन्नति होती जाती है, और अन्य धार्मिक कर्मकाण्डो की तरह यह ऊपर से लगाया हुआ आगन्तुक धर्म नही है, अतः इसका कोई उलटा परिणाम भी नही होता; न इसमे कोई विघ्न-बाधा या पराधीनता ही उपस्थित होती है। इसके थोड़े भी आचरण से मानसिक दुर्बलता से उत्पन्न होने वाले सब भय दूर हो जाते हैं।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ ४१॥

व्यवसायात्मिका, बुद्धिः, एका, इह, कुरुनन्दन,
बहुशाखा, हि, अनन्ता, च, बुद्धय, अव्यवसायिनाम्॥ ३१॥

(कुरुनन्दन) हे अर्जुन! (इह) इस आत्मज्ञान युक्त साम्यभाव मे संसार के व्यवहार करने के विषय मे (व्यवसायात्मिका) निश्चयात्मक (बुद्धि) बुद्धि (एका हि) एक ही होती है। (अव्यवसायिनाम्) परन्तु साम्यभाव से व्यवहार नही करने वाले अज्ञानी लोगो की (बुद्धय) बुद्धियाँ (बहुशाखा) बहुत भेदो वाली (च) और (अनन्ता) अनन्त होती हैं।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥

याम्, इमाम्, पुष्पिताम्, वाचम्, प्रवदन्ति, अविपश्चित,
वेदवादरता, पार्थ, न, अन्यत्, अस्ति, इति, वादिन.॥ ४२॥

कामात्मानः, स्वर्गपराः, जन्मकर्मफलप्रदाम्.
क्रियाविशेषवहुलाम्, भोगैश्वर्यगतिम्, प्रति ॥ ४३ ॥

(पार्थ) हे अर्जुन ! (कामात्मानः) कामनाओं में आसक्त, (वेदवादरताः) वेदों के अर्थ वाद के रोचक वचनों में उलझे हुए, (न अन्यत् अस्ति) इसके सिवाय और कुछ भी नहीं है (इति) ऐसा (वादिनः) कहने वाले, (स्वर्गपराः) स्वर्ग प्राप्ति ही को परम ध्येय मानने वाले (अविपश्चितः) मूर्ख लोग, (भोगैश्वर्यगतिम् प्रति) भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के निमित्त, (जन्मकर्मफलप्रदाम्) जन्म और कर्म फल को देने वाली, (क्रियाविशेषबहुलाम्) वहुत से कर्मकाण्डों के प्रपंच कराने वाली (इमाम्) इस तरह की (याम्) जो (पुष्पिताम्) मनलुभावनी, सुन्दर दीखने वाली (वाचम्) बातें (प्रवदन्ति) बनाते रहते हैं।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्, तया, अपहृतचेतसाम्,
व्यवसायात्मिका, बुद्धिः, समाधौ, न, विधीयते ॥ ४४ ॥

(तया) उन बातों से (अपहृतचेतसाम्) हरे हुए चित्त वाले, (भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्) भोग और ऐश्वर्य में अत्यन्त आसक्त लोगों की (व्यवसायात्मिका) निश्चयात्मक (बुद्धिः) बुद्धि (समाधौ) साम्यभाव में स्थित (न विधीयते) कभी नहीं होती।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

त्रैगुण्यविषयाः, वेदाः, निस्त्रैगुण्यः, भव, अर्जुन,
निर्द्वन्द्वो, नित्यसत्त्वस्थः, निर्योगक्षेमः, आत्मवान् ॥ ४५ ॥

(अर्जुन) हे अर्जुन ! (वेदाः) भेद प्रतिपादक वेदादि शास्त्र (त्रैगुण्यविषयाः) तीनों गुणों को ही विषय करनेवाले हैं; (निर्द्वन्द्वः) तू हर्ष-शोक, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से अलिप्त, (नित्यसत्त्वस्थः) सदा सत्त्व अर्थात् सत्य भाव में स्थित, (निर्योगक्षेमः) योगक्षेम की चिन्ता से रहित, (निस्त्रैगुण्यः) तीनों गुणों से अतीत, (आत्मवान्) अपने वास्तविक स्वरूप—आत्मा के अनुभव परायण (भव) हो।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

यावान्, अर्थः, उदपाने, सर्वतः, संप्लुतोदके,
तावान्, सर्वेषु, वेदेषु, ब्राह्मणस्य, विजानतः ॥ ४६ ॥

(सर्वत) सब ओर से (सम्प्लुतोदके) पानी-ही-पानी हो जाने पर (उदपाने) कुएँ मे (यावान्) जितना (अर्थ) प्रयोजन रह जाता है, (विजानत) अपने वास्तविक स्वरूप आत्मा को यथार्थ जानने वाले (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मज्ञानी को (सर्वेषु) सब (वेदेषु) वेदो मे (तावान्) उतना ही प्रयोजन रहता है।

सगति—प्रथम अध्याय मे अर्जुन ने वेदादि शास्त्रो मे सुनी हुई बातो के आधार पर, लडाई मे बन्धु बान्धवो के मारे जाने से कुलधर्म और जातिधर्म के नाश होने, वर्णसकर उत्पन्न होने के कारण पिण्डोदक कर्मकाण्ड लुप्त होने और पितरो के नरक मे गिरने के विश्वास से, अत्यन्त व्याकुलता प्रकट की थी। अर्जुन का वेदादि भेद प्रतिपादक शास्त्रो मे उक्त अन्धविश्वास मिटाने के लिए, भगवान् बुद्धि से काम लेने का उपदेश देते हैं, परन्तु वह बुद्धि आत्मज्ञान युक्त सात्त्विकी होनी चाहिए। इसलिए ४१ से ४४ तक के श्लोको मे भगवान् कहते हैं कि आत्मज्ञान युक्त साम्यभाव से सासारिक व्यवहार करनेवालो की सात्त्विकी बुद्धि का एक ही निश्चय रहता है, और उस निश्चय से वे अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म सब की एकता के साम्यभाव से, सबके हित के लिए करते रहते हैं। परन्तु अज्ञानी लोगो की बुद्धि का एक निश्चय नही रहता। उन लोगो की शरीरो मे अत्यन्त आसक्ति और ममता रहती है। वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थो की सिद्धि के लिए ही दौड-धूप करते रहते है। उनकी तुच्छ बुद्धि शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले भोगो, धन-सम्पत्ति और मरने के बाद स्वर्ग प्राप्ति आदि की कामनाओ मे विक्षिप्त रहती है। कर्मकाण्डात्मक वेदो मे उन कामनाओ की प्राप्ति, कर्मकाण्डो मे होने के थोथे, मन लुभानेवाले रोचक वचन सुनकर वे लोग उन्ही मे लगे रहते हैं। उनकी बुद्धि मे इसके सिवाय और कोई बात जँचती ही नही। अनन्त प्रकार की कामनाओ से विक्षिप्त, उनकी बुद्धि मे बहुत से भेद उत्पन्न होते रहते हैं। कभी किसी वैदिक कर्मकाण्ड मे श्रद्धा करते हैं, फिर उससे कामनाओ की पूर्ति न होने पर दूसरी क्रियाओ पर श्रद्धा करते हैं। उन कर्मकाण्डो का कभी अन्त नही आता और उनकी बुद्धि कभी समता के भाव के एक निश्चय पर नही टिक सकती। इसलिए श्लोक ४५ और ४६ मे भगवान् अर्जुन को कहते हैं कि, ये कर्मकाण्डात्मक वेद मनुष्य को त्रिगुणात्मक प्रकृति के जाल मे ही उलझाये रखते हैं, तू वेदो के इस जाल से बाहर निकल और वैदिक कर्मकाण्डो मे बताये जानेवाले योगक्षेम की चिन्ता और सुख-दु खादि द्वन्द्वो से रहित होकर अपने वास्तविक आप आत्मा का अनुभव कर। आत्मज्ञानी पुरुष अपने-आपमे परिपूर्ण होता है। उसको वैदिक कर्मकाण्डो से कुछ भी प्रयोजन नही रहता।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

कर्मणि, एव, अधिकारः, ते, मा, फलेषु, कदाचन,
मा, कर्मफलहेतुः, भूः, मा, ते, संगः, अस्तु, अकर्मणि ॥ ४७ ॥

(कर्मणि) कर्म में (एव) ही (ते) तेरा (अधिकारः) अधिकार है अर्थात् कर्म करना मनुष्य के अधिकार में है, (फलेषु) फल में (कदाचन, मा) कदापि नहीं अर्थात् फल कर्म के अनुसार अवश्य होता है, इसलिए कर्म से अलग फल पर सीधा अधिकार नहीं होता। (कर्मफल हेतुः) तू कर्मों के फल का उद्देश्य रखने-वाला (मा भूः) मत हो अर्थात् तेरे कर्म व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के फल के उद्देश्य से नहीं होने चाहिये; (अकर्मणि) कर्म न करने में भी (ते) तेरी (सङ्गः) आसक्ति (मा) न (अस्तु) होवे, अर्थात् तुझे अपने कर्तव्य कर्म समाज की सुव्य-वस्था रूप लोक-संग्रह के लिए अवश्य ही करने चाहिए।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

योगस्थः, कुरु, कर्माणि, सङ्गम्, त्यक्त्वा, धनंजय,
सिद्ध्यसिद्ध्योः, समः, भूत्वा, समत्वम्, योगः, उच्यते ॥ ४८ ॥

(धनंजय) हे धनंजय ! (सङ्गम्) आसक्ति को (त्यक्त्वा) त्यागकर, (सिद्ध्य-सिद्ध्योः) सफलता और असफलता में (समः) एक समान (भूत्वा) रहता हुआ, (योगस्थः) समता के योग में स्थित होकर (कर्माणि) कर्मों को (कुरु) कर; (समत्वं) समता का भाव ही (योगः) योग (उच्यते) कहा जाता है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

दूरेण, हि, अवरम्, कर्म, बुद्धियोगात्, धनंजय,
बुद्धौ, शरणम्, अन्विच्छ, कृपणाः, फलहेतवः ॥ ४९ ॥

(बुद्धियोगात्) उपर्युक्त समता के भाव के बुद्धि-योग से (दूरेण) दूर होने के कारण, (कर्म) स्वार्थ सिद्धि के विषम कर्म (अवरम्) निकृष्ट दुष्कर्म हैं। (धनंजय) हे धनंजय ! तू (बुद्धौ) समत्व बुद्धि योग का (शरणम्) आश्रय (अन्विच्छ) ले; (हि) क्योंकि (फलहेतवः) फल की इच्छा से कर्म करने वाले (कृपणाः) अत्यन्त दीन होते हैं। समता की बुद्धि से रहित, केवल व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए किये जाने वाले कर्म दुष्कर्म होते हैं; इसलिए समता के भाव

मे लोक-संग्रह के लिए कर्म करने चाहिए।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

बुद्धियुक्त, जहाति, इह, उभे, सुकृतदुष्कृते,
तस्मात्, योगाय, युज्यस्व, योग, कर्मसु, कौशलम् ॥५०॥

(बुद्धियुक्त) समत्व बुद्धि युक्त पुरुष (इह) यहाँ (सुकृतदुष्कृते) कर्मों के फल, पुण्य और पाप (उभे) दोनो को (जहाति) त्याग देता है अर्थात् उनसे लिपायमान नही होता। (तस्मात्) इसलिए तू (योगाय) समत्व बुद्धि-योग के लिए (युज्यस्व) जुट जा; (योग.) समत्व बुद्धि रूप योग ही (कर्मसु) कर्मों मे (कौशलम्) कुशलता है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ता पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

कर्मजम्, बुद्धियुक्ता, हि, फलम्, त्यक्त्वा, मनीषिण,
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः, पदम्, गच्छन्ति, अनामयम् ॥ ५१ ॥

(हि) क्योंकि (बुद्धियुक्ता) समत्व बुद्धि युक्त (मनीषिणा.) ज्ञानीजन, (कर्मजम्) कर्मों से उत्पन्न होने वाले (फलम्) फल को (त्यक्त्वा) त्याग कर, (जन्मबन्धविनिर्मुक्ता) जन्म-मरण रूप बन्धन से छूट कर (अनामयम्) दुःख रहित, परमानन्द (पदम्) परम पद को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

यदा, ते, मोहकलिलम्, बुद्धि, व्यतितरिष्यति,
तदा, गन्तासि, निर्वेदम्, श्रोतव्यस्य, श्रुतस्य, च ॥ ५२ ॥

(यदा) जब (ते) तेरी (बुद्धि) बुद्धि (मोहकलिलम्) मोहरूप दल-दल मे (व्यतितरिष्यति) पूर्णतया पार हो जाएगी (तदा) तब तू (श्रुतस्य) सुनी हुई (च) और (श्रोतव्यस्य) सुनी जाने वाली बातो से (निर्वेदम्) विरक्त (गन्तासि) हो जायगा।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना, ते, यदा, स्थास्यति, निश्चला,
समाधौ, अचला, बुद्धिः, तदा, योगम्, अवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

(श्रुतिविप्रतिपन्ना) भेदवाद के शास्त्रों के सुनने से विचलित हुई (ते) तेरी (बुद्धिः) बुद्धि (यदा) जब (समाधौ) समता के भाव में (अचला) अचल, और (निश्चला) स्थिर होकर (स्थास्यति) ठहर जायगी, (तदा) तब तू (योगम्) समत्व योग को (अवाप्स्यसि) प्राप्त होगा अर्थात् साम्यभाव युक्त व्यवहार करने में पूर्णतया कुशल होगा।

संगति—इस अध्याय के ५वें श्लोक से ८वें श्लोक तक में अर्जुन ने कहा था कि, "बड़ों को मारकर रक्त मिश्रित भोग भोगने की अपेक्षा भीख माँगकर खाना श्रेयस्कर है; और यह भी हम नहीं जानते कि हम जीतें तो श्रेयस्कर है अथवा वे लोग जीतें तो श्रेयस्कर है; कौरवों को मारकर हम जीवित रहना नहीं चाहते; स्वर्ग का साम्राज्य मिल जाय तो भी मुझको चैन नहीं पड़ेगा; ऐसी दशा में मुझे क्या करना चाहिए; आप मुझे शिक्षा दीजिए।" उसके उत्तर में भगवान ४७ से ५३ तक के श्लोकों में आत्मज्ञान के साम्यभाव की बुद्धि से निष्काम कर्म करने के उपदेश का आरम्भ करते हैं। भगवान कहते हैं कि कर्म करना तेरे अधिकार में है; कर्मों के अनुसार उनकी प्रतिक्रिया रूप फल तो स्वतः ही होता है। मनुष्य को अपने कर्त्तव्य कर्म व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के उद्देश्य से नहीं करने चाहिए, और स्वार्थ सिद्धि का उद्देश्य न रहने के कारण कर्म त्यागना भी नहीं चाहिए। व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के उद्देश्य से कर्म करने वाले बड़े दीन और दुःखी होते हैं। कर्म तो बुद्धि के आधीन होते हैं। कर्म करने वाली इंद्रियों के ऊपर मन है और मन से ऊपर बुद्धि है। इसलिए मनुष्य की जैसी बुद्धि होती है, वैसा ही कर्म होता है। जिसकी बुद्धि सबकी एकता के साम्यभाव में स्थित हो जाती है, वह व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति से रहित होकर, अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म समाज की सुव्यवस्था रूप-लोक संग्रह के लिए करता है और उसकी बुद्धि सफलता-असफलता दोनों में एक समान बनी रहती है। उसको पाप-पुण्य का कोई लेप नहीं लगता। यह समता का भाव ही योग है। इसी समत्व योग से कर्मों में कुशलता प्राप्त होती है, अर्थात् कर्मों पर आधिपत्य प्राप्त होता है। इस तरह कर्मों के स्वामी भाव से कर्म करने वाला, उनके फल से अलिप्त रहता हुआ, जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त होकर परमानन्द प्राप्त करता है। इसलिए तू साम्य भाव से अपने कर्तव्य कर्म कर। परन्तु भेदवाद के शास्त्रों में सुनी हुई बातों को जब तक तेरी बुद्धि, पूर्णतया छोड़कर, समता के भाव में स्थित नहीं होती तब तक कर्मों की उलझन से निकल कर उनके स्वामी भाव की कुशलता प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए तू शास्त्रों की भेद भाव की विषमता पैदा करने वाली बातों को चित्त से हटा दे।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

स्थितप्रज्ञस्य, का, भाषा, समाधिस्थस्य, केशव,
स्थितधीः, किम्, प्रभाषेत, किम्, आसीत, व्रजेत, किम् ॥५४॥

अर्जुनने पूछा कि—

(केशव) हे केशव ! (समाधिस्थस्य) साम्य भाव में स्थित, (स्थित प्रज्ञस्य) स्थिर बुद्धि वाले पुरुष का (का) क्या (भाषा) लक्षण है, (स्थित धी) साम्य भाव में स्थिर बुद्धि पुरुष (किम्) कैसे (प्रभाषेत) बोलता है, (किम्) कैसे (आसीत) बैठता है और (किम्) कैसे (व्रजेत) चलता है अर्थात् उसकी बोल-चाल, रहन-सहन, हल-चल आदि आचरण कैसे होते हैं ?

श्री भगवान उवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

प्रजहाति, यदा, कामान्, सर्वान्, पार्थ, मनोगतान्,
आत्मनि, एव, आत्मना, तुष्ट स्थितप्रज्ञः, तदा, उच्यते ॥५५॥

श्री भगवान बोले कि—

(पार्थ) हे अर्जुन ! (यदा) जब मनुष्य (मनोगतान्) मन में रहने वाली, व्यक्तिगत स्वार्थों की (सर्वान्) सारी (कामान्) कामनाओं को (प्रजहाति) त्याग देता है, (आत्मना) अपने आप से (एव) ही (आत्मनि) आप में (तुष्टः) सतुष्ट, आत्मनिर्भर रहता है, (तदा) तब (स्थितप्रज्ञ) साम्यभाव में स्थिर बुद्धि वाला (उच्यते) कहा जाता है ।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

दुःखेषु, अनुद्विग्नमनाः, सुखेषु, विगतस्पृहः,
वीतरागभयक्रोध, स्थितधी, मुनि, उच्यते ॥५६॥

(दुःखेषु) दुःखों में (अनुद्विग्नमना) जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, (सुखेषु) सुखों के विषय में (विगतस्पृह) जिसकी लालसा नहीं रहती, (वीतराग भय क्रोध.) राग, भय और क्रोध जिसके मिट गए हैं, (मुनि) ऐसा मननशील पुरुष (स्थितधी.) साम्य भाव में स्थिर बुद्धि वाला (उच्यते) कहा जाता है ।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

यः, सर्वत्र, अनभिस्नेहः, तत्, तत्, प्राप्य, शुभाशुभम्,
न, अभिनन्दति, न, द्वेष्टि, तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता ॥५७॥

(तत् तत्) उस उस (शुभाशुभम्) शुभ और अशुभ, अर्थात् अनुकूलता-प्रतिकूलता की (प्राप्य) प्राप्ति होने पर (यः) जो (सर्वत्रः) सब दशाओं में (अनभिस्नेहः) आसक्ति रहित रहता हुआ (न) न (अभिनन्दति) हर्षित होता है, (न) न (द्वेष्टि) द्वेष करता है, अर्थात् अनुकूलता की प्राप्ति में जो अति हर्ष नहीं करता और प्रतिकूलता की प्राप्ति में विषाद नहीं करता, (तस्य प्रज्ञा) उसकी बुद्धि (प्रतिष्ठिता) साम्यभाव में स्थिर है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

यदा, संहरते, च, अयम्, कूर्मः, अङ्गानि, इव, सर्वशः,
इन्द्रियाणि, इन्द्रियार्थेभ्यः, तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता ॥५८॥

(च) और (कूर्मः) जिस तरह कछुआ अपने (अङ्गानि) अंगों को अपनी इच्छानुसार समेट लेता है, (इव) उसी तरह (अयम्) यह समत्व-योगी (यदा) जब (सर्वशः) सब प्रकार से अपनी (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को (इन्द्रियार्थेभ्यः) इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है, अर्थात् अपने वश में रखता हुआ आवश्यकतानुसार विषयों में वर्तता और उनसे निवृत्त होता है, तब (तस्य) उसकी (प्रज्ञा) बुद्धि, साम्यभाव में (प्रतिष्ठिता) स्थिर होती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

विषयाः, विनिवर्तन्ते, निराहारस्य, देहिनः,
रसवर्जम्, रसः, अपि, अस्य, परम्, दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

(निराहारस्य) इन्द्रियों द्वारा विषयों को न भोगने वाले (देहिनः) पुरुष के (विषयाः) विषय तो (विनिवर्तन्ते) कुछ समय के लिए छूट जाते हैं, (रसवर्जम्) पर उनकी चाह नहीं छूटती, परन्तु (अस्य) इस समत्व-योगी की तो (रसः) चाह (अपि) भी, (परम् दृष्ट्वा) सबके अन्तरात्मा के आत्मानुभव से (निवर्तते) छूट जाती है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

यततः, हि, अपि, कौन्तेय, पुरुषस्य, विपश्चितः,
इन्द्रियाणि, प्रमाथीनि, हरन्ति, प्रसभम्, मनः ॥ ६० ॥

(कौन्तेय) हे अर्जुन ! (हि) क्योंकि (यततः) यत्न करते हुए (विपश्चितः) बुद्धिमान् (पुरुषस्य) पुरुष के (अपि) भी (मनः) मन को, (प्रमाथीनि) झकझोर देने वाली (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ (प्रसभम्) जबर्दस्ती (हरन्ति) खींच ले जाती है।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

तानि, सर्वाणि, संयम्य, युक्तः, आसीत, मत्परः,
वशे, हि, यस्य, इन्द्रियाणि, तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

(तानि) इसलिए, उन (सर्वाणि) सब इन्द्रियों को (संयम्य) वश में करके, (मत्परः) सबके अन्तरात्मा रूप मेरे परायण होकर, अर्थात् मन को अन्तरात्मा में लगाकर (युक्तः) साम्य भाव में (आसीत) स्थित होना चाहिए। (हि) क्योंकि (यस्य) जिस पुरुष के (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ (वशे) वश में होती है (तस्य) उसकी (प्रज्ञा) बुद्धि (प्रतिष्ठिता) साम्यभाव में स्थिर होती है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥

ध्यायतः, विषयान्, पुंसः, सङ्गः, तेषु, उपजायते,
सङ्गात्, संजायते, कामः, कामात्, क्रोधः, अभिजायते ॥ ६२ ॥

(विषयान्) विषयों को (ध्यायतः) चिन्तन करने वाले (पुंसः) पुरुष की, (तेषु) उन विषयों में (सङ्गः) आसक्ति (उपजायते) हो जाती है, अर्थात् मन उनमें उलझ जाता है, (सङ्गात्) आसक्ति से (कामः) उन विषयों की प्राप्ति की कामना (संजायते) उत्पन्न होती है; (कामात्) कामना से, उनकी प्राप्ति में विघ्न पड़ने पर (क्रोधः) क्रोध (अभिजायते) उत्पन्न होता है।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

क्रोधात्, भवति, संमोहः, संमोहात्, स्मृतिविभ्रमः,
स्मृतिभ्रंशात्, बुद्धिनाशः, बुद्धिनाशात्, प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

(क्रोधात्) क्रोध से (सम्मोहः) मूढ़ता (भवति) उत्पन्न होती है; (सम्मोहात्) मूढ़ता से (स्मृति विभ्रमः) स्मरण शक्ति बिगड़ जाती है; (स्मृति भ्रंशात्) स्मृति के बिगड़ जाने से (बुद्धिनाशः) बुद्धि, अर्थात् ज्ञान शक्ति नष्ट हो जाती है (बुद्धि नाशात्) और बुद्धि नष्ट हो जाने से (प्रणश्यति) सर्वनाश हो जाता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

रागद्वेषवियुक्तैः, तु, विषयान्, इन्द्रियैः, चरन्,
आत्मवश्यैः, विधेयात्मा, प्रसादम्, अधिगच्छति ॥ ६४ ॥

(तु) परन्तु (विधेयात्मा) अपने वश में किए हुए अन्तःकरण वाला समत्व-योगी, (राग-द्वेष वियुक्तैः) राग द्वेष से रहित होकर, (आत्म वश्यैः) अपने वश में की हुई (इन्द्रियैः) इन्द्रियों द्वारा (विषयान्) विषयों को (चरन्) भोगता हुआ, (प्रसादम्) अन्तःकरण की प्रसन्नता (अधिगच्छति) प्राप्त करता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

प्रसादे, सर्वदुःखानाम्, हानिः, अस्य, उपजायते,
प्रसन्नचेतसः, हि, आशु, बुद्धिः, पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

(प्रसादे) प्रसन्नता से (अस्य) इसके (सर्वदुःखानाम्) सब दुःखों का (हानिः) अभाव (उपजायते) हो जाता है; (प्रसन्नचेतसः) प्रसन्न चित्त वाले समत्व-योगी की (बुद्धिः) बुद्धि (आशु) तत्काल (हि) ही (पर्यवतिष्ठते) साम्यभाव में अच्छी तरह स्थिर हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

न, अस्ति, बुद्धिः, अयुक्तस्य, न, च, अयुक्तस्य, भावना,
न, च, अभावयतः, शान्तिः, अशान्तस्य, कुतः, सुखम् ॥ ६६ ॥

(अयुक्तस्य) साम्यभाव से रहित पुरुष की (बुद्धिः) बुद्धि, निश्चयात्मक (न) नहीं (अस्ति) होती, (च) और (अयुक्तस्य) साम्यभाव से रहित पुरुष की (भावना) अपने आप-आत्मा में श्रद्धा (न) नहीं होती, अर्थात् आत्मविश्वास नहीं होता, (च) और (अभावयतः) श्रद्धाहीन पुरुष को (शांतिः) शांति (न) नहीं होती, (अशांतस्य) शांति रहित पुरुष को (सुखम्) सुख (कुतः) कहाँ ?

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

इन्द्रियाणाम्, हि, चरताम्, यत्, मन, अनुविधीयते,
तत्, अस्य, हरति, प्रज्ञाम्, वायु', नावम्, इव, अम्भसि ॥ ६७ ॥

(हि) क्योंकि (यत्) जो (मन) मन, (चरताम्) विषयों में वर्तने वाली (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों के (अनुविधीयते) पीछे लगा रहता है (तत्) वह, (अस्य) इस संयमहीन पुरुष की (प्रज्ञाम्) बुद्धि को, उसी तरह (हरति) हर लेता है (इव) जिस तरह (अम्भसि) जल में (वायु) हवा (नावम्) नाव को।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

तस्मात्, यस्य, महाबाहो, निगृहीतानि, सर्वश.,
इन्द्रियाणि, इन्द्रियार्थेभ्य., तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

(तस्मात्) इसलिए (महाबाहो) हे अर्जुन ! (यस्य) जिस समत्व-योगी की (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ (इन्द्रियार्थेभ्य) इन्द्रियों के विषयों से संयोग के सम्बन्ध में, (सर्वश.) पूर्णतया (निगृहीतानि) वश में की हुई होती है, (तस्य) उसकी (प्रज्ञा) बुद्धि साम्यभाव में (प्रतिष्ठिता) स्थिर होती है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ॥ ६९ ॥

या, निशा, सर्वभूतानाम्, तस्याम्, जागर्ति, संयमी,
यस्याम्, जाग्रति, भूतानि, सा, निशा, पश्यत, मुने' ॥ ६९ ॥

(सर्वभूतानाम्) भौतिक शरीरों में ही आसक्ति रखने वाले सभी अज्ञानी लोगों की (या) जो (निशा) अज्ञान की रात होती है, (तस्याम्) उसमें (संयमी) समत्व योगी स्थितप्रज्ञ (जागर्ति) जागता है, अर्थात् उसके अन्त.करण में आत्मज्ञान की जाग्रति का प्रकाश रहता है; (यस्याम्) जिस अन्धकार रूपी अज्ञान अवस्था में (भूतानि) भौतिक दृष्टि वाले भेदवादी अज्ञानी लोग (जाग्रति) जागते हैं, अर्थात् केवल भौतिक शरीरों सम्बन्धी विषयों के ज्ञान को ही सच्चा ज्ञान मानकर उसी में ही निमग्न रहते है, (पश्यत मुने.) आत्म दर्शी समत्व योगी के लिए (सा निशा) वह रात होती है।

संगति—इस श्लोक में भगवान आत्मज्ञानी स्थितप्रज्ञ महापुरुष के आचरणों के प्रति, भौतिक शरीरों में आसक्ति रखने वाले भेदवादी अज्ञानी जनता के विरोध

का, अत्यन्त संक्षेप में, विरोधात्मक रात और दिन के रूपक अलंकार द्वारा, तुलनात्मक वर्णन करते हैं। स्थितप्रज्ञ महापुरुष के—सब की एकता के आत्मज्ञान के प्रकाश में साम्यभाव से किए हुए, सब लोगों के हित के व्यवहारों का रहस्य, भेदवादी अज्ञानी लोगों की अन्धकार छाई हुई तामसी बुद्धि के समझ में नहीं आता। इसलिए वे उसका घोर विरोध करके, उसके साथ द्वेष करते हैं और अपने अज्ञान अन्धकार में विपरीत आचरण करके स्वयम् दुःखी होते हैं तथा समाज में विषमता फैलाते हैं; परन्तु स्थितप्रज्ञ महापुरुष जानता है कि ये लोग अज्ञान अन्धकार में पड़े हुए हैं, इसलिए वह उनकी उपेक्षा करके उनसे उदासीन रहता हुआ सबकी एकता के साम्यभाव के व्यवहार करता रहता है, उनमें विचलित नहीं होता।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

आपूर्यमाणम्, अचलप्रतिष्ठम्, समुद्रम्, आपः, प्रविशन्ति, यद्वत्,
तद्वत्, कामाः, यम्, प्रविशन्ति, सर्वे, सः, शान्तिम्, आप्नोति, न, कामकामी ॥७०॥

(यद्वत्) जिस तरह (**अचल प्रतिष्ठम्**) अपनी मर्यादा में अचल बने रहने वाले, (**आपूर्यमाणम्**) सदा परिपूर्ण (**समुद्रम्**) समुद्र में (**आपः**) अनेक नदियों के जल (**प्रविशन्ति**) प्रवेश करते रहते हैं, परन्तु समुद्र अपनी सीमा का उलंघन नहीं करता, (**तद्वत्**) उसी तरह (**यम्**) जिसको (**कामाः**) धन, मान, स्त्री, पुत्र, विषय भोगादि, (**सर्वे**) संसार के सारे पदार्थ (**प्रविशन्ति**) स्वतः ही प्राप्त होते रहते हैं, परन्तु वे उसके अन्तःकरण में किसी प्रकार के हर्ष-शोक, सुख-दुःखादि विकार उत्पन्न नहीं करते, (**सः**) वही समत्व योगी स्थितप्रज्ञ परिपूर्णता का अनुभव करता हुआ (**शान्तिम्**) परमशांति को (**आप्नोति**) प्राप्त होता है, (**न**) न कि (**काम कामी**) अपने से भिन्न सांसारिक पदार्थों की लालसा रखने वाला।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

विहाय, कामान्, यः, सर्वान्, पुमान्, चरति, निःस्पृहः,
निर्ममः, निरहंकारः, सः, शान्तिम्, अधिगच्छति ॥ ७१ ॥

(**यः**) जो (**पुमान्**) पुरुष, व्यक्तिगत स्वार्थों की, (**सर्वान्**) सारी (**कामान्**) कामनाओं को (**विहाय**) त्यागकर, (**निर्ममः**) व्यक्तिगत सम्बन्धों की आसक्ति से रहित, और (**निरहंकार**) व्यक्तिगत अहंकार रहित होकर, (**निस्पृहः**) व्यक्तिगत स्वार्थों की लालसा न रखता हुआ (**चरति**) संसार के व्यवहार करता

है, (स.) वह स्थितप्रज्ञ, समत्व-योगी (शान्तिम्) शांति को (अधिगच्छति) प्राप्त होता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

एषा, ब्राह्मी, स्थितिः, पार्थ, न, एनाम्, प्राप्य, विमुह्यति,
स्थित्वा, अस्याम्, अन्तकाले, अपि, ब्रह्मनिर्वाणम्, ऋच्छति ॥ ७२ ॥

(पार्थ) हे अर्जुन ! (एषा) यही (ब्राह्मी) ब्रह्म भाव की (स्थितिः) स्थिति है, (एनाम्) समत्व योगी स्थितप्रज्ञ, इसको (प्राप्य) प्राप्त होकर, (विमुह्यति) मोहित (न) नहीं होता, (अन्तकाले) अन्तकाल में (अपि) भी (अस्याम्) इस भाव में (स्थित्वा) स्थित रहता हुआ, (ब्रह्मनिर्वाणम्) ब्रह्म निर्वाण पद को (ऋच्छति) प्राप्त हो जाता है।

॥ दूसरा अध्याय समाप्त ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

ज्यायसी, चेत्, कर्मणः, ते, मता, बुद्धिः, जनार्दन,
तत्, किम्, कर्मणि, घोरे, माम्, नियोजयसि, केशवः ॥ १ ॥

अर्जुन बोला कि—

(जनार्दन) हे जनार्दन ! (चेत्) यदि (ते) आपके (मता) मत से (कर्मणः) कर्म की अपेक्षा (बुद्धिः) बुद्धि अर्थात् ज्ञान (ज्यायसी) श्रेष्ठ है, (तत्) तो (केशव) हे केशव ! (माम्) मुझे (घोरे) युद्ध के घोर, हिंसात्मक (कर्मणि) कर्म में (किम्) क्यों (नियोजयसि) लगाते हो।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

व्यामिश्रेण, इव, वाक्येन, बुद्धिम्, मोहयसि, इव, मे,
तत्, एकम्, वद, निश्चित्य, येन, श्रेयः, अहम्, अवाप्नुयाम् ॥ २ ॥

(व्यामिश्रेण) मिले हुए (इव) से, दुहरे (वाक्येन) वचनों से, आप (मे) मेरी (बुद्धिम्) बुद्धि को (मोहयसि) मोहित करते हो, (इव) ऐसा मुझे लगता है; (तत्) वह (एकम्) एक बात (निश्चित्य) निश्चय करके (वद) कहिये (येन) जिससे (अहम्) मैं (श्रेयः) कल्याण को (अवाप्नुयाम्) प्राप्त होऊँ।

संगति—दूसरे अध्याय के ११ से ३० श्लोकों तक भगवान् ने केवल आत्मज्ञान का उपदेश दिया। फिर श्लोक ३८ से लेकर अध्याय के अन्त तक आत्मज्ञान में स्थित, समता के भाव की बुद्धि को ही महत्त्व दिया। इस पर यह प्रश्न सहज ही उठता है कि यदि आत्मज्ञान की बुद्धि ही श्रेयस्कर है, तो कर्म करने की क्या आवश्यकता है ? निरन्तर आत्मचिन्तन में ही जीवन क्यों न बिताया जाय ? इसी आशय का अर्जुन का उपर्युक्त प्रश्न है, जिसके उत्तर में भगवान् आगे

विस्तारपूर्वक एक ही निश्चित निर्णय देते है, कि बुद्धि मे सबकी एकता के आत्म-ज्ञान का निश्चय रखते हुए, कर्मेन्द्रियो से अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म लोकसग्रह रूपी यज्ञ के लिए करते रहना ही सबके लिए श्रेयस्कर है जिससे समाज की सुव्यवस्था बनी रहे।

श्री भगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३॥

लोके, अस्मिन्, द्विविधा, निष्ठा, पुरा, प्रोक्ता, मया, अनघ,
ज्ञानयोगेन, साख्यानाम्, कर्मयोगेन, योगिनाम्॥ ३॥

श्री भगवान् बोले कि—

(अनघ) हे निष्पाप अर्जुन! (अस्मिन्) इस (लोके) लोक मे (द्विविधा) दो प्रकार की (निष्ठा) निष्ठा, अर्थात् जीवन की स्थिति (मया) मेरे द्वारा (पुरा) पहले (प्रोक्ता) कही गई है, (साख्यानाम् ज्ञानयोगेन) साख्यसिद्धान्त के अनुयायियो की ज्ञानयोग के अवलम्बन से, केवल आत्मज्ञान मे लगे रहने की, और (योगिनाम्) वेदान्त सिद्धान्त के अनुयायी समत्व योगियो की (कर्मयोगेन) कर्मयोग के अवलम्बन से, आत्मज्ञान सहित अपने कर्तव्य कर्म करते रहने की।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४॥

न, कर्मणाम्, अनारम्भात्, नैष्कर्म्यम्, पुरुषः, अश्नुते,
न, च, सन्यसनात्, एव, सिद्धिम्, समधिगच्छति॥ ४॥

(पुरुष) मनुष्य (न) न तो (कर्मणाम्) कर्मों के (अनारम्भात्) आरम्भ न करने से, अर्थात् निकम्मे बैठे रहने से (नैष्कर्म्यम्) निष्कर्मता को (अश्नुते) प्राप्त होता है, (च) और (न) न (सन्यसनात्एव) सन्यास ले लेने से ही (सिद्धिम्) श्रेय साधन रूप सिद्धि को (समधिगच्छति) प्राप्त होता है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥

न, हि, कश्चित्, क्षणम्, अपि, जातु, तिष्ठति, अकर्मकृत्,
कार्यते, हि, अवश, कर्म, सर्व, प्रकृतिजै, गुणैः॥ ५॥

(हि) क्योकि (कश्चित्) कोई भी (जातु) कभी (क्षणम्) क्षणमात्र (अपि) भी (अकर्मकृत्) बिना कर्म किये (न) नही (तिष्ठति) रहता है, (हि)

निःसंदेह (सर्वः) सब लोग, (प्रकृतिजैः) प्रकृति से उत्पन्न हुए (गुणैः) गुणों द्वारा, अपने स्वाभाविक गुणों के (अवशः) विवश होकर (कर्म) कर्म (कार्यते) करते ही रहते हैं।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

कर्मेन्द्रियाणि, संयम्य, यः, आस्ते, मनसा, स्मरन्,
इन्द्रियार्थान्, विमूढात्मा, मिथ्याचारः, सः, उच्यते ॥ ६ ॥

(यः) जो (विमूढात्मा) विचारहीन पुरुष, (कर्मेन्द्रियाणि) हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों को (संयम्य) हठ से रोककर, (इन्द्रियार्थान्) इन्द्रियों के विषयों को (मनसा) मन से (स्मरन्) चिन्तन करता हुआ (आस्ते) निकम्मा बैठा रहता है, (सः) वह (मिथ्याचारः) मिथ्याचारी, अर्थात् पाखंडी (उच्यते) कहा जाता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

यः, तु, इन्द्रियाणि, मनसा, नियम्य, आरभते, अर्जुन,
कर्मेन्द्रियैः, कर्मयोगम्, असक्तः, सः, विशिष्यते ॥ ७ ॥

(तु) परन्तु (अर्जुन) हे अर्जुन! (यः) जो पुरुष, (मनसा) मन से (इन्द्रियाणि) इंद्रियों को (नियम्य) वश में करके, (असक्तः) आसक्तिरहित होकर, (कर्मेन्द्रियैः) कर्मेन्द्रियों से (कर्मयोगम्) कर्मयोग का (आरभते) आचरण करता है (सः) वह (विशिष्यते) श्रेष्ठ है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

नियतम्, कुरु, कर्म, त्वम्, कर्म, ज्यायः, हि, अकर्मणः,
शरीरयात्रा, अपि, च, ते, न, प्रसिद्ध्येत्, अकर्मणः ॥ ८ ॥

(त्वम्) तू अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यता के अनुसार, (नियतम्) अपना नियत, (कर्म) कर्तव्य कर्म (कुरु) कर, (हि) क्योंकि (अकर्मणः) कर्म न करने की अपेक्षा (कर्म) कर्म करना ही (ज्यायः) श्रेष्ठ है, (च) तथा (अकर्मणः) कर्म न करने से (ते) तेरा (शरीरयात्रा) शरीर निर्वाह (अपि) भी (न) नहीं (प्रसिद्ध्येत्) हो सकेगा।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्त सङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

यज्ञार्थात्, कर्मणः, अन्यत्र, लोकः, अयम्, कर्मबन्धनः,
तदर्थम्, कर्म, कौन्तेय, मुक्तसङ्गः, समाचर ॥ ६ ॥

(यज्ञार्थात्) यज्ञ, अर्थात् समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहयोग देने के लिए, अपनी योग्यता के कर्तव्य (कर्मणः) कर्म, निष्काम भाव से करने के सिवाय, (अन्यत्र) केवल व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए किये जाने वाले, दूसरे कर्मों से ही (अयम्) यह (लोक) मानव (कर्मबन्धन) कर्म बन्धन में पड़ता है, इसलिए (कौन्तेय) हे अर्जुन ! (मुक्तसङ्ग) तू, आसक्ति रहित होकर (तत् अर्थम्) उस यज्ञ के निमित्त (कर्म) अपना कर्तव्य कर्म (समाचर) अच्छी तरह करता रहे।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

सहयज्ञाः, प्रजाः, सृष्ट्वा, पुरा, उवाच, प्रजापतिः,
अनेन, प्रसविष्यध्वम्, एष, व, अस्तु, इष्टकामधुक् ॥१०॥

(पुरा) पहले (प्रजापति) सृष्टि रचना की सूक्ष्म आधिदैविक शक्ति, समष्टि संकल्प रूप प्रकृति, अथवा प्रजापति ब्रह्मा ने, (सहयज्ञा) सबके लिए अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म करने के द्वारा, एक-दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करने के, यज्ञ सहित (प्रजा) प्रजा को (सृष्ट्वा) रचकर, अर्थात् मानव समाज का निर्माण करके (उवाच) कहा, अर्थात् यह व्यवस्था की कि अपने-अपने कर्तव्य कर्म करने के (अनेन) इस यज्ञ द्वारा, सब लोग (प्रसविष्यध्वम्) वृद्धि को प्राप्त होवो, अर्थात् इससे फलो-फूलो, और (एष) यही (व) तुम लोगों को (इष्टकामधुक्) जीवन में आवश्यक पदार्थ देने वाला (अस्तु) होवे।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

देवान्, भावयत, अनेन, ते, देवाः, भावयन्तु, व,
परस्परम्, भावयन्त, श्रेय, परम्, अवाप्स्यथ ॥११॥

(अनेन) इस यज्ञ द्वारा समष्टि समाज की (देवान्) सूक्ष्म आधिदैविक शक्तियां रूप—देवताओं को (भावयत) पुष्ट अर्थात् पूरित करो, और (ते) वे (देवाः) समष्टि समाज की सूक्ष्म आधिदैविक शक्तियां रूप—देवता लोग (व) तुम लोगों को (भावयन्तु) पुष्ट करें, अर्थात् तुम्हारी व्यक्तिगत आवश्यकताएँ पूरी करें; (परस्परम्) इस प्रकार अपने-अपने कर्तव्य कर्म करके, एक-दूसरे को (भावयन्त) पुष्टि अर्थात् पूर्ति करते हुए, (परम्) आधिभौतिक, आधिदैविक और

आध्यात्मिक शान्ति, पुष्टि और तुष्टि रूप परम (श्रेयः) श्रेय को (अवाप्स्यथ) प्राप्त होवोगे।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

इष्टान्, भोगान्, हि, वः, देवाः, दास्यन्ते, यज्ञभाविताः,
तैः, दत्तान्, अप्रदाय, एभ्यः, यः, भुङ्क्ते, स्तेन, एव, सः ॥१२॥

(हि) क्योंकि (यज्ञभाविताः) इस यज्ञ द्वारा पुष्ट अर्थात् पूरित हुए (देवाः) समाज की समष्टि आधिदैविक शक्तियाँ रूप-देवता लोग (वः) तुम्हारे लिए (इष्टान्) इच्छित, अर्थात् जीवन के लिए आवश्यक (भोगान्) पदार्थ (दास्यन्ते) देंगे अर्थात् उत्पन्न करेंगे, (तैः) परन्तु उनके द्वारा (दत्तान्) दिये हुए पदार्थों को (यः) जो पुरुष, (एभ्यः) इनके लिए (अप्रदाय) पीछा दिये विना (भुङ्क्ते) भोगता है, अर्थात् सबके सहयोग से प्राप्त हुए पदार्थों में से दूसरों को उनका उचित भाग न देकर, अकेला आप ही भोगता है, (सःएव) वह निश्चय ही (स्तेन) दूसरों का हक मारने वाला चोर है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

यज्ञशिष्टाशिनः, सन्तः, मुच्यन्ते, सर्वकिल्बिषैः,
भुञ्जते, ते, तु, अघम्, पापाः, ये, पचन्ति, आत्मकारणात् ॥१३॥

(यज्ञशिष्टाशिनः) यज्ञ से बचे हुए भाग को भोगने वाले, अर्थात् अपने कर्तव्य कर्म करने से प्राप्त होने वाले अपने भाग के पदार्थों को ही अपने उपयोग में लेने वाले (सन्तः) सज्जन पुरुष, (सर्वकिल्विषैः) सब पापों से (मुच्यन्ते) मुक्त हो जाते हैं; (तु) परन्तु (ये) जो (पापाः) पापी लोग दूसरों को, उनके भाग के पदार्थों से वंचित रखकर (आत्मकारणात्) केवल अपने ही लिए (पचन्ति) पकाते हैं, (ते) वे (अघम्) पापों को ही (भुञ्जते) भोगते हैं।

संगति—ऊपर के ४ श्लोकों में यज्ञ, प्रजापति और देवताओं के रूपक देकर कर्म करने की अनिवार्यता पर जो जोर दिया गया है, उसका भवार्थ यह है कि यह संसार स्वभाव ही से कर्ममय है। सब की अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म करने पर ही इसका अस्तित्व निर्भर है, इसीसे यह हरा-भरा रहता है। इसलिए अपने कर्तव्य कर्म करने से किसी को मुँह नहीं मोड़ना चाहिए, किन्तु अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को सब के स्वार्थों के साथ जोड़कर, अपने व्यष्टि कर्मों से सबको सहयोग देते हुए, एक-दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करते हुए अपनी आवश्यकताएँ

पूरी करनी चाहिए।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥

अन्नात्, भवन्ति, भूतानि, पर्जन्यात्, अन्नसम्भवः,
यज्ञात्, भवति, पर्जन्यः, यज्ञः, कर्मसमुद्भवः॥ १४॥

(भूतानि) सारे भूत प्राणी (अन्नात्) अन्न अर्थात् खाद्य पदार्थों से (भवन्ति) होते है, अर्थात् सब भौतिक शरीरों का अस्तित्व खाद्य पदार्थों पर निर्भर है; (अन्न) अन्न अर्थात् खाद्य पदार्थ, (पर्जन्यात् सम्भव.) समष्टि उत्पादक शक्ति से होते हैं, (पर्जन्य) समष्टि उत्पादक शक्ति (यज्ञात्) यज्ञ से (भवति) होती है; (यज्ञ) यज्ञ (कर्मसमुद्भव) अपने-अपने कर्तव्य कर्म करने से होता है।

कर्मब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

कर्म, ब्रह्मोद्भवम्, विद्धि, ब्रह्म, अक्षरसमुद्भवम्,
तस्मात्, सर्वगतम्, ब्रह्म, नित्यम्, यज्ञे, प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

(कर्म) कर्म को (ब्रह्मोद्भवम्) प्रकृति से उत्पन्न हुआ, (ब्रह्म) प्रकृति को (अक्षरसमुद्भवम) अविनाशी परमात्मा के सकल्प से उत्पन्न हुई (विद्धि) जान, (तस्मात्) इसलिए (सर्वगतम्) सर्व व्यापक (ब्रह्म) परमात्मा (नित्यम्) सदा ही (यज्ञे) कर्म रूप ससार चक्र चलाने के यज्ञ मे (प्रतिष्ठितम्) ओत-प्रोत व्याप्त होकर स्थित है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ १६॥

एवम्, प्रवर्तितम्, चक्रम्, न, अनुवर्तयति, इह, य,
अघायु, इन्द्रियाराम, मोघम्, पार्थ, स, जीवति॥ १६॥

(पार्थ) हे अर्जुन! (य) जो मनुष्य (एवम्) इस प्रकार परमात्मा से परिपूर्ण, कर्म रूप से (प्रवर्तितम्) प्रवर्त किये हुए (चक्रम्) ससार चक्र के (न अनुवर्तयति) अनुकूल नही वर्तता, अर्थात् इस यज्ञ चक्र को चलाने मे योग देने के लिए अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म नही करता, (स) वह (इन्द्रियाराम.) निकम्मा रहकर इन्द्रियो को आराम देने वाला निरुद्यमी, (अघायु) स्वार्थी, पापी मनुष्य (इह) इस ससार मे (मोघम्) व्यर्थ ही (जीवति) जीता है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

यः, तु, आत्मरतिः, एव, स्यात्, आत्मतृप्तः, च, मानवः,
आत्मनि, एव, च, सन्तुष्टः, तस्य, कार्यम्, न, विद्यते ॥ १७ ॥

(यः) जो (मानवः) मनुष्य (आत्मरति एव) सब के एकत्व भाव आत्मा ही में रत, (च) और (आत्मतृप्तः) आत्मा ही में तृप्त, (च) और (आत्मनि एव) आत्मा ही में (सन्तुष्टः) सन्तुष्ट (स्यात्) होवे, (तस्य) उसके अपने अलग व्यक्तित्व के लिए (तु) तो (कार्यम्) कोई अवश्य कर्तव्य (न विद्यते) नहीं रहता।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

न, एव, तस्य, कृतेन, अर्थः, न, अकृतेन, इह, कश्चन,
न, च, अस्य, सर्वभूतेषु, कश्चित्, अर्थ, व्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

(इह) इस संसार में (न) न तो (तस्य) उसका (कृतेन) कुछ करने से (एव) ही (कश्चन) कोई (अर्थः) प्रयोजन रहता है, (न) न (अकृतेन) नहीं करने से ही, (च) तथा (अस्य) इसका (सर्वभूतेषु) सम्पूर्ण भूत प्राणियों से (कश्चित्) कुछ भी (अर्थ व्यपाश्रयः) अपने व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि का सम्बन्ध (न) नहीं रहता।

परन्तु अपने व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि की आसक्ति से रहित होकर, केवल लोक संग्रह के लिए वह अपना कर्तव्य कर्म करता रहता है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

तस्मात्, असक्तः, सततम्, कार्यम् कर्म, समाचर,
असक्तः, हि, आचरन्, कर्म, परम्, आप्नोति, पूरुषः ॥ १९ ॥

(तस्मात्) इसलिए, तू भी (असक्तः) अपने व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि की आसक्ति के बिना, (सततम्) निरन्तर (कार्यम्) अपने कर्तव्य (कर्म) कर्म का (समाचर) अच्छी प्रकार आचरण करता रह; (हि) क्योंकि (असक्तः) अनासक्त (पूरुषः) पुरुष (कर्म) कर्म (आचरन्) करता हुआ ही (परम्) परमानन्द को (आप्नोति) प्राप्त होता है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोक संग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

कर्मणा, एव, हि, संसिद्धिम्, आस्थिता, जनकादय,
लोकसंग्रहम्, एव, अपि, संपश्यन्, कर्तुम्, अर्हसि ॥ २० ॥

(जनकादयः) जनक आदि ज्ञानी जन, आसक्ति रहित (कर्मणा) अपने कर्तव्य कर्म करते हुए (एव) ही (संसिद्धिम्) परम सिद्धि अर्थात् परमानन्द परमात्म भाव मे (आस्थिता) पूर्णतया स्थित रहे हैं; (हि) इसलिए (लोकसंग्रहम्) लोक-संग्रह पर (संपश्यन्) दृष्टि रखते हुए, समाज की सुव्यवस्था के ध्येय से (अपि) तुझे भी (कर्तुम्) अपना कर्तव्य कर्म करना (एव) ही (अर्हसि) चाहिए।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

यत्, यत्, आचरति, श्रेष्ठः, तत्, तत्, एव, इतर, जनः,
सः, यत्, प्रमाणम्, कुरुते, लोक, तत्, अनुवर्तते ॥ २१ ॥

(श्रेष्ठ) श्रेष्ठ पुरुष (यत्) जो (यत्) जो (आचरति) आचरण करता है, (इतरः) अन्य (जन) लोग भी (तत्) उस (तत्) उसका (एव) ही, देखा-देखी अनुसरण करते हैं, (सः) वह श्रेष्ठ पुरुष (यत्) जो (प्रमाणम्) प्रमाण मानकर (कुरुते) करता है, (लोकः) साधारण लोग (तत्) उसके (अनुवर्तते) अनुसार ही वर्तते हैं।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

न, मे, पार्थ, कर्तव्यम्, त्रिषु, लोकेषु, किञ्चन,
न, अनवाप्तम्, अवाप्तव्यम्, वर्ते, एव, च, कर्मणि ॥ २२ ॥

(पार्थ) हे अर्जुन! यद्यपि (मे) मुझ सर्वात्मा को (त्रिषु) तीनों (लोकेषु) लोकों में, अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों अवस्थाओं मे (किञ्चन) कुछ भी (कर्तव्यम्) अवश्य कर्तव्य (न अस्ति) नहीं है, (च) तथा (अवाप्तव्यम्) प्राप्त होने योग्य कोई भी वस्तु (अनवाप्तम्) अप्राप्त (न) नहीं है, तो भी मैं (कर्मणि) कर्म में (एव) ही (वर्ते) वर्तता हूं अर्थात् कर्म करता ही रहता हूं।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।२३।।

यदि, हि, अहम्, वर्तेयम्, जातु, कर्मणि, अतन्द्रितः ।
मम, वर्त्म, अनुवर्तन्ते, मनुष्याः, पार्थ, सर्वशः ।।२३।।

(हि) क्योंकि (यदि) यदि (अहम्) मैं (जातु) कभी (अतन्द्रितः) तत्परता से (कर्मणि) कर्म में (न) नहीं (वर्तेयम्) बरतूँ, अर्थात् कर्म नहीं करूँ तो (पार्थ) हे अर्जुन ! (मनुष्याः) मनुष्य लोग (सर्वशः) सब प्रकार से (मम) मेरे (वर्त्म) वर्ताव के (अनुवर्तन्ते) अनुसार ही वर्तने लग जाएँ ।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।।२४।।

उत्सीदेयुः, इमे, लोका, न, कुर्याम्, कर्म, चेत्, अहम्,
संकरस्य, च, कर्ता, स्याम्, उपहन्याम्, इमा, प्रजाः ।।२४।।

(चेत्) यदि (अहम्) मैं (कर्म) कर्म (न कुर्याम्) नहीं करूँ तो (इमे) ये सब (लोकाः) लोक (उत्सीदेयुः) उजड़ जाएँ (च) और (संकरस्य) वर्ण संकरता का (कर्ता) करने वाला (स्याम्) मैं ही होऊँ, अर्थात् चातुर्वर्ण व्यवस्था का बिगाड़ने वाला होऊँ, तथा (इमा प्रजाः) इस सारी प्रजा को (उपहन्याम्) नाश करने वाला बनूं ।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।२५।।

सक्ताः, कर्मणि अविद्वान्सः यथा, कुर्वन्ति भारत ।
कुर्यात्, विद्वान्, तथा, सक्तः, चिकीर्षुः, लोकसंग्रम् ।।२५।।

(भारत) हे भारत ! (कर्मणि) कर्ममय प्रकृति के गुणों के वश में हुए, स्वभाव से ही कर्म में (सक्ताः) आसक्त, (अविद्वान्सः) अज्ञानी लोग (यथा) जिस तरह अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए (कुर्वन्ति) कर्म करते हैं, (तथा) उसी तरह (विद्वान्) ज्ञानी पुरुष (असक्तः) व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति से रहित होकर, (लोकसंग्रहम्) समाज की सुव्यवस्था रूपी लोक संग्रह की (चिकीर्षुः) इच्छा से (कुर्यात्) अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म करे ।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ।।२६।।

न, बुद्धिभेदम्, जनयेत्, अज्ञानाम्, कर्मसङ्गिनाम्,
जोषयेत्, सर्वकर्माणि, विद्वान्, युक्त, समाचरन् ॥२६॥

(विद्वान्) ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि (कर्मसङ्गिनाम्) कर्ममय प्रकृति के गुणो मे बँधे हुए, स्वभाव से ही कर्मो मे लगे रहने वाले (अज्ञानाम्) अज्ञानियो की (बुद्धिभेदम्) बुद्धि मे भेद (न जनयेत्) उत्पन्न न करे, अर्थात् उनको कर्म करने से विचलित न करे, (युक्त.) किन्तु स्वय साम्यभाव मे जुडा हुआ (सर्वकर्माणि) अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति बिना,सब कर्मों को लोक सग्रह के लिए, (समाचरन्) अच्छी प्रकार करता हुआ, (जोषयेत्) उनको भी उसी प्रकार लोक सग्रह के लिए कर्म करने का आदर्श दिखाकर, उस विधि मे कर्म करने मे लगाये रखे।

सगति—दूसरे अध्याय के ४७वें श्लोक से आरम्भ करके सबकी एकता के आत्मज्ञान पूर्वक, अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म, व्यक्तिगत स्वार्थ और व्यक्तित्व के अहकार की आसक्ति छोडकर, साम्य भाव से करने का विधान उस अध्याय के अन्त तक, सक्षेप से किया गया और ४६वें श्लोक मे कर्म की अपेक्षा बुद्धि अर्थात् ज्ञान का स्थान ऊँचा बताया गया। अब आगे के अध्यायो मे आत्मज्ञान सहित अपने-अपने कर्तव्य कर्म, साम्य भाव से करने के उसी व्यावहारिक वेदान्त की विस्तृत व्याख्या, अर्जुन के प्रश्न के उत्तर रूप मे की गई है। इस अध्याय के आरम्भ मे अर्जुन पूछता है कि जब कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है तो आप मुझे लडाई जैसे घोर हिंसात्मक कर्म मे क्यो लगाते हो ? जिसके उत्तर मे भगवान् कहते है कि यद्यपि आत्मज्ञान रहित, कोरे कर्म की अपेक्षा ज्ञान का स्थान बहुत ऊँचा है, और ससार मे ज्ञाननिष्ठा तथा कर्म निष्ठा दोनो मार्ग प्रचलित है, परन्तु कर्म रहित कोरा ज्ञान अधिक हानिकर, मिथ्याचार(पाखण्ड) है। कोई भी उस(कोरे ज्ञान) मे निरन्तर लगा भी नही रह सकता; चाहे वह कितना ही ज्ञानी होने का दावा क्यो न करे। शरीर निर्वाह के लिए अपने-अपने स्वभाव के अनुसार कर्म सबको करने ही पडते है, यह प्रकृति का अटल नियम है। अगर कोई हठ करके हाथो से कर्म करना छोडकर सन्यास ले लेता है,तो भी मन से उसका चिन्तन नही छूटता। इसलिए कर्म छोडने का प्रयास करना उचित नही, किन्तु वह पाखण्ड है।

सच्चा मार्ग तो सबकी एकता का आत्मज्ञान बुद्धि मे रखते हुए, उस आत्मज्ञान की समत्व बुद्धि से, अपनी-अपनी योग्यता के सासारिक व्यवहार, सारे समाज के जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करने मे सहयोग देने रूपी यज्ञ करने का है। इस तरह अपने व्यक्तित्व के अहकार और व्यक्तिगत स्वार्थों को समष्टि मे सम्मिलित करके, अपने कर्तव्य कर्म करते रहने से, प्रत्येक व्यक्ति के कर्मों के योग द्वारा सारे समाज की आवश्यकताएँ पूरी होती रहेगी, और समाज की आवश्यकताएँ

पूरी होने से, उसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति का जीवन-निर्वाह भी पूर्ण सफलता और सुख शान्तिपूर्वक सहज ही होता रहेगा, साथ ही कर्मों का कोई बन्धन भी नहीं होगा। सृष्टि की रचना ही, एक-दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करने में सहयोग देते रहने के इसी 'यज्ञ चक्र' पर निर्भर है। जो इस 'यज्ञ चक्र' में भाग नहीं लेता, अपने को दूसरों से अलग समझकर केवल अपने व्यक्तिगत कल्याण, व्यक्तिगत स्वार्थ और व्यक्तिगत ऐश-आराम में ही लगा रहता है, अथवा आलस्य और प्रमाद में निकम्मा बैठा रहता है, वह दूसरों के हक छीनने की चोरी करता है; उसका जीना समाज पर व्यर्थ बोझ होता है। जिनको आत्मज्ञान होता है, वे सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करते हैं। इसलिए उनके अलग व्यक्तित्व के लिए कुछ भी करने या न करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता; परन्तु वे सबके हित के लिए, व्यक्तित्व की आसक्ति छोड़कर, समाज की सुव्यवस्था रूप लोकसंग्रह के लिए कर्म करते रहते हैं। भगवान् अर्जुन को उसी तरह के जनकादि आत्मज्ञानी पुरुषों का तथा स्वयं अपना उदाहरण देकर कहते हैं, कि तू भी अपने व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति छोड़कर, अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म लोकसंग्रह के लिए करता रह। क्योंकि जनसाधारण बड़े आदमियों के आचरणों का ही अनुकरण करता है। इसलिए, व्यक्तित्व का अहंकार रखनेवाले अज्ञानी लोगों की बुद्धि में भेद उत्पन्न करके, उनसे कर्म करना नहीं छुड़ाना चाहिए। तू भी स्वयं दूसरों से भिन्न, अपने कर्तापन के अहंकार तथा कर्मफल की आशा और ममता की आसक्ति तथा चिन्ता से रहित होकर सबके साथ सहयोग देते हुए, अच्छी तरह कर्म करता हुआ, जन साधारण को आदर्श दिखाकर, संसार चक्र चलाने के लिए उनको कर्म करने में लगाये रख।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

प्रकृतेः, क्रियमाणानि, गुणैः, कर्माणि, सर्वशः,
अहंकार, विमूढात्मा, कर्ता, अहम्, इति, मन्यते ॥ २७ ॥

(सर्वशः) सारे (कर्माणि) कर्म, (प्रकृतेः) समष्टि संकल्प रूप क्रियाशील प्रकृति के (गुणैः) गुणों द्वारा (क्रियमाणानि) किये हुए होते हैं, अर्थात् समष्टि शक्तियों के योग से होते हैं; पर (अहंकार) अपने अलग व्यक्तित्व के अहंकार से (विमूढात्मा) मोहित हुआ अज्ञानी पुरुष (इति) ऐसा (मन्यते) मानता है कि (अहम्) मैं अकेला ही कर्म का (कर्ता) करता हूँ।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

तत्त्ववित्, तु, महाबाहो, गुणकर्मविभागयो,
गुणा, गुणेषु, वर्तन्त, इति, मत्वा, न, सज्जते ॥ २८ ॥

(तु) परन्तु (महाबाहो) हे महाबाहो ! (गुणकर्मविभागयो.) गुण और कर्म, दोनो के विभाग के, अर्थात् गुणो के अनुसार कर्म होते हैं, (तत्त्ववित्) इस रहस्य को जाननेवाला तत्त्वज्ञानी पुरुष, (इति) ऐसे (मत्वा) मानकर, कि (गुणा.) तीनो गुण ही (गुणेषु) गुणो मे (वर्तन्ते) वर्तते है, अर्थात् समष्टि शक्तियो के परस्पर के योग से सारे काम हो रहे है, (न सज्जते) कर्मों मे आसक्त नही होता ।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

प्रकृते, गुणसमूढा, सज्जन्ते, गुणकर्मसु,
तान्, अकृत्स्नविद, मन्दान्, कृत्स्नवित्, न, विचालयेत् ॥ २९ ॥

(प्रकृते) प्रकृति के (गुणसमूढा) गुणो से मोहित हुए अज्ञानी लोग, अर्थात् गुण-कर्म विभाग के उपर्युक्त रहस्य को न समझने वाले लोग, (गुण कर्मसु) गुण और कर्मों मे (सज्जन्ते) उलझ रहते हैं। (तान्) उन (अकृत्स्नवित्) अल्पज्ञ (मन्दान्) मन्द बुद्धि के लोगो को, (कृत्स्नवित्) तत्त्वज्ञानी सर्वज्ञ पुरुष (न विचालयेत्) कर्म करने मे विचलित न करे ।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्म चेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

मयि, सर्वाणि, कर्माणि, सन्यस्य, अध्यात्म, चेतसा,
निराशी, निर्ममः, भूत्वा, युध्यस्व, विगतज्वर ॥ ३० ॥

(सर्वाणि) इन सारे (कर्माणि) कर्मों को (अध्यात्म चेतसा) सबकी एकता के आत्मज्ञान से (मयि) मुझ, समष्टि भाव मे (सन्यस्य) समर्पण करके, अर्थात् अपने व्यष्टि कर्मों को समष्टि समाज के अन्तर्गत करके, (निराशी निर्मम) व्यक्तिगत स्वार्थ की आशा और व्यक्तिगत सम्बन्धो की ममता से रहित (भूत्वा) होकर, (विगतज्वर) शोक-सन्ताप त्यागकर (युध्यस्व) तू युद्ध कर ।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

ये, मे, मतम्, इदम्, नित्यम्, अनुतिष्ठन्ति, मानवाः,
श्रद्धावन्तः, अनसूयन्तः, मुच्यन्ते, ते, अपि, कर्मभिः ॥ ३१ ॥

(ये) जो (मानवाः) लोग (अनसूयन्तः) दोष दृष्टि से रहित होकर (श्रद्धावन्तः) श्रद्धा से युक्त हुए (मे) मेरे (इदम्) इस (नित्यम्) सनातन (मतम्) मत के (अनुतिष्ठन्ति) अनुसार आचरण करते हैं, (ते) वे लोग (अपि) भी (कर्मभिः) कर्मों के बन्धनों से (मुच्यन्ते) छूट जाते हैं।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

ये, तु, एतत्, अभ्यसूयन्तः, न, अनुतिष्ठन्ति, मे, मतम्,
सर्वज्ञानविमूढान्, तान्, विद्धि, नष्टान्, अचेतसः ॥ ३२ ॥

(तु) परन्तु (ये) जो (अचेतसः) विवेकहीन लोग, (अभ्यसूयन्तः) दोष दृष्टि रखते हुए, (मे) मेरे (एतत्) इस (मतम्) मत के (न अनुतिष्ठन्ति) अनुसार आचरण नहीं करते, (तान्) उन (सर्वज्ञानविमूढान्) निरे मूर्खों को (नष्टान्) नष्ट हुए (विद्धि) जानो।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

सदृशम्, चेष्टते, स्वस्याः, प्रकृतेः, ज्ञानवान्, अपि,
प्रकृतिम्, यान्ति, भूतानि, निग्रहः, किम्, करिष्यति ॥ ३३ ॥

(ज्ञानवान्) ज्ञानी पुरुष (अपि) भी (स्वस्याः) अपनी (प्रकृतेः) प्रकृति के (सदृशम्) अनुसार (चेष्टते) अपनी स्वाभाविक योग्यता के कर्म करता रहता है। (भूतानि) भौतिक शरीरों में आसक्त साधारण लोग तो (प्रकृतिम्) क्रियाशील प्रकृति के (यान्ति) सर्वथा अधीन रहते हैं; (निग्रहः) वहाँ जबर्दस्ती कर्म न करने का हठ (किम् करिष्यति) क्या करेगा।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

इन्द्रियस्य, इन्द्रियस्य, अर्थे, रागद्वेषौ, व्यवस्थितौ,
तयोः, न, वशम्, आगच्छेत्, तौ, हि, अस्य, परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

(इन्द्रियस्य) इन्द्रियों का (इन्द्रियस्य) इन्द्रियों के (अर्थे) व्यापारों की (रागद्वेषौ) अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष होना (व्यवस्थितौ) स्वभाविक है; (तयोः) उनके अर्थात् राग और द्वेष के (वशम्) आधीन (न) नहीं

(प्रागच्छेत्) होना चाहिए, (हि) क्योंकि (तौ) वे दोनो (अस्य) इस मनुष्य के (परिपन्थिनौ) पथ भ्रष्ट करने वाले हैं।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

श्रेयान्, स्वधर्मः, विगुणः, परधर्मात्, स्वनुष्ठितात्
स्वधर्मे, निधनम्, श्रेयः, परधर्मः, भयावहः ॥ ३५ ॥

(स्वनुष्ठितात्) अच्छी प्रकार आचरण किये हुए, सत्त्व गुण प्रधान (परधर्मात) पराये धर्म, अर्थात् दूसरो के कर्तव्य कर्म की अपेक्षा, (विगुण) रजोगुण तमोगुण प्रधान हीन गुण वाला भी (स्वधर्म) अपना धर्म, अर्थात् अपना स्वाभाविक कर्तव्य कर्म (श्रेयान्) अति उत्तम है। (स्वधर्मे) अपने धर्म, अर्थात् अपने स्वाभाविक कर्तव्य कर्म मे (निधनम्) मरना, अर्थात् अपने व्यक्तित्व का भाव मिटा देना (श्रेयः) श्रेयस्कर है। (परधर्मः) पराया धर्म, अर्थात् दूसरो का व्यवसाय (भयावह) भय को देने वाला है अर्थात् पाप रूप है।

सगति—अपने शरीर के स्वाभाविक गुणो के अनुसार जो व्यवसाय करने की योग्यता हो, चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अनुसार, वह उसका स्वधर्म होता है। यह यदि दूसरो के सत्वगुण प्रधान स्वाभाविक गुणों की योग्यता के व्यवसाय की अपेक्षा, रजोगुण तमोगुण प्रधान हीन गुणो वाला प्रतीत होता हो, तो भी उसे कभी नही छोडना चाहिए; अपने लिए वही उत्तम है। क्योंकि समाज को उसकी भी उसी प्रकार आवश्यकता रहती है, जैसी कि दूसरों के व्यवसाय की। इसलिए व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति छोडकर, अपनी स्वाभाविक योग्यता का व्यवसाय सबको अवश्य ही करते रहना चाहिए। अपनी योग्यता के विपरीत दूसरो का व्यवसाय करना बहुत ही बड़ा पाप होता है। अर्जुन का स्वाभाविक व्यवसाय क्षत्री का कर्म करने का था। उसे छोडकर वह निठल्लेपन से भिक्षा मागकर जीवन निर्वाह करने के लिए उतारू हो गया था। इसलिए भगवान उसको कहते हैं कि ऐसा करना भयकर पाप है।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

अथ, केन, प्रयुक्तः, अयम्, पापम्, चरति, पूरुषः,
अनिच्छन्, अपि, वार्ष्णेय, बलात्, इव, नियोजितः ॥ ३६ ॥

अर्जुन ने पूछा कि—

(वार्ष्णेय) हे कृष्ण ! (अथ) तो फिर (अयम्) यह (पूरुषः) पुरुष (बलात्) जबर्दस्ती से (नियोजितः) लगाये हुए की (इव) तरह, (अनिच्छन्) न चाहता हुआ (अपि) भी, (केन) किस से (प्रयुक्तः) प्रेरा हुआ (पापम्) पाप का, अर्थात् पराये धर्म का (चरति) आचरण करता है।

श्री भगवान् उवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

कामः, एषः, क्रोधः, एषः, रजोगुण, समुद्भवः,
महाशनः, महापाप्मा, विद्धि, एनम्, इह, वैरिणम् ॥ ३७ ॥

श्री भगवान् बोले कि—

(रजोगुण) रजोगुण से (समुद्भवः) उत्पन्न होने वाला (एषः) यही, अनेक प्रकार की चाहनाओं का समूह (कामः) काम और उसकी प्रतिक्रिया रूप (एषः) यही (क्रोधः) क्रोध, जो (महाशनः) बहुभोजी, अर्थात् कभी भी तृप्त नहीं होने वाला (महापाप्मा) बड़ा पापी है; (एनम्) इसीको तू (इह) इस विषय में (वैरिणम्) अपना बैरी (विद्धि) जान।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

धूमेन, आव्रियते, वह्निः, यथा, आदर्शः, मलेन, च,
यथा, उल्बेन, आवृतः, गर्भः, तथा, तेन, इदम्, आवृतम् ॥ ३८ ॥

(यथा) जैसे (धूमेन) धूएँ से (वह्निः) अग्नि (च) और (मलेन) मैल से (आदर्शः) दरपण (आव्रियते) ढका हुआ रहता है, तथा (यथा) जसे (उल्बेन) झिल्ली से (गर्भः) गर्भ (आवृतः) ढका हुआ रहता है, (तथा) वैसे ही (तेन) उस काम के द्वारा (इदम्) यह आत्म-ज्ञान (आवृतम्) ढका हुआ रहता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

आवृतम्, ज्ञानम्, एतेन, ज्ञानिनः, नित्यवैरिणा,
कामरूपेण, कौन्तेय, दुष्पूरेण, अनलेन, च ॥३९॥

(कौन्तेय) हे अर्जुन ! (ज्ञानिनः) ज्ञानियों के (नित्यवैरिणा) सदा के वैरी, (च) और (दुष्पूरेण) कभी तृप्त न होने वाले (एतेन) इस (कामरूपेण) काम

रूप (अनलेन) अग्नि से (ज्ञानम्) आत्म-ज्ञान (आवृतम्) ढका हुआ है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियाणि, मन, बुद्धि, अस्य, अधिष्ठानम्, उच्यते,
एतै, विमोहयति, एष, ज्ञानम्, आवृत्य, देहिनम् ॥४०॥

(इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ, (मन) मन और (बुद्धिः) बुद्धि (अस्य) इसके (अधिष्ठानम्) रहने के स्थान (उच्यते) कहे जाते हैं। (एष) यह काम (एतैः) इन, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ही (ज्ञानम्) आत्म-ज्ञान को (आवृत्य) आच्छादित करके (देहिनम्) जीवात्मा को (विमोहयति) मोहित करता है। अर्थात् इन्द्रियों मे विषय भोगों की कामना रहती है; मन मे धन, मान, कुटुम्ब आदि की, और बुद्धि मे स्वर्ग, मोक्ष अथवा कल्याण प्राप्ति की कामना रहती है, जिनसे आत्म-ज्ञान मे बाधा लगती है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

तस्मात्, त्वम्, इन्द्रियाणि, आदौ, नियम्य, भरतर्षभ,
पाप्मानम्, प्रजहि, हि, एनम्, ज्ञानविज्ञान, नाशनम् ॥४१॥

(तस्मात्) इसलिए (भरतर्षभ) हे अर्जुन! (त्वम्) तू (आदौ) पहले (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को (नियम्य) अपने वश मे करके, (ज्ञान विज्ञान-नाशनम्) ज्ञान और विज्ञान के नाश करने वाले (एनम्) इस (पाप्मानम्) पापी काम को (हि) अवश्य ही (प्रजहि) मार।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

इन्द्रियाणि, पराणि, आहुः, इन्द्रियेभ्यः, परम्, मनः,
मनसः, तु, परा, बुद्धिः, यः, परतः, तु, सः ॥४२॥

(इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को, (पराणि) स्थूल शरीर से ऊपर (आहु) कहते हैं; (इन्द्रियेभ्य) इन्द्रियों से (परम्) ऊपर (मनः) मन है, (तु) और (मनस) मन से (परा) ऊपर (बुद्धि) बुद्धि है, (तु) और (यः) जो (बुद्धेः) बुद्धि से भी (परत) अत्यन्त परे है, (सः) वह अपना आप आत्मा है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

एवम्, बुद्धेः, परम्, बुद्ध्वा, संस्तभ्य, आत्मानम्, आत्मना,
जहि, शत्रुम्, महाबाहो, कामरूपम्, दुरासदम् ॥४३॥

(**एवम्**) इस प्रकार (**बुद्धेः**) बुद्धि से (**परम्**) परे अपने आप, आत्मा को (**बुद्ध्वा**) जानकर, (**आत्मना**) बुद्धि के द्वारा (**आत्मानम्**) मन को (**संस्तभ्य**) वश में करके, (**महाबाहो**) हे अर्जुन ! (**दुरासदम्**) दुर्जय (**कामरूपम्**) कामरूप (**शत्रुम्**) शत्रु को (**जहि**) मार डाल।

संगति—साधारणतया लोगों में यह भ्रम है कि कर्म करने में मनुष्य को स्वतन्त्रता नहीं है; किसी दूसरी शक्ति या ईश्वर की जैसी प्रेरणा होती है, मनुष्य वैसा ही अच्छा-बुरा कर्म करता है; और नहीं चाहते हुए भी उसे परवशता से विपरीत कर्म भी करने पड़ते हैं। इस भ्रम को मिटाने के लिए, ३५वें श्लोक में अर्जुन द्वारा किए गये प्रश्न के उत्तर में भगवान कहते हैं कि, अपने सिवाय कोई दूसरी शक्ति या ईश्वर किसी से पापाचार नहीं करवाता, किन्तु रजोगुणी पृथकता के व्यक्तित्व के भाव से, जो अनेक प्रकार की, कभी पूर्ण न होने वाली कामनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं, और उनकी पूर्ति न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है, उसी से मनुष्य पापाचरण करता है। इस काम और क्रोध के वश होकर मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप का आत्म-ज्ञान भूल जाता है। इस रजोगुणी काम से ही इन्द्रियों, मन और बुद्धि में विषय-सुखों, धन, मान, परिवार, कल्याण, स्वर्ग और मोक्ष की कामनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं, जिनसे आत्म-ज्ञान ढका रहता है। इन्द्रियों के ऊपर मन है, मन के ऊपर बुद्धि और बुद्धि के ऊपर आत्मा है, जो सबका अपना वास्तविक आप है। इस रहस्य को समझकर, आत्मज्ञान युक्त बुद्धि से मन को, और मन के द्वारा इन्द्रियों को वश में करके, पराये धर्म का पापाचरण कराने वाले, अपने ही अन्दर के काम रूपी शत्रु को जीतना चाहिए; फिर कोई पापाचरण नहीं होगा। अच्छा-बुरा करना मनुष्य के अपने ही अधिकार में है; कोई दूसरा जबर्दस्ती नहीं करवाता।

॥ तीसरा अध्याय समाप्त ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्री भगवान उवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

इमम्, विवस्वते, योगम्, प्रोक्तवान्, अहम्, अव्ययम्,
विवस्वान्, मनवे, प्राह, मनु:, इक्ष्वाकवे, अब्रवीत् ॥ १ ॥

श्री भगवान बोले कि—

(अहम्) मैंने (इमम्) इस (अव्ययम्) अविनाशी (योगम्) समत्व योग को (विवस्वते) सूर्य को (प्रोक्तवान्) कहा था। (विवस्वान्) सूर्य ने (मनवे) मनु को (प्राह) कहा, और (मनुः) मनु ने (इक्ष्वाकवे) राजा इक्ष्वाकु को (अब्रवीत्) कहा।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

एवम्, परम्पराप्राप्तम्, इमम्, राजर्षय, विदु,
सः, कालेन, इह, महता, योग, नष्ट:, परतप ॥ २ ॥

(एवम्) इस तरह (परम्पराप्राप्तम्) वंश और राज्य परम्परा से प्राप्त हुए (इमम्) इस समत्व योग को (राजर्षय) राजर्षियो ने (विदु.) जाना, परन्तु (परंतप) हे अर्जुन ! (स) वह (योग) समत्व योग (महता) बहुत (कालेन) काल पाकर (इह) इस मनुष्य समाज मे (नष्ट) लुप्त हो गया था।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

सः, एव, अयम्, मया, ते, अद्य, योग, प्रोक्त, पुरातन,
भक्त:, असि, मे, सखा, च, इति, रहस्यम्, हि, एतत्, उत्तमम् ॥ ३ ॥

(स) वह (एव) ही (अयम्) यह (पुरातन.) प्राचीन (योग) समत्व

योग (अद्य) अब (मया) मैंने (ते) तुझे (प्रोक्तः) बतलाया है; (हि) क्योंकि (एतत्) यह समत्व योग (उत्तमम्) बहुत उत्तम, अर्थात् उच्चकोटि का (रहस्यम्) रहस्य है, अर्थात् तत्त्व ज्ञान का मर्म है; तू (मे) मेरा (भक्तः) भक्त अर्थात मेरे उपदेश में श्रद्धा रखने वाला (च) और (सखा) निःसंकोच होकर प्रश्न करके अच्छी तरह समझने योग्य मित्र (असि) है; (इति) इसलिए इसका अधिकारी है।

संगति—प्रथम श्लोक में भगवान् ने जो कहा है, कि यह समत्व योग मैंने पहले सूर्य को कहा, यह अलंकारिक भाषा है। इसका भावार्थ यह है कि सर्वात्मा = परमात्मा ने अपनी एक विशेष विभूति—सूर्य द्वारा समत्व योग का आदर्श संसार में उपस्थित किया है। सूर्य सदा नियमित रूप से सारे ब्रह्माण्ड को समान भाव से प्रकाशित करता है और गति द्वारा जीवन देता है। उसके व्यवहार में किसी प्रकार की विषमता नहीं है और न उसका किसी के साथ राग अथवा द्वेष ही है। जैसी जिसकी योग्यता हो, उसके अनुसार सूर्य के प्रकाश और गति का उपयोग करे। इससे सूर्य में कोई विकार नहीं होता, वह सदा अलिप्त और असंग रहता है। वह अपना कर्तव्य नियमित रूप से पालन करने में अटल रहता है, कभी त्रुटि नहीं करता। केवल लोकसंग्रह, अर्थात् जगत को धारण करने के लिए ही उसका अस्तित्व है। इस प्रत्यक्ष आदर्श द्वारा समत्व योग का उपदेश सब कोई ग्रहण कर सकते हैं। मानव समाज के आदि व्यवस्थापक राजा मनु ने इस समत्व योग को सूर्य से ग्रहण करके समाज की व्यवस्था बनाई। मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को इसका उपदेश दिया और इस तरह वंश परम्परा से राजाओं में यह समत्व योग प्रचलित रहा। राजाओं के लिए इस समत्व योग का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि इसी के आचरण से निर्दोष राज्य-शासन चल सकता है और समाज की सुव्यवस्था बनी रह सकती है। परन्तु त्रिगुणात्मक प्रकृति के परिवर्तनशील स्वभाव के कारण, काल पाकर यह समत्व योग इस देश के लोगों में लुप्त हो गया था, जिसके कारण समाज में विश्रृंखलता उत्पन्न हो गई थी। इसलिए सर्वात्मा=परमात्मा—भगवान् श्रीकृष्ण ने इसका पुनः प्रचार करने के लिए अर्जुन को निमित्त बनाकर संसार को फिर से इसका उपदेश दिया। अर्जुन इस समत्व-योग के उपदेश का पूरा अधिकारी था, क्योंकि भगवान् के वचनों में उसकी श्रद्धा थी और निःसंकोच होकर प्रश्न करके अच्छी तरह समझने की भी उसमें योग्यता थी।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्री भगवान उवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

इमम्, विवस्वते, योगम्, प्रोक्तवान्, अहम्, अव्ययम्,
विवस्वान्, मनवे, प्राह, मनु, इक्ष्वाकवे, अब्रवीत् ॥ १ ॥

श्री भगवान बोले कि—

(अहम्) मैने (इमम्) इस (अव्ययम्) अविनाशी (योगम्) समत्व योग को (विवस्वते) सूर्य को (प्रोक्तवान्) कहा था। (विवस्वान्) सूर्य ने (मनवे) मनु को (प्राह) कहा, और (मनुः) मनु ने (इक्ष्वाकवे) राजा इक्ष्वाकु को (अब्रवीत्) कहा।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

एवम्, परम्पराप्राप्तम्, इमम्, राजर्षय., विदु,
सः, कालेन, इह, महता, योग, नष्ट, परतप ॥ २ ॥

(एवम्) इस तरह (परम्पराप्राप्तम्) वश और राज्य परम्परा से प्राप्त हुए (इमम्) इस समत्व योग को (राजर्षयः) राजर्षियो ने (विदु) जाना, परन्तु (परतप) हे अर्जुन ! (स) वह (योग) समत्व योग (महता) बहुत (कालेन) काल पाकर (इह) इस मनुष्य समाज में (नष्ट) लुप्त हो गया था।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

सः, एव, अयम्, मया, ते, अद्य, योग, प्रोक्त., पुरातन,
भक्त, असि, मे, सखा, च, इति, रहस्यम्, हि, एतत्, उत्तमम् ॥ ३ ॥

(स) वह (एव) ही (अयम्) यह (पुरातन.) प्राचीन (योग) समत्व

योग (अद्य) अब (मया) मैंने (ते) तुझे (प्रोक्तः) बतलाया है; (हि) क्योंकि (एतत्) यह समत्व योग (उत्तमम्) बहुत उत्तम, अर्थात् उच्चकोटि का (रहस्यम्) रहस्य है, अर्थात् तत्त्व ज्ञान का मर्म है; तू (मे) मेरा (भक्तः) भक्त अर्थात मेरे उपदेश में श्रद्धा रखने वाला (च) और (सखा) निःशंकोच होकर प्रश्न करके अच्छी तरह समझने योग्य मित्र (असि) है; (इति) इसलिए इसका अधिकारी है।

संगति—प्रथम श्लोक में भगवान् ने जो कहा है, कि यह समत्व योग मैंने पहले सूर्य को कहा, यह अलंकारिक भाषा है। इसका भावार्थ यह है कि सर्वात्मा = परमात्मा ने अपनी एक विशेष विभूति—सूर्य द्वारा समत्व योग का आदर्श संसार में उपस्थित किया है। सूर्य सदा नियमित रूप से सारे ब्रह्माण्ड को समान भाव से प्रकाशित करता है और गति द्वारा जीवन देता है। उसके व्यवहार में किसी प्रकार की विषमता नहीं है और न उसका किसी के साथ राग अथवा द्वेष ही है। जैसी जिसकी योग्यता हो, उसके अनुसार सूर्य के प्रकाश और गति का उपयोग करे। इससे सूर्य में कोई विकार नहीं होता, वह सदा अलिप्त और असंग रहता है। वह अपना कर्तव्य नियमित रूप से पालन करने में अटल रहता है, कभी त्रुटि नहीं करता। केवल लोकसंग्रह, अर्थात् जगत को धारण करने के लिए ही उसका अस्तित्व है। इस प्रत्यक्ष आदर्श द्वारा समत्व योग का उपदेश सब कोई ग्रहण कर सकते हैं। मानव समाज के आदि व्यवस्थापक राजा मनु ने इस समत्व योग को सूर्य से ग्रहण करके समाज की व्यवस्था बनाई। मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को इसका उपदेश दिया और इस तरह वंश परम्परा से राजाओं में यह समत्व योग प्रचलित रहा। राजाओं के लिए इस समत्व योग का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि इसी के आचरण से निर्दोष राज्य-शासन चल सकता है और समाज की सुव्यवस्था बनी रह सकती है। परन्तु त्रिगुणात्मक प्रकृति के परिवर्तनशील स्वभाव के कारण, काल पाकर यह समत्व योग इस देश के लोगों में लुप्त हो गया था, जिसके कारण समाज में विश्रृंखलता उत्पन्न हो गई थी। इसलिए सर्वात्मा = परमात्मा—भगवान् श्रीकृष्ण ने इसका पुनः प्रचार करने के लिए अर्जुन को निमित्त बनाकर संसार को फिर से इसका उपदेश दिया। अर्जुन इस समत्व-योग के उपदेश का पूरा अधिकारी था, क्योंकि भगवान् के वचनों में उसकी श्रद्धा थी और निःसंकोच होकर प्रश्न करके अच्छी तरह समझने की भी उसमें योग्यता थी।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अपरम्, भवतः, जन्म, परम्, जन्म, विवस्वतः,
कथम्, एतत्, विजानीयाम्, त्वम्, आदौ, प्रोक्तवान्, इति ॥ ४ ॥

अर्जुन बोला कि हे भगवन्—

(भवत) आपका (जन्म) जन्म तो (अपरम्) अब हुआ है, और (विवस्वत) सूर्य का (जन्म) जन्म (परम्) बहुत पहले का है (एतत्) अतः, इस समत्व-योग को (आदौ) आदि मे (त्वम्) आपने (प्रोक्तवान्) कहा था, (इति) यह, मैं (कथम्) कैसे (विजानीयाम्) जानूं ।

श्री भगवान उवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ५ ॥

बहूनि, मे, व्यतीतानि, जन्मानि, तव, च, अर्जुन
तानि, अहम्, वेद, सर्वाणि, न, त्वम्, वेत्थ, परन्तप ॥ ५ ॥

श्री भगवान् बोले कि—

(अर्जुन) हे अर्जुन ! (मे) मेरे (च) और (तव) तेरे (बहूनि) बहुत से (जन्मानि) जन्म (व्यतीतानि) हो चुके है, (परन्तप) हे परन्तप ! (तानि) उन (सर्वाणि) सबको (अहम्) मैं=सर्वात्मा, भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालो का ज्ञाता, सर्वज्ञ होने के कारण, (वेद) जानता हूँ, (त्वम्) तू अपने को व्यक्ति जीव भाव में सीमित मानकर, अल्पज्ञ होने के कारण (न) नही (वेत्थ) जानता ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

अजः, अपि, सन्, अव्ययात्मा, भूतानाम्, ईश्वरः, अपि, सन्,
प्रकृतिम्, स्वाम्, अधिष्ठाय, सभवामि, आत्ममायया ॥ ६ ॥

(अव्ययात्मा) मैं, निर्विकार सर्वात्मा, (अज) अजन्मा (सन्) होने पर (अपि) भी, (भूतानाम्) तथा सब भूत प्राणियो का (ईश्वर) ईश्वर (सन्) होने पर (अपि) भी, (स्वाम्) अपनी (प्रकृतिम्) इच्छा रूप प्रकृति को (अधिष्ठाय) सत्ता देकर, (आत्ममायया) अपनी स्वाभाविक योग माया के द्वारा (संभवामि) विशेष रूपो मे प्रकट होता हूँ ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

यदा, यदा, हि, धर्मस्य, ग्लानिः, भवति, भारत,
अभ्युत्थानम्, अधर्मस्य, तदा, आत्मानम्, सृजामि, अहम् ।। ७ ।।

(भारत) हे भारत ! (यदा) जब (यदा) जब (धर्मस्य) समत्व-योग के आचरण रूप धर्म का (ग्लानिः) ह्रास होकर (अधर्मस्य) विषमता रूप अधर्म की (अभ्युत्थानम्) वृद्धि (भवति) होती है, (तदा) तब तब (हि) ही (अहम्) मैं, सर्वात्मा (आत्मानम्) अपने विशेष रूप को (सृजामि) रचता हूँ अर्थात् विशेष रूप में प्रकट होता हूँ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।। ८ ।।

परित्राणाय, साधूनाम्, विनाशाय, च, दुष्कृताम्,
धर्मसंस्थापनार्थाय, संभवामि, युगे, युगे ।। ८ ।।

(साधूनाम्) समत्व-योगी सज्जनों की (परित्राणाय) रक्षा करने के लिए (च) और (दुष्कृताम्) विषम आचरण करनेवाले दुराचारियों का (विनाशाय) नाश करने के लिए, एवम् (धर्म संस्थापनार्थाय) समत्व-योग रूप धर्म पुनः स्थापन करने के लिए (युगे युगे) युग-युग में अर्थात् समय-समय पर (संभवामि) विशेष रूप में प्रकट होता हूँ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैतिमामेति सोऽर्जुन ।। ९ ।।

जन्म, कर्म, च, मे, दिव्यम्, एवम्, यः, वेत्ति, तत्त्वतः,
त्यक्त्वा, देहम्, पुनः, जन्म, न, एति, माम्, एति, सः, अर्जुन ।। ९ ।।

(अर्जुन) हे अर्जुन ! (मे) मुझ सर्वात्मा के (जन्म) जन्म (च) और (कर्म) कर्म (दिव्यम्) अलौकिक हैं, अर्थात् निर्लिप्त, निर्विकार एवं बंधन रहित हैं, (यः) जो पुरुष इस रहस्य को (एवम्) इस प्रकार (तत्त्वतः) तत्त्व से (वेत्ति) जानता है (सः) वह अपने-आप आत्मा को निर्लिप्त, निर्विकार और निर्बन्धन अनुभव करके, (देहम्) शरीर भाव को (त्यक्त्वा) त्यागकर (पुनः) फिर परवशता से (जन्म) जन्म को (न) नहीं (एति) प्राप्त होता है, किन्तु (माम्) मेरे सर्वात्मभाव को ही (एति) प्राप्त होता है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।। १० ।।

वीतरागभयक्रोधा, मन्मया, माम्, उपाश्रिता.,
बहव., ज्ञानतपसा, पूता, मद्भावम्, आगताः ॥ १० ॥

(बहव) बहुत से लोग (मन्मयाः) मेरे सर्वात्म भाव मे मन लगाकर, (माम्) मुझ सर्वात्मा का (उपाश्रिता) आश्रय करके, अर्थात् आत्म विश्वास से (वीतराग भय क्रोधा) राग, भय और क्रोध को जीतकर, (ज्ञानतपसा) ज्ञान रूप तप से (पूता) पवित्र होकर (मद्भावम्) मेरे सर्वात्मभाव मे (आगता.) आ मिले हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

ये, यथा, माम्, प्रपद्यन्ते, तान्, तथा, एव, भजामि, अहम् ।
मम, वर्त्म, अनुवर्तन्ते, मनुष्या., पार्थ, सर्वशः ॥ ११ ॥

(पार्थ) हे अर्जुन ! (ये) जो लोग (माम्) मुझ, सबके अपने आप, सर्व रूप-धारी सर्वात्मा को (यथा) जिस प्रकार का मानकर (प्रपद्यन्ते) भजते हैं, अर्थात् सबके साथ जैसा बर्ताव करते हैं, (अहम्) उसकी प्रतिक्रिया रूप से, मैं, सबका अपना आप (तान्) उनको (तथा) उसी प्रकार (एव) ही (भजामि) भजता हूँ, अर्थात् सब लोग उनके साथ वैसा ही बर्ताव करते हैं। (मनुष्या) मनुष्य लोग (सर्वश) सब प्रकार से (मम) मेरे, सबके अपने आपके (वर्त्म) बर्ताव के (अनुवर्तन्ते) अनुसार ही वर्तते हैं।

मनुष्य अपने आपको जैसा मानकर लोगों के साथ जैसा बर्ताव करता है, उसी के अनुसार उसके इर्द-गिर्द जगत् का बनाव बन जाता है और क्रिया की प्रतिक्रिया के नियमानुसार लोग उसके साथ वैसा ही बर्ताव करते है। मनुष्य अपने भाग्य का आप ही निर्माता है।

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवता ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

कांक्षन्त., कर्मणाम्, सिद्धिम्, यजन्ते, इह, देवता ।
क्षिप्रम् हि, मानुषे, लोके, सिद्धि., भवति, कर्मजा ॥ १२ ॥

(इह) इस संसार मे (कर्मणाम्) कर्मों की (सिद्धिम्) सफलता (काङ्क्षन्त) चाहने वाले लोग (देवता.) देवताओं, अर्थात् दैवी शक्तियों को (यजन्ते) पूजते हैं, उस मनोयोग के प्रभाव से (मानुषे लोके) मनुष्य समाज मे (कर्मजा) कर्मों से उत्पन्न होनेवाली (सिद्धि) सफलता (क्षिप्रम्) शीघ्र (हि) ही (भवति) होती है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

चातुर्वर्ण्यम्, मया, सृष्टम्, गुणकर्मविभागशः,

तस्य, कर्तारम्, अपि, माम्, विद्धि, अकर्तारम्, अव्ययम् ॥ १३ ॥

(**गुणकर्म विभागशः**) गुणों के अनुसार कर्मों के विभाग की (**चातुर्वर्ण्यम्**) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार वर्णों की व्यवस्था (**मया**) मेरे, सबके अपने आप, सबके आत्मा के द्वारा (**सृष्टम्**) बनाई गई है। (**तस्य**) उसका (**कर्तारम्**) करनेवाला होते हुए (**अपि**) भी (**माम्**) मुझ सर्वात्मा को (**अव्ययम्**) निर्विकार (**अकर्तारम्**) अकर्ता ही (**विद्धि**) जान।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

न, माम्, कर्माणि, लिम्पन्ति, न, मे, कर्मफले, स्पृहा,

इति, माम्, यः, अभिजानाति, कर्मभिः, न, सः, बध्यते ॥ १४ ॥

(**मे**) मुझे, अर्थात् सबके अपने-आप आत्मा को (**कर्मफले**) कर्मों के फल की (**स्पृहा**) चाह (**न**) नहीं है, इसलिए (**माम्**) मुझ, सबके अपने-आप आत्मा को (**कर्माणि**) कर्म (**न लिम्पन्ति**) लिपायमान नहीं करते अर्थात् आत्मा कर्मों से अलिप्त रहता है। (**माम्**) मुझ, सबके अपने-आप आत्मा को (**यः**) जो (**इति**) इस प्रकार (**अभिजानाति**) तत्त्व से जानता है, (**सः**) वह (**कर्मभिः**) कर्मों से (**न**) नहीं (**बध्यते**) बँधता।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

एवम्, ज्ञात्वा, कृतम्, कर्म, पूर्वैः, अपि, मुमुक्षुभिः,

कुरु, कर्म, एव, तस्मात्, त्वम्, पूर्वैः, पूर्वतरम्, कृतम् ॥ १५ ॥

(**पूर्वैः**) प्राचीन काल के (**मुमुक्षुभिः**) मुमुक्षु पुरुषों द्वारा (**अपि**) भी (**एवम्**) इस प्रकार (**ज्ञात्वा**) जानकर, आत्मज्ञान पूर्वक (**कर्म**) आसक्ति रहित, कर्म (**कृतम्**) किये गए हैं, (**तस्मात्**) इसलिए (**त्वम्**) तू भी (**पूर्वैः**) पूर्वजों द्वारा जिस तरह (**पूर्वतरम्**) प्राचीनकाल में आत्मज्ञान पूर्वक (**कृतम्**) निर्लिप्त भाव से कर्म किये गए हैं, (**एव**) उसी तरह (**कर्म**) कर्म (**कुरु**) कर।

संगति—भगवान् श्रीकृष्ण को अपने सर्वात्म भाव का अनुभव था। इसलिए उनकी स्थिति समष्टि ईश्वर भाव की थी। अतः वे सर्वज्ञ थे। परन्तु अर्जुन की स्थिति व्यक्ति भाव की होने के कारण, व्यष्टि जीव भाव की थी। वह अपने को एक सीमित व्यक्ति मानता था। इसलिए अल्पज्ञ था। वह यह रहस्य नहीं समझ सकता था कि सूरज तो बहुत प्राचीन है और कृष्ण अब हुए हैं; फिर उन्होंने सूरज के ारा

समत्व योग का आदर्श कैसे उपस्थित किया ? अर्जुन की इस आशय की शंका के उत्तर मे भगवान् कहते हैं कि मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं; जिनको समष्टि भाव की स्थिति के कारण मैं जानता हूँ, परन्तु व्यष्टि भाव को अपनाने के कारण तू नहीं जानता। आत्मा की वास्तव मे उत्पत्ति व नाश कभी नहीं होता, परन्तु वह अनेक रूप धारण करता है और उन रूपो को बदलता रहता है, जिनको जन्मना-मरना कहते हैं। अपने सच्चिदानन्द-घन स्वरूप के सर्वात्मभाव को भूलने का अज्ञान स्वीकार करके, सब का अपना आप—आत्मा अनेक व्यष्टि जीव भाव होकर भिन्न-भिन्न रूप धारण करता है, और आत्मा ही समष्टि भाव का ज्ञान स्वीकार करके ईश्वर भाव धारता है। अपने वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूप का ज्ञान भुलाकर, जीव नाना प्रकार के कर्म करके उनमे बँधे हुए परवशता से जन्म-मरण के चक्कर मे पडे रहते हैं; परन्तु समष्टि ईश्वर भाव मे स्थित आत्मज्ञानी, अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान रखते हुए, अपनी इच्छा से संसार रूपी अपने खेल की सुव्यवस्था के लिए समय-समय पर स्वतन्त्रतापूर्वक विशेष विभूति सम्पन्न शरीर धारण किया करता है। जिस तरह अपराधी मनुष्य अपने कुकर्म का फल भोगने के लिए परवशता से जेलखाने मे बन्द किये जाते हैं, और जेल का अफसर अथवा राजा भी उसी जेलखाने मे उसकी सुव्यवस्था के लिए जाते हैं; उसी तरह जीव भाव धारण किये हुए अज्ञानी लोग अपने कर्मों की परवशता से जन्म-मरण के चक्कर मे जाते रहते है; और ईश्वर भाव धारण किये हुए आत्मज्ञानी महापुरुष ससार के खेल मे, किसी प्रकार की विशृंखलता उत्पन्न होने पर, उनको सुव्यवस्थित करने के लिए परिस्थिति के उपयुक्त विशेष विभूति सम्पन्न रूपो मे प्रकट होता है। जब बहुत से अज्ञानी जीव, साम्य भाव से अपने कर्तव्य कर्म पालन करने से विमुख होकर, ससार मे बहुत विषमता उत्पन्न कर देते हैं—जिससे सदाचारी लोगों पर अत्याचार होते हैं, तब उनसे उद्धार पाने के लिए, जनता की सम्मिलित उत्कण्ठा के फलस्वरूप, समष्टि आत्म-सत्ता किसी विशेष विभूति सम्पन्न रूप में प्रकट होकर अत्याचारियो का नाश करके सदाचारियो की रक्षा करती है और समत्व-योग रूपी धर्म की पुनः स्थापना करती है, जिसको हमारे यहाँ अवतार होना कहा जाता है। परन्तु अवतार किसी व्यक्ति भाव के स्वार्थ साधने के लिए नही होता, किन्तु समष्टि के हित के लिए होता है, इसलिए समष्टि भाव मे स्थित आत्मज्ञानी अवतारी महापुरुष के जन्म और कर्म अलौकिक होते हैं और वह जन्म लेता हुआ और सब प्रकार के कर्म करता हुआ भी, निर्लिप्त और निर्विकार रहता है। इस रहस्य को जो तत्त्व से जान लेता है, वह मनुष्य स्वय समष्टि भाव मे स्थित ईश्वर रूप हो जाता है, फिर वह कर्मों मे बँधकर परवशता मे जन्म-मरण के चक्कर मे

नहीं पड़ता। मनुष्य अपने आप-आत्मा को जैसा मानकर संसार में लोगों के साथ जैसा वर्ताव करता है, उसकी प्रतिक्रिया से वह वैसा ही हो जाता है। मनुष्य आप ही अपनी मान्यता और करणी के अनुसार अपना उद्धार करने वाला है और आप ही अपने को बन्धन में डालने वाला है। उसको जो अच्छा लगे सो करे। सब की एकता के आत्मज्ञान युक्त चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अनुसार अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म, व्यक्ति भाव के स्वार्थो की आसक्ति से रहित होकर, साम्य भाव से करने से मनुष्य सदा परमात्म भाव के परमानन्द में निमग्न रहता है। इसी विधि से पहले के मुमुक्षुओं ने कर्म किये हैं और वर्तमान में भी, अर्जुन को लक्ष करके भगवान् सब को यही उपदेश देते हैं। अब आगे इस विषय की विशेष व्याख्या करने के लिए भगवान, बन्धन करने वाले कर्म और निर्बन्धन रूप अकर्म का तात्त्विक विश्लेषण विस्तार से करते हैं।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

किम्, कर्म, किम्, अकर्म, इति, कवयः, अपि, अत्र, मोहिताः,
तत्, ते, कर्म, प्रवक्ष्यामि, यत्, ज्ञात्वा, मोक्ष्यसे, अशुभात् ॥ १६ ॥

(कर्म) प्रवृत्ति रूप कर्म (किम्) क्या है, (इति) ऐसे ही (अकर्म) निवृत्ति रूप अकर्म अर्थात् निष्कर्म अथवा कर्म से रहित होना (किम्) क्या है, (अत्र) इस विषय में (कवयः) बड़े-बड़े सूक्ष्म विचार करने वाले (अपि) भी (मोहिताः) भ्रम में पड़े हुए, मोहित हो रहे हैं। (ते) मैं, तुझे (तत्) वह (कर्म) कर्म विज्ञान का रहस्य (प्रवक्ष्यामि) विस्तारपूर्वक कहता हूं, (यत्) जिसको (ज्ञात्वा) जानकर तू (अशुभात्) अशुभ, अर्थात् अज्ञान से उत्पन्न मोह से (मोक्ष्यसे) छूट जायगा, अर्थात् कर्तव्य कर्म के विषय में तेरा मोह दूर हो जायगा।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

कर्मणः, हि, अपि, बोद्धव्यम्, बोद्धव्यम्, च, विकर्मणः,
अकर्मणः, च, बोद्धव्यम्, गहना, कर्मणः, गतिः ॥ १७ ॥

(कर्मणः) कर्म, अर्थात् सामान्य रूप से कर्म का रहस्य (अपि) भी अवश्य (बोद्धव्यम्) जानना चाहिए, (च) और (विकर्मणः) न करने योग्य दुष्कर्म का रहस्य भी (बोद्धव्यम्) जानना चाहिए, (च) और (अकर्मणः) अकर्म, अर्थात् कर्म से सर्वथा रहित, निष्कर्मी होने का रहस्य भी (बोद्धव्यम्) जानना चाहिए, (हि) क्योंकि (कर्मणः) कर्म की (गतिः) गति (गहना) गहरी, गम्भीर है, अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म

और व्यापक है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

कर्मणि, अकर्म, य, पश्येत्, अकर्मणि, च, कर्म, य,
स, बुद्धिमान्, मनुष्येषु, स, युक्त, कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

(य) जो पुरुष (कर्मणि) कर्म रूप ससार की भिन्नताओ मे (अकर्म) अकर्म रूप आत्मा की एकता, (च) और (य) जो पुरुष (अकर्मणि) अकर्म रूप आत्मा मे (कर्म) कर्म रूप ससार के कल्पित बनाव (पश्येत्) देखता है, अर्थात् सबकी एकता का अनुभव करता है; (स.) वह ही (मनुष्येषु) मनुष्यो मे (बुद्धिमान्) बुद्धिमान है और (स) वही (युक्त) समत्व-योगी (कृत्स्नकर्मकृत्) सम्पूर्ण कर्मों का करता, सब कर्मों का पारगत है, अर्थात् वह ही यथार्थ रूप से जानता है कि किस परिस्थिति मे, किस विधि से किया हुआ कर्म निवृत्ति रूप अकर्म, या निर्बन्धन रूप निष्कर्म होता है, और किस परिस्थिति मे, किस विधि से नही किया हुआ कर्म, अर्थात् अकर्म भी प्रवृत्ति रूप बन्धन कारक कर्म, अर्थात् विकर्म हो जाता है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

यस्य, सर्वे, समारम्भा, कामसकल्पवर्जिता,
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्, तम्, आहु, पण्डितम्, बुधा ॥ १९ ॥

(यस्य) जिसके (सर्वे) सम्पूर्ण (समारम्भा) सासारिक व्यवहार (कामसकल्पवर्जिताः) व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि की कामनाओ के सकल्प से रहित हैं; (ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्) सबकी एकता के आत्मज्ञान रूप अग्नि से जिसके सम्पूर्ण कर्म भस्म हो गये हैं, (तम्) उसको (बुधा) ज्ञानीजन (पण्डितम्) सच्चा पण्डित (आहु) कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २० ॥

त्यक्त्वा, कर्मफलासङ्गम्, नित्यतृप्त, निराश्रय,
कर्मणि, अभिप्रवृत्त, अपि, न, एव, किंचित्, करोति, स ॥ २० ॥

(कर्मफलासङ्गम्) कर्मों के व्यक्तिगत फल की आसक्ति (त्यक्त्वा) त्यागकर (नित्यतृप्तः) सदा अपने आप-आत्मा में तृप्त, (निराश्रय) स्वावलम्बी मनुष्य (कर्मणि) कर्म मे (अभिप्रवृत्त) पूरी तरह वर्तता हुआ (अपि) भी (स) वह

(किंचित् एव) कुछ भी (न) नहीं (करोति) करता है।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ २१॥

निराशीः, यतचित्तात्मा, त्यक्तसर्वपरिग्रहः,
शारीरम्, केवलम्, कर्म, कुर्वन्, न, आप्नोति, किल्बिषम्॥ २१॥

(यतचित्तात्मा) जिसने मन और बुद्धि को अपने वश में कर लिया है, तथा (त्यक्तसर्वपरिग्रहः) पदार्थों के संग्रह में जिसका ममत्व छूट गया है, और (निराशीः) जो दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थ, किसी दूसरे से प्राप्त होने की आशा से रहित है; वह, (केवलम्) केवल (शारीरम्) शरीर की कर्मेन्द्रियों द्वारा (कर्म) अपना स्वाभाविक कर्त्तव्य कर्म (कुर्वन्) करता हुआ (किल्बिषम्) पाप का (न आप्नोति) भागी नहीं होता।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ २२॥

यदृच्छालाभसंतुष्टः, द्वन्द्वातीतः, विमत्सरः,
समः, सिद्धौ, असिद्धौ, च, कृत्वा, अपि, न, निबध्यते॥ २२॥

(यदृच्छालाभसंतुष्टः) अपने स्वाभाविक कर्तव्य कर्म करने से जो कुछ सहज ही लाभ हो जाय, उसी में संतुष्ट रहने वाला, (द्वन्द्वातीतः) हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से परे हुआ, (विमत्सरः) ईर्षा से रहित, (सिद्धौ) सफलता (च) और (असिद्धौ) असफलता में (समः) सम रहने वाला पुरुष, (कृत्वा) कर्म करके (अपि) भी (न) नहीं (निबध्यते) बँधता।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ २३॥

गतसङ्गस्य, मुक्तस्य, ज्ञानावस्थितचेतसः,
यज्ञाय, आचरतः, कर्म, समग्रम्, प्रविलीयते॥ २३॥

(ज्ञानावस्थितचेतसः) आत्मज्ञान में स्थित चित्त वाले, (गतसङ्गस्य) आसक्ति से रहित, (मुक्तस्य) मुक्त पुरुष के, (यज्ञाय आचरतः) लोक संग्रह रूपी यज्ञ के लिए आचरण किए जाने वाले (समग्रम्) सम्पूर्ण (कर्म) कर्म (प्रविलीयते) विलीन हो जाते हैं अर्थात् अकर्म रूप हो जाते हैं।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ २४॥

ब्रह्म, अर्पणम्, ब्रह्म, हवि:, ब्रह्माग्नौ, ब्रह्मणा, हुतम्,
ब्रह्म, एव, तेन, गन्तव्यम्, ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

(अर्पणम्) अर्पण, अर्थात् व्यवसाय करने के हथियार आदि साधन (ब्रह्म) ब्रह्म-परमात्मा है, (हवि:) हवि, अर्थात् व्यवसाय करने का द्रव्य या पदार्थ (ब्रह्म) ब्रह्म-परमात्मा है, तथा (ब्रह्माग्नौ) ब्रह्म रूप अग्नि मे, अर्थात् जिसके उद्देश्य से व्यवसाय किया जाता है, वह भी ब्रह्म है, और (ब्रह्मणा हुतम्) ब्रह्म रूप कर्ता के द्वारा, जो अपना व्यवसाय रूप हवन किया जाता है, अर्थात् व्यवसाय करने वाला भी ब्रह्म है, (ब्रह्मकर्मसमाधिना) इस तरह, चातुर्वर्ण्य व्यवसायानुसार अपने-अपने कर्त्तव्य कर्म अर्थात् व्यवसाय करने मे जिसका सर्वत्र ब्रह्म भाव होता है, (तेन) उस पुरुष द्वारा (ब्रह्म) ब्रह्म (एव) ही (गन्तव्यम्) प्राप्त करने योग्य है, अर्थात् वह परमात्मा रूप होता है।

सगति—यह ससार सबके अपने आप, सबके आत्मा-परमात्मा की सकल्प-शक्ति=समष्टि प्रकृति के क्रिया-प्रतिक्रिया रूप द्वन्द्वो के परस्पर विरोधी जोडो का बनाव होने के कारण कर्ममय है। इसलिए कर्म किए बिना कोई रह नही सकता। सबका जीवन कर्म पर ही निर्भर है, परन्तु किस परिस्थिति मे, किस विधि से कर्म करने से अथवा न करने से, दोनो ही से मनुष्य को बन्धन होता है, और किस परिस्थिति मे, किस विधि से कर्म करने से बधन नही होता, इस रहस्य को जानना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए इन श्लोको मे कर्म, अर्थात कर्म की व्यापकता और उसकी स्वाभाविक अनिवार्यता; विकर्म अर्थात् बन्धन कारक निषिद्ध दुष्कर्म, और अकर्म अर्थात् मोक्ष कारक निष्कर्म की तात्विक मीमासा की गई है। मानव समाज की सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए, मुख्यत: चार प्रकार के व्यवसायो की आवश्यकता रहती है—शिक्षा, रक्षा, पदार्थों की उत्पत्ति और उनका वितरण, तथा शारीरिक श्रम की सेवा। इन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए आत्म-ज्ञानी महापुरुषो ने मनुष्यो के शरीरो के स्वाभाविक गुणो के आधार पर उपर्युक्त चार प्रकार के व्यवसाय करने के कार्य विभाग की व्यवस्था बनाई, जिसको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम से चातुर्वर्ण्य व्यवस्था कहते हैं। इस व्यवस्था के अनुसार अपने-अपने शरीर की स्वाभाविक योग्यता के व्यवसाय करना, उनका नियत कर्म कहलाता है। परन्तु वह नियत कर्म सबकी एकता के ज्ञानपूर्वक, अर्थात् एक ही आत्मा मे सारे संसार के अलग-अलग बनाव हैं, और उन अलग-अलग बनावो मे एक ही आत्मा ओत-प्रोत है—इस निश्चय से, परस्पर मे एक-दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करने के उद्देश्य से, समाज की सुव्यवस्था के लिए किये जाते हैं, तो उनसे कोई बन्धन नहीं होता। वे कर्म वास्तव मे अकर्म होते हैं—चाहे

कर्म, भिन्नता की भौतिक दृष्टि के लोगों को अशुभ, अनैतिक, अधर्म अथवा पापरूप विकर्म ही प्रतीत होते हों। परन्तु जो कर्म भिन्नता को सच्ची मानकर, व्यक्तिगत स्वार्थ के लक्ष्य से किए जाते हैं अथवा छोड़ दिए जाते हैं, वे दोनों ही दशाओं में बन्धन रूप, बुरे, निषिद्ध कर्म अर्थात् विकर्म होते हैं; चाहे भौतिक दृष्टि के लोग उनको धार्मिक पुण्य कर्म, शुभ कर्म अथवा नैतिक विहित कर्म मानते हों। सामान्यतया स्वाभाविक कर्मों से कोई बन्धन नहीं होता। बन्धन कर्ता के भाव पर निर्भर होता है। भेदवादी पंडित लोग इस रहस्य को नहीं समझते। वे लोग या तो व्यवसाय मात्र को ही दोषपूर्ण एवं बंधनकारक कर्म मानते हैं—चाहे वे किसी भी भाव से किए जाएँ, और चातुर्वर्ण्य विहित सभी व्यवसायों को छोड़कर निठल्ले बन जाने को वे लोग अकर्म मानते हैं; अथवा साम्प्रदायिक कर्म-काण्डों को ही शुभ, विहित, मोक्षदायक अकर्म मानते हैं। भगवान् कहते हैं कि उन लोगों की यह समझ गलत है। इस तरह अपने शरीर की स्वाभाविक योग्यता के चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के व्यवसाय न करके निकम्मे बने रहना, अथवा साम्प्रदायिक कर्मकाण्डों में लगे रहना वास्तव में अकर्म नहीं, किन्तु बन्धन रूप, दोषपूर्ण, विकर्म हैं। सब की एकता का अनुभव रखनेवाले समत्व-योगी महापुरुष की सर्वत्र आत्मबुद्धि होती है। सब व्यवसायों, व्यवसाय के पदार्थों, व्यवसाय के साधनों, जिनके लिए व्यवसाय किए जाते हैं, उनमें, तथा व्यवसाय करने वालों में, अर्थात् कर्ता, कर्म, क्रिया आदि सब में उनको एक ही आत्मा अथवा ब्रह्म भाव का अनुभव रहता है; इसलिए उनके सभी कर्म, अकर्म रूप होते हैं। वे सब कुछ करते हुए भी अकर्ता ही रहते हैं।

ऊपर के श्लोकों में इसी कर्म विज्ञान का रहस्य समझाने के लिए भगवान् ने कर्म, विकर्म और अकर्म का तात्त्विक विश्लेषण करके, श्लोक २४ में हवन का रूपक देकर, सब व्यवसायों में सबकी एकता की आत्मबुद्धि रखते हुए, अपने-अपने व्यवसाय करने के ज्ञान यज्ञ का विधान किया और यह निश्चित निर्णय दिया कि इस तरह ज्ञानयज्ञ करने वाले सर्वात्म ब्रह्म भाव को प्राप्त होते हैं। अब आगे के ६ श्लोकों में, जो लोग भेदवाद के वेदादि शास्त्रों में विधान किये हुए, दूसरे अनेक प्रकार के यज्ञ करते हैं, उनका संक्षेप में उल्लेख करके उनको बन्धनकारक बताते हैं और उपरोक्त ज्ञान यज्ञ की श्रेष्ठता की पुष्टि करते हैं।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

दैवम्, एव, अपरे, यज्ञम्, योगिनः, पर्युपासते,
ब्रह्माग्नौ, अपरे, यज्ञम्, यज्ञेन, एव, उपजुह्वति ॥२५॥

(अपरे) दूसरे, (योगिन.) मन का निरोध करने के प्रयत्न मे लगे रहने वाले योगी लोग (दैवम्) देवताओ की उपासना रूप (यज्ञम्) यज्ञ को (एव) ही (पर्यु-पासते) मन लगाकर उपासते हैं अर्थात् करते हैं, (अपरे) कई दूसरे लोग (यज्ञम्) यज्ञ को, (ब्रह्माग्नौ) परोक्ष ब्रह्म रूप अग्नि मे (यज्ञेन) अर्पण करने रूप यज्ञ द्वारा (एव) ही (उपजुह्वति) होमते हैं।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

श्रोत्रादीनि, इन्द्रियाणि, अन्ये, सयमाग्निषु, जुह्वति,
शब्दादीन्, विषयान्, अन्ये, इन्द्रियाग्निषु, जुह्वति ॥२६॥

(अन्ये) दूसरे लोग (श्रोत्रादीनि) श्रोत्रादि (इन्द्रियाणि) इन्द्रियो को (संय-माग्निषु) सयम रूप अग्नि मे (जुह्वति) हवन करते हैं, अर्थात् इन्द्रियो को अपने वश मे करने के प्रयत्न मे लगे रहते हैं; (अन्ये) दूसरे लोग (शब्दादीन्) शब्द आदि (विषयान) विषयो को (इन्द्रियाग्निषु) इन्द्रिय रूप अग्नि मे (जुह्वति) हवन करते हैं, अर्थात् इन्द्रियो द्वारा विषयो को भोगते हैं।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

सर्वाणी, इन्द्रियकर्माणि, प्राणकर्माणि, च, अपरे,
आत्मसयमयोगाग्नौ, जुह्वति, ज्ञानदीपिते ॥२७॥

(अपरे) दूसरे लोग (सर्वाणि) सम्पूर्ण (इन्द्रियकर्माणि) इन्द्रियो की चेष्टाओ को (च) और (प्राणकर्माणि) प्राणो के व्यपार को (ज्ञानदीपिते) ज्ञान से प्रकाशित (आत्मसयमयोगाग्नौ) अन्त करण के सयम रूप योगाग्नि मे (जुह्वति) हवन करते हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

द्रव्ययज्ञा, तपोयज्ञा, योगयज्ञा, तथा, अपरे,
स्वाध्यायज्ञानयज्ञा:, च, यतय, सशितव्रताः ॥२८॥

(अपरे) दूसरे लोग (द्रव्ययज्ञा:) द्रव्य का दान देने रूप यज्ञ करने, (तथा) तथा (तपोयज्ञा) तपयज्ञ करने, (योगयज्ञा) अष्टाग योग रूप यज्ञ करने, (च) और (स्वाध्यायज्ञानयज्ञा:) ग्रथो का अध्ययन करके ज्ञान चर्चा रूप यज्ञ करने मे (यतय) यत्नशील होकर (सशितव्रता.) अत्यन्त दृढ व्रतों मे लगे रहते हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

अपाने, जुह्वति, प्राणम्, प्राणे, अपानम्, तथा, अपरे,
प्राणापानगती, रुद्ध्वा, प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

(**अपरे**) दूसरे लोग (**अपाने**) अपान वायु में (**प्राणम्**) प्राण वायु का (**तथा**) तथा (**प्राणे**) प्राण वायु में (**अपानम्**) अपान वायु का (**जुह्वति**) हवन करते हैं, एवं (**प्राणापानगती**) प्राण और अपान की गति को (**रुद्ध्वा**) रोककर (**प्राणायामपरायणा**) प्राणायाम करने में लगे रहते हैं ।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

अपरे, नियताहाराः, प्राणान्, प्राणेषु, जुह्वति,
सर्वे, अपि, एते, यज्ञविदः, यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

(**अपरे**) दूसरे (**नियताहाराः**) नियमित आहार करनेवाले, (**प्राणान्**) प्राणों का (**प्राणेषु**) प्राणों में (**जुह्वति**) हवन करते हैं । (**एते सर्वे**) ये सब (**अपि**) ही लोग (**यज्ञक्षपितकल्मषा.**) इन यज्ञों को पाप का नाश करने वाले (**यज्ञविदः**) यज्ञ समझते हैं ।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

यज्ञशिष्टामृतभुजः, यान्ति, ब्रह्म, सनातनम्,
न, अयम्, लोकः, अस्ति, अयज्ञस्य, कुत., अन्यः, कुरुसत्तम ॥३१॥

(**कुरुसत्तम**) हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! (**यज्ञशिष्टामृतभुजः**) उपरोक्त ज्ञान यज्ञ से बचे हुए अमृत को भोगने वाले समत्वयोगी लोग (**सनातनम्**) सनातन (**ब्रह्म**) पर ब्रह्म को (**यान्ति**) प्राप्त होते हैं, अर्थात् सबकी एकता के आत्मज्ञान युक्त अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म, लोक संग्रह के लिए करने से जो कुछ अपने भाग का प्राप्त हो, उसी को भोगने वाले लोग परमानन्द को प्राप्त होते हैं । (**अयज्ञस्य**) परन्तु इस विधि से कर्म नहीं करने वाले, यज्ञरहित पुरुष को (**अयम्**) यह (**लोकः**) लोक भी (**न**) नहीं, अर्थात् इस जन्म में सुख-शान्ति नहीं होती (**अस्ति**) है, तो फिर (**अन्यः**) परलोक अर्थात् दूसरे जन्म में (**कुतः**) कैसे होगी ?

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

एवम्, बहुविधाः, यज्ञाः, विततः, ब्रह्मणः, मुखे,
कर्मजान्, विद्धि, तान्, सर्वान्, एवम्, ज्ञात्वा, विमोक्ष्यसे ।।३२।।

(एवम्) इस तरह (बहुविधा) बहुत प्रकार के (यज्ञा) यज्ञो का वर्णन (ब्रह्मणः) वेद की (मुखे) वाणी मे अर्थात् वेदादि शास्त्रो मे (विततः) विस्तार से किया गया है, (तान्) उन (सर्वान्) सब स्वार्थपरता के यज्ञो को (कर्मजान्) कर्म उत्पन्न करने वाले (विद्धि) जान, अर्थात् बन्धन कारक कर्म जान। (एवम्) इस प्रकार तत्त्व से (ज्ञात्वा) जान लेने से तूं, इनसे (विमोक्ष्यसे) मुक्त हो जायगा अर्थात् इनमे नहीं उलझेगा।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।३३।।

श्रेयान्, द्रव्यमयात्, यज्ञात् ज्ञानयज्ञः, परंतप,
सर्वम्, कर्म, अखिलम्, पार्थ, ज्ञाने, परिसमाप्यते ।।३३।।

(परन्तप) हे अर्जुन ! (द्रव्यमयात्) भौतिक पदार्थों से सिद्ध होने वाले (यज्ञात्) उन यज्ञो से (ज्ञानयज्ञ) सबकी एकता के आत्मज्ञान युक्त अपने कर्तव्य कर्म करने रूप ज्ञान यज्ञ (श्रेयान्) श्रेष्ठ है। (पार्थ) हे अर्जुन ! (सर्वम्) सम्पूर्ण (अखिलम्) यावत् मात्र (कर्म) कर्म (ज्ञाने) ज्ञान मे (परिसमाप्यते) पूर्णतया समाप्त हो जाते हैं, अर्थात् आत्मज्ञान सहित अपने कर्तव्य कर्म करने से उनका कर्मत्व मिटकर वे अकर्म हो जाते है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।।३४।।

तत्, विद्धि, प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन, सेवया,
उपदेक्ष्यन्ति, ते, ज्ञानम्, ज्ञानिनः, तत्त्वदर्शिनः ।।३४।।

(प्रणिपातेन) अहकार रहित, नम्रता और सरलता पूर्वक दण्डवत् प्रणाम करके, (सेवया) लोक सेवा के भाव सहित, (परिप्रश्नेन) निष्कपट भाव से सच्ची जिज्ञासापूर्वक प्रश्न करके (तत्) उस आत्मज्ञान को (विद्धि) तूं जान। (तत्त्वदर्शिन) तत्त्व को जानने वाले (ज्ञानिनः) ज्ञानीजन (ते) तुझे (ज्ञानम्) आत्म ज्ञान का (उपदेक्ष्यन्ति) उपदेश करेंगे।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।।३५।।

यत्, ज्ञात्वा, न, पुनः, मोहम्, एवम्, यास्यसि, पाण्डव,
येन, भूतानि, अशेषेण, द्रक्ष्यसि, आत्मनि, अथः, मयि ॥३५॥

(यत्) जिसको (ज्ञात्वा) जानकर तूं (पुनः) फिर (एवम्) इस प्रकार (मोहम्) मोह को (न) नहीं (यास्यसि) प्राप्त होगा। (पाण्डव) हे अर्जुन! (येन) जिस ज्ञान के द्वारा तूं (अशेषेण) सम्पूर्ण (भूतानि) जगत् को (आत्मनि) अपने में (अथः) और (मयि) मुझ में (द्रक्ष्यसि) देखेगा।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३४ ॥

अपि, चेत्, असि, पापेभ्यः, सर्वेभ्यः, पापकृत्तमः,
सर्वम्, ज्ञानप्लवेन, एव, वृजिनम्, संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

(चेत्) यदि, तू भेदवादी लोगों की भौतिक दृष्टि में, (सर्वेभ्यः) सब (पापेभ्यः) पापियों से (अपि) भी (पापकृत्तमः) अधिक पाप करने वाला (असि) है, तो भी (ज्ञानप्लवेन) उपर्युक्त सबकी एकता के आत्मज्ञान रूप नौका द्वारा (एव) निःसन्देह (सर्वम्) सम्पूर्ण (वृजिनम्) पापों को (संतरिष्यसि) पूर्णतया तर जायगा।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

यथा, एधांसि, समिद्धः, अग्निः, भस्मसात्, कुरुते, अर्जुन,
ज्ञानाग्निः, सर्वकर्माणि, भस्मसात्, कुरुते, तथा ॥ ३७ ॥

(अर्जुन) हे अर्जुन! (यथा) जैसे (समिद्धः) प्रज्वलित (अग्निः) अग्नि (एधांसि) इन्धन को (भस्मसात्) भस्ममय (कुरुते) कर देता है, (तथा) वैसे ही (ज्ञानाग्निः) आत्मज्ञान रूप अग्नि (सर्वकर्माणि) सम्पूर्ण कर्मों के बन्धनों को (भस्मसात्) भस्ममय (कुरुते) कर देता है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

न, हि, ज्ञानेन, सदृशम्, पवित्रम्, इह, विद्यते,
तत्, स्वयम्, योगसंसिद्धः, कालेन, आत्मनि, विन्दति ॥ ३८ ॥

(इह) इस संसार में (ज्ञानेन) आत्मज्ञान के (सदृशम्) समान (पवित्रम्) पवित्र (हि) निःसन्देह, कुछ भी (न) नहीं (विद्यते) है, (तत्) वह ज्ञान (योग) समत्व-योग में (संसिद्धः) पूर्णतया स्थित पुरुष (कालेन) काल पाकर (स्वयम्)

अपने आप (आत्मनि) अपने आप में (विन्दति) अनुभव कर लेता है।

परोक्ष आत्मज्ञान के अभ्यास से समत्व-योग के आचरण में प्रवृत्ति होती है, और समत्व योग के आचरण की पूर्णता होने से अपरोक्ष आत्मज्ञान में दृढ स्थिति होती है। दोनों एक दूसरे के सहायक हैं।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

श्रद्धावान्, लभते, ज्ञानम्, तत्परः, संयतेन्द्रियः,
ज्ञानम्, लब्ध्वा, पराम्, शान्तिम्, अचिरेण, अधिगच्छति ॥ ३९ ॥

(श्रद्धावान्) श्रद्धावान् पुरुष, (संयतेन्द्रियः) जितेन्द्रिय और (तत्परः) तत्पर होने से (ज्ञानम्) आत्मज्ञान को (लभते) प्राप्त कर लेता है। (ज्ञानम्) आत्मज्ञान को (लब्ध्वा) प्राप्त करके (अचिरेण) तत्काल ही (पराम्) परम (शान्तिम्) शान्ति को (अधिगच्छति) प्राप्त हो जाता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

अज्ञः, च, अश्रद्दधानः, च, संशयात्मा, विनश्यति,
न, अयम्, लोकः, अस्ति, न, परः, न, सुखम्, संशयात्मनः ॥ ४० ॥

(अज्ञः) यथार्थ ज्ञान से रहित (च) तथा (अश्रद्दधानः) श्रद्धा से शून्य, (संशयात्मा) संशय युक्त पुरुष (विनश्यति) नष्ट हो जाता है, (च) और (संशयात्मनः) संशय युक्त पुरुष को (न) न (सुखम्) सुख है, (न) न (अयम्) यह (लोकः) लोक और (न) न (परः) परलोक (अस्ति) है, अर्थात् उसको इस जन्म में तथा दूसरे जन्मों में भी कभी सुख-शान्ति नहीं मिलती। उसका जीवन नष्ट हो जाता है।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

योगसंन्यस्तकर्माणम्, ज्ञानसंछिन्नसंशयम्,
आत्मवन्तम्, न, कर्माणि, निबध्नन्ति, धनंजय ॥ ४१ ॥

(धनंजय) हे अर्जुन! (योगसंन्यस्तकर्माणम्) समत्व बुद्धि रूप योग द्वारा, जिसने कर्मों में व्यक्तित्व की आसक्ति त्याग दी है, तथा (ज्ञानसंछिन्नसंशयम्) आत्म-ज्ञान द्वारा जिसके सब संशय निवृत्त हो गये हैं; (आत्मवन्तम्) उस आत्म ज्ञानी पुरुष को (कर्माणि) कर्म (न) नहीं (निबध्नन्ति) बाँधते हैं।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।। ४२ ।।

तस्मात्, अज्ञानसंभूतम्, हृत्स्थम्, ज्ञानासिना, आत्मनः,
छित्त्वा, एनम्, संशयम्, योगम्, आतिष्ठ, उत्तिष्ठ, भारत ।। ४२ ।।

(तस्मात्) इसलिए (भारत) हे अर्जुन ! तू (योगम्) समत्व बुद्धिरूप योग में (आतिष्ठ) स्थित हो, और (अज्ञान संभूतम्) अज्ञान से उत्पन्न हुए (हृत्स्थम्) हृदय में स्थित (एनम्) इस (आत्मनः) अपने अन्तःकरण के (संशयम्) संशय को (ज्ञानासिना) आत्म-ज्ञानरूप तलवार से (छित्त्वा) काटकर, युद्ध के लिए (उत्तिष्ठ) उठ खड़ा हो ।

संगति—वेदादि शास्त्रों में बहुत प्रकार के कर्मों का वर्णन है, जिनको अनेक अज्ञानी लोग कल्याणकारक यज्ञ समझकर ही करते हैं । उनमें से कुछ का संक्षिप्त उल्लेख करके, भगवान कहते हैं कि सच्चा यज्ञ तो सबकी एकता के आत्म-ज्ञान युक्त, साम्य भाव से अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म करने का ज्ञान यज्ञ ही है, और वह आत्मज्ञान लोक-सेवा के काम करने द्वारा व्यक्तित्व के अभिमान से रहित होकर, श्रद्धा पूर्वक, सच्ची जिज्ञासा करने से, तत्त्वदर्शी आत्मज्ञानी महा-पुरुषों के उपदेशों से प्राप्त होता है । पर सबकी एकता का वह परोक्ष और अदृढ़ आत्मज्ञान, समत्व-योग का दीर्घ काल तक आचरण करते रहने से, शनैःशनै बढ़ता हुआ, समय पाकर अपरोक्ष और दृढ़ हो जाता है, और तब सबके अपने आप-आत्मा का अनुभव निरन्तर अटल बना रहता है । केवल आत्मज्ञान का उपदेश सुन लेने और पढ़ लेने मात्र से ही उसका अपरोक्ष अनुभव नहीं होता, न वह स्थायी ही रह सकता है; किन्तु उसके आधार पर समत्व-योग का आचरण करने से ही वह पक्का होता है । जो लोग इस आत्मज्ञान में श्रद्धा ही नहीं रखते, वे संशय में पड़े हुए अपना जीवन वृथा ही बिता देते हैं । उनका यह लोक और पर-लोक दोनों ही विगड़ जाते हैं । इसलिए श्रद्धापूर्वक आत्मज्ञान प्राप्त करके, संशय रहित होकर, साम्य भाव से अपनी-अपनी योग्यता से संसार के व्यवहार करते रहना चाहिए ।

।। चौथा अध्याय समाप्त ।।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

सन्यासम्, कर्मणाम्, कृष्ण, पुन., योगम्, च, शसति,
यत्, श्रेय', एतयो , एकम्, तत्, मे, ब्रूहि, सुनिश्चितम् ॥ १ ।

अर्जुन बोला कि—

(कृष्ण) हे कृष्ण ! आप (कर्मणाम्) कर्मों के (संन्यासम्) सन्यास को (च) और (पुनः) फिर (योगम्) कर्मयोग की भी (शंससि) प्रशसा करते हो । (एतयो) इन दोनो मे से (एकम्) एक (यत्) जो (श्रेयः) श्रेयस्कर हो, (तत्) वह (सुनिश्चितम्) पूरी तरह निश्चय करके (मे) मुझे (ब्रूहि) कहिये ।

कर्म-सन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की श्रेष्ठता का और अधिक खुलासा करवाने के लिए अर्जुन की यह जिज्ञासा है ।

श्री भगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

संन्यास , कर्मयोग-, च, नि श्रेयसकरौ, उभौ,
तयो', तु, कर्मसन्यासात्, कर्मयोग , विशिष्यते ॥ २ ॥

श्री भगवान् बोले कि—

(संन्यासः) आत्मज्ञान सहित सन्यास निष्ठा, (च) और (कर्मयोग) आत्मज्ञान सहित कर्मयोग निष्ठा, (उभौ) दोनो ही (नि श्रेयसकरौ) श्रेयस्कर है अर्थात् आध्यात्मिक शान्ति देनेवाले हैं; (तु) परन्तु (तयो.) उन दोनों मे से (कर्मसंन्यासात्) कर्मों के संन्यास की अपेक्षा (कर्मयोगः) कर्मयोग (विशिष्यते) श्रेष्ठ है, क्योंकि इससे आध्यात्मिक शान्ति के साथ-साथ शरीर की आधिभौतिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति होती है ।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ।। ३ ।।

ज्ञेयः, सः, नित्यसंन्यासी, यः, न, द्वेष्टि, न, कांक्षति,
निर्द्वन्द्वः, हि, महाबाहो, सुखम्, बन्धात्, प्रमुच्यते ।। ३ ।।

(महाबाहो) हे अर्जुन ! (यः) जो पुरुष अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तानुसार (न) न किसीसे (द्वेष्टि) द्वेष करता है, (न) न किसी बात की (कांक्षति) चाह रखता है; (सः) वह (नित्य संन्यासी) सदा ही संन्यासी (ज्ञेयः) समझा जाने योग्य है, (हि) क्योंकि (निर्द्वन्द्वः) राग द्वेष आदि द्वन्द्वों से रहित होने के कारण वह (सुखम्) सहज ही (बन्धात्) कर्मों के बन्धन से (प्रमुच्यते) मुक्त हो जाता है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।। ४ ।।

सांख्ययोगौ, पृथक्, बालाः, प्रवदन्ति, न, पण्डिताः,
एकम्, अपि, आस्थितः, सम्यक्, उभयोः, विन्दते, फलम् ।। ४ ।।

(सांख्ययोगौ) आत्मज्ञान युक्त संन्यास निष्ठा, और आत्मज्ञानयुक्त कर्मयोग-निष्ठा को (बालाः) बेसमझ लोग (पृथक्) अलग-अलग (प्रवदन्ति) कहते हैं, (न) न कि (पण्डिताः) अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के ज्ञाता विद्वान् लोग, क्योंकि दोनों में से (एकम्) एक में (अपि) भी (सम्यक्) अच्छी प्रकार यथार्थ रूप से (आस्थितः) स्थित होने वाला, (उभयोः) दोनों के (फलम्) फल को (विन्दते) प्राप्त होता है, अर्थात् आध्यात्मिक सुख शान्ति प्राप्त कर लेता है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।। ५ ।।

यत्, सांख्यैः, प्राप्यते, स्थानम्, तत्, योगैः, अपि, गम्यते,
एकम्, सांख्यम्, च, योगम्, च, यः, पश्यति, सः, पश्यति ।। ५ ।।

(सांख्यैः) सांख्य सिद्धान्त के अनुयायी संन्यासियों द्वारा (यत्) जो (स्थानम्) स्थिति (प्राप्यते) प्राप्त की जाती है, (योगैः) कर्मयोगियों द्वारा (अपि) भी (तत्) वही (गम्यते) प्राप्त की जाती है। (यः) जो आत्मानुभवी पुरुष (सांख्यम्) सांख्य सिद्धान्त की संन्यास निष्ठा, (च) और (योगम्) अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त की कर्मयोग निष्ठा की (एकम्) एकता (पश्यति) देखता अर्थात् समझता है, (सः च) वह ही (पश्यति) देखता है, अर्थात् जो इनमें अभेद-

दर्शी है, वही यथार्थदर्शी है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ ६॥

सन्यासः, तु, महाबाहो, दुःखम्, आप्तुम्, अयोगतः,
योगयुक्तः, मुनिः, ब्रह्म, नचिरेण, अधिगच्छति॥ ६॥

(तु) परन्तु (महाबाहो) हे अर्जुन! (अयोगतः) कर्म-योग के बिना, शरीर की प्राकृतिक आवश्यकताएँ पूरी न होने के कारण, (सन्यासः) सन्यास की (आप्तुम्) प्राप्ति (दुःखम्) दुःख रूप है। (योगयुक्तः) समत्व-योग मे जुड़ा हुआ कर्मयोगी (मुनि) विचारशील पुरुष (ब्रह्म) ब्रह्मभाव के परमानन्द को (नचिरेण) तत्काल ही (अधिगच्छति) प्राप्त हो जाता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥

योगयुक्तः, विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः,
सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्, अपि, न, लिप्यते॥ ७॥

(योगयुक्त) सबकी एकता के साम्य भाव मे जुड़ा हुआ, (विजितात्मा) मन पर विजय प्राप्त, (जितेन्द्रिय) जितेन्द्रिय, (विशुद्धात्मा) विशुद्ध अन्तःकरण वाला समत्व-योगी, (सर्वभूतात्म-भूतात्मा) सम्पूर्ण भूत प्राणियो की आत्मा के साथ अपने आत्मा की एकता का अनुभव करता है; इसलिए वह (कुर्वन्) सब प्रकार के कर्म करता हुआ (अपि) भी (न लिप्यते) उनमे लिपायमान नही होता, अर्थात् अभेद दृष्टि हो जाने से उसको दूसरो से अलग अपने व्यक्तित्व का अहकार नही होता, इसलिए सब व्यवहार करता हुआ भी वह अकर्ता ही रहता है।

सगति—साख्य सिद्धान्त के अनुसार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के घर-गृहस्थी के सब काम-धन्धे छोड़कर केवल आत्मज्ञान की चर्चा और आत्मचिन्तन मे लगे रहने की सन्यास निष्ठा, और अद्वैत वेदान्त सिद्धान्तानुसार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के घर-गृहस्थी के कर्तव्य कर्म, सबकी एकता के आत्मज्ञान युक्त साम्यभाव से, लोक सग्रह के लिए करते रहने की कर्मयोग निष्ठा, इन दोनो मे कौन-सी अधिक श्रेयस्कर है, इस आशय की अर्जुन की जिज्ञासा के उत्तर मे भगवान् कहते है कि केवल आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करने की दृष्टि से तो आत्मज्ञान युक्त सन्यास निष्ठा और आत्मज्ञान युक्त कर्मयोग निष्ठा दोनो ही श्रेयस्कर है, परन्तु इन दोनो मे से कर्मयोग निष्ठा की विशेषता है, क्योकि इसमे आध्यात्मिक शान्ति के साथ आधिभौतिक अभ्युदय भी होता है, जिसके बिना सन्यासी और गृहस्थी दोनों का जीवन निर्वाह नही हो

सकता। सच्चा संन्यासी तो वह है, जो आध्यात्मिक निःश्रेयस और आधिभौतिक अभ्युदय दोनों के ग्रहण और त्याग के द्वन्द्वों में राग अथवा द्वेष नहीं रखता, चाहे वह संन्यासी के स्वांग में लोगों को आध्यात्मिक ज्ञान का सदुपदेश देने की समाज सेवा करे, अथवा गृहस्थी के स्वांग में चातुर्वर्ण्य व्यवस्थानुसार अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म करने द्वारा समाज की आवश्यकताएँ पूरी करने में योग देता रहे। दोनों की स्थिति एक समान है। आत्मज्ञान दोनों को एक समान होता है; स्वांग दोनों ही के एक समान कल्पित होते हैं और आत्मानन्द दोनों को ही एक समान प्राप्त होता है। इस दृष्टि से आत्मज्ञान सहित कर्मयोग और आत्मज्ञान सहित सांख्ययोग अर्थात् संन्यास में कोई अन्तर नहीं है; परन्तु चातुर्वर्ण्य विहित कर्म किये बिना न तो घर-गृहस्थी का जीवन निर्वाह हो सकता है और न संन्यासी का। जीवन के आवश्यक पदार्थ प्राप्त हुए बिना संन्यास निष्ठा दुःख रूप हो जाती है। गृहस्थाश्रम में सब लोगों के साथ अपनी आत्मीयता का अनुभव रखते हुए, अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म लोक-संग्रह के लिए किये जाते हैं, जिनसे स्वयं कर्म करने वाले की और समाज की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। उसके कर्म, अकर्म रूप होते हैं। उसको किसी दूसरे पर निर्भर रहना नहीं पड़ता। अतः वह परतन्त्रता के बन्धनों से मुक्त, परमात्मभाव के परमानन्द में स्थित रहता है।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यंश्रृण्वन्स्पृशंजिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपंश्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

न, एव, किंचित्, करोमि, इति, युक्तः, मन्येत्, तत्त्ववित्,
पश्यन्, श्रृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्, गच्छन्, स्वपन्,
श्वसन्, प्रलपन्, विसृजन्, गृह्णन्, उन्मिषन्, निमिषन्, अपि,
इन्द्रियाणि, इन्द्रियार्थेषु, वर्तन्ते, इति, धारयन् ॥ ८-९ ॥

(तत्त्ववित्) तत्त्व को जानने वाला (युक्तः) समत्व-योगी (पश्यन्) देखता हुआ, (श्रृण्वन्) सुनता हुआ, (स्पृशन्) स्पर्श करता हुआ, (जिघ्रन्) सूंघता हुआ, (अश्नन्) खाता हुआ, (गच्छन्) चलता हुआ, (स्वपन्) सोता हुआ, (श्वसन्) श्वास लेता हुआ, (प्रलपन्) बोलता हुआ, (विसृजन्) छोड़ता हुआ, (गृह्णन्) ग्रहण करता हुआ, (उन्मिषन्) आँखों को खोलता हुआ और (निमिषन्) मीचता हुआ (अपि) भी, सबके साथ अपनी एकता के ज्ञान के कारण (एव इति) यह ही (मन्येत्) मानता है कि व्यक्तिगत रूप से (किंचित्) मैं कुछ भी (न) नहीं

(करोमि) करता हूँ; (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ ही समष्टि प्रकृति के नियम अनुसार (इन्द्रियार्थेषु) अपने-अपने विषयों में (वर्तन्ते) वर्त रही है, (इति धारयन्) यह धारणा रखता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

ब्रह्मणि, आधाय, कर्माणि, सङ्गम्, त्यक्त्वा, करोति, यः,
लिप्यते, न, सः, पापेन, पद्मपत्रम्, इव, अम्भसा ॥१०॥

(यः) जो पुरुष (सङ्गम्) व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति (त्यक्त्वा) छोड़कर, (ब्रह्मणि) सर्व व्यापक ब्रह्म में (आधाय) अर्पण करके, अर्थात् समष्टि समाज की सुव्यवस्था रूप लोक संग्रह के लिए (कर्माणि) कर्म (करोति) करता है, (सः) वह पुरुष, (अम्भसा) जिस तरह जल में (पद्मपत्रम्) कमल का पत्ता नहीं भीगता, (इव) उसी तरह (पापेन) पाप से (न लिप्यते) लिपायमान नहीं होता।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

कायेन, मनसा, बुद्धया, केवलैः, इन्द्रियैः, अपि,
योगिनः, कर्म, कुर्वन्ति, सङ्गम्, त्यक्त्वा, आत्मशुद्धये ॥११॥

(योगिनः) समत्व-योगी लोग (सङ्गम्) व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति को (त्यक्त्वा) त्यागकर, (आत्म-शुद्धये) अन्तःकरण को द्वैत भाव रूपी मैल से शुद्ध रखने के लिए, (कायेन) शरीर से, (मनसा) मन से, (बुद्ध्या) बुद्धि से, और (केवलैः) केवल (इन्द्रियैः) इन्द्रियों से (अपि) भी (कर्म) कर्म (कुर्वन्ति) किया करते हैं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

युक्तः, कर्मफलम्, त्यक्त्वा, शान्तिम्, आप्नोति, नैष्ठिकीम्,
अयुक्तः, कामकारेण, फले, सक्तः, निबध्यते ॥१२॥

(युक्तः) सबकी एकता के साम्य भाव में स्थित कर्म-योगी (कर्मफलम्) व्यक्तिगत स्वार्थ के कर्मफल को (त्यक्त्वा) त्यागकर, (नैष्ठिकीम्) सदा बनी रहने वाली पूर्ण (शान्तिम्) शान्ति को (आप्नोति) प्राप्त होता है, परन्तु (अयुक्तः) समत्व-योग रहित स्वार्थी पुरुष (फले सक्तः) फल में आसक्त होकर (काम कारेण) व्यक्तिगत स्वार्थ की कामनाओं के कारण (निबध्यते) बन्धता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

सर्वकर्माणि, मनसा, संन्यस्य, आस्ते, सुखम्, वशी,
नवद्वारे, पुरे, देही, न, एव, कुर्वन्, न, कारयन् ॥१३॥

(**वशी**) अन्तःकरण और इन्द्रियों को वश में रखने वाला (**देही**) देह धारी, आत्मज्ञानी समत्व-योगी (**मनसा**) मन से (**सर्वकर्माणि**) सब कर्मों को (**संन्यस्य**) त्यागकर अर्थात् आसक्ति रहित होकर, (**न एव**) न तो कुछ (**कुर्वन्**) करता हुआ, (**न**) न (**कारयन्**) करवाता हुआ (**नवद्वारे**) नवद्वारों वाले (**पुरे**) शरीर रूपी नगर में (**सुखम् आस्ते**) आनन्दपूर्वक स्थित रहता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

न, कर्तृत्वम्, न, कर्माणि, लोकस्य, सृजति, प्रभुः,
न, कर्मफलसंयोगम्, स्वभावः, तु, प्रवर्तते ॥ १४ ॥

(**प्रभुः**) परमेश्वर (**न**) न तो (**लोकस्य**) लोगों के (**कर्तृत्वम्**) कर्तापन को, (**न**) न (**कर्माणि**) कर्मों को, (**न**) न (**कर्मफल संयोगम्**) कर्मों के फल के संयोग को (**सृजति**) रचता है, (**तु**) किन्तु (**स्वभावः**) सबका अपना-अपना स्वभाव ही (**प्रवर्तते**) बर्त रहा है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

न, आदत्ते, कस्यचित्, पापम्, न, च, एव, सुकृतम्, विभुः,
अज्ञानेन, आवृतम्, ज्ञानम्, तेन, मुह्यन्ति, जन्तवः ॥ १५ ॥

(**विभुः**) सर्वव्यापी, सबका आत्मा-परमात्मा, (**न**) न (**कस्यचित्**) किसी के (**पापम्**) पाप को (**च**) और (**न**) न (**सुकृतम्**) पुण्य को (**एव**) ही (**आदत्ते**) लेता है। (**अज्ञानेन**) अज्ञान से (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**आवृतम्**) ढका हुआ है, (**तेन**) जिससे (**जन्तवः**) सब जीव (**मुह्यन्ति**) मोहित हो रहे हैं, अर्थात् अज्ञान के कारण लोग भ्रम में पड़े हुए हैं कि हमसे भिन्न परमेश्वर हमारे द्वारा अच्छे-बुरे कर्म करवाता है।

संगति—श्लोक ८ से १३ तक में कहा है कि आत्मज्ञानी समत्व-योगी सब कुछ करता हुआ भी यह मानता है कि मैं कुछ भी नहीं करता, अतः वह कर्मों के बन्धन से नहीं बँधता; इससे कोई यह नहीं समझे कि अज्ञानी लोगों की तरह

आत्मज्ञानी भी यही मानता है कि सब कुछ करने कराने वाला तो कोई अलग ईश्वर है, मैं तो उसका एक हथियार-मात्र हूँ, वह जो कुछ करवाता है, वही मैं करता हूँ। इसलिए भगवान १४-१५ श्लोको मे स्पष्ट करते हैं कि ईश्वर, लोगो से अलग रहता हुआ उनसे किसी प्रकार का कर्म नही करवाता, न किसी को अच्छे बुरे कर्मों का फल देता है और न किसी के पाप-पुण्य की जिम्मेवारी लेता है, किन्तु लोग अपने अज्ञान के कारण, व्यष्टि भाव से व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए कर्म करते हैं और उनकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया रूप फल भोगते हैं। सर्वत्र आत्मा-परमात्मा सदा असग और निर्लिप्त रहता है। यद्यपि वह सबमे ओत-प्रोत भरा हुआ सबको सत्तायुक्त करता है, उस सर्वात्मा की सत्ता के आधार पर ही अखिल विश्व के अच्छे-बुरे व्यवहार चल रहे है, परन्तु किसी व्यक्ति विशेष के कर्मों का कर्तापन उसमे नही होता, क्योकि सब कुछ वह एक और सम होने के कारण अच्छे और बुरे दोनो विरोधी भाव आपस मे मिलकर सम हो जाते है, एक का भी अलग अस्तित्व नही रहता। आत्मज्ञानी समत्व-योगी की स्थिति उसी सर्वात्म भाव की होती है, इसलिए वह अपनी सत्ता से, शरीर-मन-बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा ससार चक्र को चलाने के लिए, सब प्रकार के कर्म करता हुआ भी उनमे अलिप्त रहता है, क्योकि कर्म करने मे उसका व्यष्टि भाव, और उनसे होने वाले फल मे उसके व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति नही रहती। उसकी स्थिति सबके भीतरी एकता रूप परमतत्त्व परमात्मा मे रहती है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

ज्ञानेन, तु, तत्, अज्ञानम्, येषाम्, नाशितम्, आत्मनः,
तेषाम्, आदित्यवत्, ज्ञानम्, प्रकाशयति, तत्परम् ॥ १६ ॥

(तु) परन्तु (येषाम्) जिनके (आत्मन) अन्तकरण का (तत्) वह (अज्ञानम्) अज्ञान, (ज्ञानेन) आत्मज्ञान द्वारा (नाशितम्) नष्ट हो गया है, (तेषाम्) उनका (ज्ञानम्) आत्मज्ञान (आदित्यवत्) सूर्य की तरह (तत्परम्) उस परमतत्त्व परमात्मा को अपने और सबके अन्दर (प्रकाशयति) प्रकाशता है अर्थात् अनुभव कराता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

तद्बुद्धय, तदात्मान, तन्निष्ठा, तत्परायणा,
गच्छन्ति, अपुनरावृत्तिम्, ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

(तद्बुद्धय:) जिनकी बुद्धि में, सब में रहने वाले उस परमतत्त्व का निश्चय हो जाता है, (तदात्मान:) जो उस परमतत्त्व को अपना आत्मा अनुभव करते हैं, (तन्निष्ठा) उसी में जिनकी दृढ़ स्थिति हो जाती है, (तत्परायणा:) उसी के परायण अर्थात् तद्रूप हो जाते हैं, तथा (ज्ञाननिर्धूतकल्मषा:) जिनका द्वैत भाव रूपी मल, उक्त आत्मज्ञान से धुप गया है, वे (अपुनरावृत्तिम्) न लौटने वाले परम पद को अर्थात् अविनाशी परमानन्द को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता: समदर्शिन: ।। १८ ।।

विद्याविनयसंपन्ने, ब्राह्मणे, गवि, हस्तिनि,
शुनि, च, एव, श्वपाके, च, पण्डिता:, समदर्शिन: ।। १८ ।।

(पण्डिता:) आत्मज्ञानी समत्व-योगी लोग, (विद्या विनयसंपन्ने) विद्या और विनय युक्त (ब्राह्मणे) ब्राह्मण में, (च) तथा (गवि) गौ, (हस्तिनि) हाथी (च) और (एव) उसी तरह (शुनि) कुत्ते, तथा (श्वपाके) चाण्डाल में (समदर्शिन:) समदर्शी होते हैं, अर्थात् ऊँच, नीच, अच्छे, बुरे सब में एकता और समता का अनुभव करते हैं।

इहैव तैर्जित: सर्गो येषां साम्ये स्थितं मन: ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिता: ।। १९ ।।

इह, एव, तै:, जित:, सर्ग:, येषाम्, साम्ये, स्थितम्, मन:,
निर्दोषम्, हि, समम्, ब्रह्म, तस्मात्, ब्रह्मणि, ते, स्थिता: ।। १९ ।।

(येषाम्) जिनका (मन:) मन (साम्ये) उपर्युक्त समता के भाव में (स्थितम्) स्थित है, (तै:) उनके द्वारा (इह) इस जीवन में (एव) ही (सर्ग:) सम्पूर्ण संसार (जित:) जीत लिया गया है, (हि) क्योंकि (ब्रह्म) सब का आत्मा-ब्रह्म (निर्दोषम्) निर्विकार, और (समम्) सम है, (तस्मात्) इसलिए (ते) वे (ब्रह्मणि) सर्वात्म-भाव रूप ब्रह्म में ही (स्थिता:) स्थित रहते हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थित: ।। २० ।।

न, प्रहृष्येत्, प्रियम्, प्राप्य, न, उद्विजेत्, प्राप्य, च, अप्रियम्,
स्थिरबुद्धि:, असंमूढ:, ब्रह्मवित्, ब्रह्मणि; स्थित: ।। २० ।।

(प्रियम्) जो अच्छे लगने वाले प्रिय बनावों के (प्राप्य) संयोग होने पर (न प्रहृष्येत्) विशेष हर्षित नहीं होता, (च) और (अप्रियम्) बुरे लगने वाले

अप्रिय बनावों के (प्राप्य) संयोग होने पर (न उद्विजेत्) उद्विग्न नहीं होता, अर्थात् अनुकूलता-प्रतिकूलता में सम बना रहता है, वह (स्थिरबुद्धि:) स्थिर बुद्धि, (असंमूढ:) मोह रहित, (ब्रह्मवित्) ब्रह्मवेत्ता पुरुष (ब्रह्मणि) ब्रह्म में, अर्थात् सर्वात्म-परमात्म भाव में (स्थित:) स्थित रहता है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

बाह्यस्पर्शेषु, असक्तात्मा, विन्दति, आत्मनि, यत्, सुखम्,
स:, ब्रह्मयोगयुक्तात्मा, सुखम्, अक्षयम्, अश्नुते ॥ २१ ॥

(बाह्यस्पर्शेषु) बाहरी भेदों के अलग-अलग बनावों के सम्बन्धों में (असक्तात्मा) आसक्ति रहित अन्तःकरण वाला पुरुष, (आत्मनि) अपने अन्तरात्मा में (यत्) जो (सुखम्) आनन्द है, उसको (विन्दति) प्राप्त होता है; (स) वह (ब्रह्मयोगयुक्तात्मा) सर्वात्म-ब्रह्म भाव में स्थित समत्व-योगी (अक्षयम्) अक्षय (सुखम्) आनन्द का (अश्नुते) अनुभव करता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

ये, हि, संस्पर्शजा:, भोगा:, दुःखयोनय:, एव, ते,
आद्यन्तवन्त:, कौन्तेय, न, तेषु, रमते, बुध: ॥ २२ ॥

(हि) क्योंकि (ये) जो (संस्पर्शजा:) बाहरी सम्बन्धों से उत्पन्न होने वाले (भोगा:) भोग हैं, (ते) वे (दुःखयोनयः एव) दुःख के ही कारण हैं, और (आद्यन्तवन्त) आदि-अन्त वाले अर्थात् अनित्य हैं। (कौन्तेय) हे अर्जुन! (बुध) बुद्धिमान् पुरुष (तेषु) उनमें (न रमते) प्रीति नहीं रखता।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

शक्नोति, इह, एव, य:, सोढुम्, प्राक्, शरीरविमोक्षणात्,
कामक्रोधोद्भवम्, वेगम्, स:, युक्त:, स:, सुखी, नर: ॥ २३ ॥

(य) जो मनुष्य (इह) इसी जन्म में (शरीरविमोक्षणात्) शरीर छूटने से (प्राक्) पहले (एव) ही (कामक्रोधोद्भवम्) काम और क्रोध से उत्पन्न होने वाले (वेगम्) वेग को (सोढुम्) सहन करने में (शक्नोति) समर्थ है, अर्थात् काम, क्रोध को जिसने जीत लिया है, (स:) वही (युक्त) समत्व-योगी है, (स:) वही (सुखी नर:) सुखी मनुष्य है।

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

यः, अन्तःसुखः, अन्तरारामः, तथा, अन्तर्ज्योतिः, एव, यः,
सः, योगी, ब्रह्मनिर्वाणम्, ब्रह्मभूतः, अधिगच्छति ॥ २४ ॥

(यः) जो पुरुष (**अन्तःसुखः एव**) बाहरी भिन्नता के बनावों में आसक्ति न रखकर, सबके भीतरी एकता स्वरूप अन्तर आत्मा में ही आनन्द का अनुभव करता है, (**अन्तरारामः**) अन्तर आत्मा में ही आराम पाता है, (**तथा**) तथा (**यः**) जो (**अन्तर्ज्योतिः**) अन्तर आत्मा ही से प्रकाश पाता है; (**सः**) वह (**ब्रह्मभूतः**) ब्रह्म स्वरूप (**योगी**) समत्व-योगी (**ब्रह्मनिर्वाणम्**) ब्रह्मनिर्वाण पद को (**अधिगच्छति**) प्राप्त होता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

लभन्ते, ब्रह्मनिर्वाणम्, ऋषयः, क्षीणकल्मषाः,
छिन्नद्वैधाः, यतात्मानः, सर्वभूतहिते, रताः ॥ २५ ॥

(**छिन्नद्वैधाः**) जिनका द्वैत भाव मिट गया है, (**क्षीणकल्मषाः**) जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, (**यतात्मानः**) जिन्होंने अन्तःकरण वश में कर लिया है, (**सर्वभूत-हिते रताः**) और जो सब भूत प्राणियों के हित में लगे रहते हैं, (**ऋषयः**) वे आत्मदर्शी ऋषि लोग (**ब्रह्मनिर्वाणम्**) ब्रह्मनिर्वाण पद को (**लभन्ते**) पाते हैं।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

कामक्रोधवियुक्तानाम्, यतीनाम्, यतचेतसाम्,
अभितः, ब्रह्मनिर्वाणम्, वर्तते, विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

(**कामक्रोधवियुक्तानाम्**) काम और क्रोध से रहित, (**यतचेतसाम्**) वश में किये हुए चित्त वाले, (**विदितात्मनाम्**) आत्मज्ञान सम्पन्न (**यतीनाम्**) ज्ञानी पुरुषों के लिए, (**ब्रह्मनिर्वाणम्**) ब्रह्म निर्वाण पद (**अभितः**) साक्षात् ही (**वर्तते**) प्राप्त है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥

स्पर्शान्, कृत्वा, बहिः, बाह्यान्, चक्षु, च, एव, अन्तरे, भ्रुवोः,
प्राणापानौ, समौ, कृत्वा, नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥

(बाह्यान्) बाहर के (स्पर्शान्) सम्बन्धो को (बहि:) बाहर (एव) ही (कृत्वा) करके, (च) और (चक्षु:) नेत्रों की दृष्टि को (भ्रुवो:) भृकुटी के (अन्तरे) बीच मे स्थित करके, तथा (नासाभ्यन्तरचारिणौ) नासिका मे विचरने वाले (प्राणापानौ) प्राण और अपानवायु को (समौ) सम (कृत्वा) करके;

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।। २८ ।।

यतेन्द्रियमनोबुद्धि:, मुनि:, मोक्षपरायण:,
विगतेच्छाभयक्रोध:, य:, सदा, मुक्त:, एव, स: ।। २८ ।।

(यतेन्द्रियमनोबुद्धि:) इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि को अपने वश मे करने वाला (मोक्षपरायण:) मोक्ष परायण (मुनि:) समत्व-योगी (य:) जो (विगतेच्छाभयक्रोध:) चाह, भय और क्रोध से रहित है, (स:) वह (सदा) सदा (मुक्त:) मुक्त (एव) ही है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।। २९ ।।

भोक्तारम्, यज्ञतपसाम्, सर्वलोकमहेश्वरम्,
सुहृदम्, सर्वभूतानाम्, ज्ञात्वा, माम्, शान्तिम्, ऋच्छति ।। २९ ।।

(माम्) सबके अपने आप, सबके आत्मा स्वरूप मुझको, (यज्ञतपसाम्) यज्ञ और तपो का (भोक्तारम्) भोगने वाला, (सर्वलोकमहेश्वरम्) सम्पूर्ण लोकों का महान् ईश्वर, तथा (सर्वभूतानाम्) सब भूत प्राणियो का (सुहृदम्) सुहृद अर्थात् प्यारा अन्तरात्मा (ज्ञात्वा) जानकर, समत्व-योगी (शान्तिम्) शान्ति को (ऋच्छति) प्राप्त होता है।

संगति—आत्मज्ञानी समत्व-योगी छोटे-बडे, ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष, मनुष्य-पशु आदि सब को अपने आत्मा के ही अनेक रूप समझता है, इसलिए उसकी बुद्धि मे सबके प्रति समता का भाव रहता है। यद्यपि अलग-अलग शरीरो के गुणो की भिन्नता और विषमता का वह अनुभव करता है, और उनकी अलग-अलग योग्यता के अनुसार ही वह उनके साथ यथायोग्य समता का व्यवहार करता है, परन्तु शरीरो के बाहरी बनावों के सम्बन्धो और भिन्नताओ को वह निरन्तर बनने-मिटनेवाले और परिवर्तनशील अनुभव करता है, इसलिए उनको वह कोई महत्व नही देता। सब के भीतर रहने वाले एक और सम आत्मतत्त्व मे ही उसके अन्त:करण की स्थिति निरन्तर बनी रहती है। वह अनेकता मे एकता और एकता मे कल्पित अनेकता का अनुभव करता रहता है और उसी मे वह परमानन्द का अनुभव करता

है। श्रेष्ठ पदार्थों तथा व्यक्तियों के संयोग से वह प्रफुल्लित नहीं होता और निकृष्ट पदार्थों तथा व्यक्तियों के संयोग से घृणा और द्वेष करके उनका तिरस्कार नहीं करता, किन्तु वह सबके साथ उनके गुणों के अनुसार यथायोग्य बर्ताव करता हुआ सबका यथायोग्य हित करने में लगा रहता है। वह इसी जन्म अर्थात् इसी शरीर में काम, क्रोध, लोभ तथा मोह आदि के वेगों को जीतकर, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों में सम रहता हुआ, ब्रह्म निर्वाण पद की मुक्तावस्था के अनुभव में निमग्न रहता है।

॥ पाँचवाँ आध्याय समाप्त ॥

(बाह्यान्) बाहर के (स्पर्शान्) सम्बन्धों को (बहि) बाहर (एव) ही (कृत्वा) करके, (च) और (चक्षु) नेत्रो की दृष्टि को (भ्रुवो) भृकुटी के (अन्तरे) बीच मे स्थित करके, तथा (नासाभ्यन्तरचारिणौ) नासिका मे विचरने वाले (प्राणापानौ) प्राण और अपानवायु को (समौ) सम (कृत्वा) करके,

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो य. सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धि , मुनि , मोक्षपरायण.,
विगतेच्छाभयक्रोध , यः, सदा, मुक्तः, एव, स. ॥ २८ ॥

(यतेन्द्रियमनोबुद्धि) इन्द्रियां, मन और बुद्धि को अपने वश मे करने वाला (मोक्षपरायण) मोक्ष परायण (मुनि) समत्व-योगी (य) जो (विगतेच्छाभयक्रोधः) चाह, भय और क्रोध से रहित है, (स.) वह (सदा) सदा (मुक्त) मुक्त (एव) ही है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

भोक्तारम्, यज्ञतपसाम्, सर्वलोकमहेश्वरम्,
सुहृदम्, सर्वभूतानाम्, ज्ञात्वा, माम्, शान्तिम्, ऋच्छति ॥ २९ ॥

(माम्) सबके अपने आप, सबके आत्मा स्वरूप मुझको, (यज्ञतपसाम्) यज्ञ और तपो का (भोक्तारम्) भोगने वाला, (सर्वलोकमहेश्वरम्) सम्पूर्ण लोको का महान् ईश्वर, तथा (सर्वभूतानाम्) सब भूत प्राणियो का (सुहृदम्) सुहृद अर्थात् प्यारा अन्तरात्मा (ज्ञात्वा) जानकर, समत्व-योगी (शान्तिम्) शान्ति को (ऋच्छति) प्राप्त होता है।

सगति—आत्मज्ञानी समत्व-योगी छोटे-बडे, ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष, मनुष्य-पशु आदि सब को अपने आत्मा के ही अनेक रूप समझता है, इसलिए उसकी बुद्धि मे सबके प्रति समता का भाव रहता है। यद्यपि अलग-अलग शरीरो के गुणो की भिन्नता और विषमता का वह अनुभव करता है, और उनकी अलग-अलग योग्यता के अनुसार ही वह उनके साथ यथायोग्य समता का व्यवहार करता है, परन्तु शरीरो के बाहरी बनावों के सम्बन्धो और भिन्नताओ को वह निरन्तर बनने-मिटनेवाले और परिवर्तनशील अनुभव करता है, इसलिए उनको वह कोई महत्व नही देता। सब के भीतर रहने वाले एक और सम आत्मतत्त्व मे ही उसके अन्त करण की स्थिति निरन्तर बनी रहती है। वह अनेकता मे एकता और एकता मे कल्पित अनेकता का अनुभव करता रहता है और उसी मे वह परमानन्द का अनुभव करता

आरुरुक्षोः, मुनेः, योगम्, कर्म, कारणम्, उच्यते,
योगारूढस्य, तस्य, एव, शमः, कारणम्, उच्यते ॥ ३ ॥

(योगम्) समत्व-योग में (आरुरुक्षोः) आरूढ़ होने की इच्छा वाले (मुनेः) मननशील पुरुष के लिए, (कर्म) कर्म करना (कारणम्) कारण (उच्यते) कहा जाता है, और (तस्य एव) उस ही (योगारूढ़स्य) योगारूढ़ पुरुष के लिए, (शमः) मन का संयम (कारणम्) कारण (उच्यते) कहा जाता है।

अर्थात् कर्म करने से समत्व-योग में स्थित होने की इच्छा उत्पन्न होती है और मन का संयम करने से समत्व-योग में स्थिति होती है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

यदा, हि, न, इन्द्रियार्थेषु, न, कर्मसु, अनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी, योगारूढः, तदा, उच्यते ॥ ४ ॥

(हि) क्योंकि (यदा) जब (न) न तो (इन्द्रियार्थेषु) इन्द्रियों के भोगों में, (न) न (कर्मसु) कर्मों में (अनुषज्जते) आसक्त होता है, (तदा) तब (सर्व-संकल्प संन्यासी) मानसिक कामनाओं के सब संकल्पों का त्यागी पुरुष (योगा-रूढः) योगारूढ़ (उच्यते) कहा जाता है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

उद्धरेत्, आत्मना, आत्मानम्, न, आत्मानम्, अवसादयेत्,
आत्मा, एव, हि, आत्मनः, बन्धुः, आत्मा, एव, रिपु, आत्मनः ॥ ५ ॥

(आत्मना) मनुष्य, आप से (आत्मानम्) आपको (उद्धरेत्) ऊंचा उठावे, अर्थात् आप ही अपना उद्धार करे; (आत्मानम्) आपको (न अवसादयेत्) गिरावे नहीं, अर्थात् अपना पतन न करे; (हि) क्योंकि, मनुष्य (आत्मा) आप (एव) ही (आत्मनः) अपना उद्धार करनेवाला (बन्धु) मित्र है; और (आत्मा) आप (एव) ही (आत्मनः) अपना पतन करनेवाला (रिपु) शत्रु ।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

बन्धुः, आत्मा, आत्मनः, तस्य, येन, आत्मा, एव, आत्मनः, जितः,
अनात्मनः, तु, शत्रुत्वे, वर्तेत, आत्मा, एव, शत्रुवत् ॥ ६ ॥

(तस्य) उस (आत्मनः) अपने आप आत्मा का (आत्मा) वह आप (एव)

अथ षष्ठोऽध्यायः

श्री भगवान उवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

अनाश्रितः, कर्मफलम्, कार्यम्, कर्म, करोति, यः,
सः, सन्यासी, च, योगी, च, न, निरग्निः, न, च, अक्रियः ॥ १ ॥

श्री भगवान् बोले कि—

(यः) जो पुरुष (कर्मफलम्) कर्म-फल का, अर्थात् कर्म करने में व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि का (अनाश्रितः) आश्रय न रखकर, (कार्यम्) अपने कर्तव्य (कर्म) कर्म (करोति) करता है, (सः) वही (संन्यासी) सच्चा सन्यासी है, (च) और वही (योगी) सच्चा कर्म-योगी है, (न) न कि (निरग्निः) अग्नि रहित, अर्थात् गृहस्थाश्रम को त्यागने वाला, (च) तथा (न) न (अक्रियः) कर्म छोड़कर निकम्मा बैठा रहने वाला (च) ही।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्त संकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

यम्, सन्यासम्, इति, प्राहुः, योगम्, तम्, विद्धि, पाण्डव,
न, हि, असन्यस्तसंकल्पः, योगी, भवति, कश्चन ॥ २ ॥

(पाण्डव) हे अर्जुन! (यम्) जिसको (संन्यासम्) सन्यास (इति) ऐसा (प्राहुः) कहते हैं, (तम्) उसीको (योगम्) कर्म-योग (विद्धि) जान, अर्थात् व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति छोड़कर समता के भाव से कर्म करने का समत्व-योग ही यथार्थ सन्यास है; (हि) क्योंकि (असन्यस्त संकल्पः) मन से कामनाओं के संकल्पों का त्याग किये बिना (कश्चन) कोई भी पुरुष (योगी) समत्व-योगी (न) नहीं (भवति) होता।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

आरुरुक्षोः, मुनेः, योगम्, कर्म, कारणम्, उच्यते,
योगारूढस्य, तस्य, एव, शमः, कारणम्, उच्यते ॥ ३ ॥

(योगम्) समत्व-योग में (आरुरुक्षोः) आरूढ़ होने की इच्छा वाले (मुनेः) मननशील पुरुष के लिए, (कर्म) कर्म करना (कारणम्) कारण (उच्यते) कहा जाता है, और (तस्य एव) उस ही (योगारूढस्य) योगारूढ़ पुरुष के लिए, (शमः) मन का संयम (कारणम्) कारण (उच्यते) कहा जाता है।

अर्थात् कर्म करने से समत्व-योग में स्थित होने की इच्छा उत्पन्न होती है और मन का संयम करने से समत्व-योग में स्थिति होती है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

यदा, हि, न, इन्द्रियार्थेषु, न, कर्मसु, अनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी, योगारूढः, तदा, उच्यते ॥ ४ ॥

(हि) क्योंकि (यदा) जब (न) न तो (इन्द्रियार्थेषु) इन्द्रियों के भोगों में, (न) न (कर्मसु) कर्मों में (अनुषज्जते) आसक्त होता है, (तदा) तब (सर्व-संकल्प संन्यासी) मानसिक कामनाओं के सब संकल्पों का त्यागी पुरुष (योगा-रूढः) योगारूढ़ (उच्यते) कहा जाता है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

उद्धरेत्, आत्मना, आत्मानम्, न, आत्मानम्, अवसादयेत्,
आत्मा, एव, हि, आत्मनः, बन्धुः, आत्मा, एव, रिपु, आत्मनः ॥ ५ ॥

(आत्मना) मनुष्य, आप से (आत्मानम्) आपको (उद्धरेत्) ऊँचा उठावे, अर्थात् आप ही अपना उद्धार करे; (आत्मानम्) आपको (न अवसादयेत्) गिरावे नहीं, अर्थात् अपना पतन न करे; (हि) क्योंकि, मनुष्य (आत्मा) आप (एव) ही (आत्मनः) अपना उद्धार करनेवाला (बन्धु) मित्र है; और (आत्मा) आप (एव) ही (आत्मनः) अपना पतन करनेवाला (रिपु) शत्रु।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

बन्धुः, आत्मा, आत्मनः, तस्य, येन, आत्मा, एव, आत्मनः, जितः,
अनात्मनः, तु, शत्रुत्वे, वर्तेत, आत्मा, एव, शत्रुवत् ॥ ६ ॥

(तस्य) उस (आत्मनः) अपने आप आत्मा का (आत्मा) वह आप (एव)

ही (बन्धु) मित्र है, (येन) जिससे (आत्मना) अपने-आप आत्मा द्वारा, अर्थात् अपनी बुद्धि से (आत्मा) अपना मन (जितः) जीत लिया गया है; (तु) परन्तु (अनात्मनः) जिस अपने-आप आत्मा द्वारा, अपनी बुद्धि से अपना मन नहीं जीता गया है, (आत्मा) वह आप (एव) ही अपने (शत्रुवत्) शत्रु की तरह (शत्रुत्वे वर्तेत) शत्रुता में बर्तता है।

संगति—श्लोक ५-६ का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को आप ही अपना उत्थान करना चाहिए, अपने-आपको गिरने नहीं देना चाहिए, क्योंकि आप ही अपना उत्थान करने वाला मित्र है और आप ही अपना पतन करनेवाला शत्रु है। जिसने अपना अन्तःकरण वश में कर लिया है, वह स्वयं अपना उत्थान करनेवाला मित्र है, परन्तु जिसका अन्तःकरण वश में नहीं है, वह आप ही अपना पतन करनेवाला शत्रु है। अपने सिवाय दूसरा कोई अपना उत्थान करानेवाला या पतन करानेवाला नहीं है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

जितात्मनः, प्रशान्तस्य, परमात्मा, समाहितः,
शीतोष्णसुखदुःखेषु, तथा, मानापमानयोः ॥ ७ ॥

(जितात्मनः) मन को वश में किये हुए (प्रशान्तस्य) पूर्ण शान्त पुरुष का (परमात्मा) अन्तरात्मा, (शीतोष्ण सुखदुःखेषु) सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख (तथा) तथा (मानापमानयोः) मान-अपमान आदि द्वन्द्वों में (समाहितः) सम, अर्थात् एक-सा बना रहता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥ ८ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा, कूटस्थः, विजितेन्द्रियः,
युक्तः, इति, उच्यते, योगी, समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

(ज्ञानविज्ञान तृप्तात्मा) जिसका अन्तःकरण, आत्मज्ञान और लौकिक विज्ञान में तृप्त अर्थात् निपुण है; (कूटस्थः) जिसकी स्थिति सबके एकत्वभाव आत्मा में अटल है, (विजितेन्द्रियः) जिसकी इन्द्रियाँ पूरी तरह जीती हुई हैं; तथा (समलोष्टाश्मकाञ्चनः) जिसके विचार में मिट्टी, पत्थर और सोना समान हैं; (योगी) ऐसा समत्व-योगी, (युक्तः) युक्त, अर्थात् सबकी एकता के साम्यभाव में जुड़ा हुआ है, (इति) ऐसा (उच्यते) कहा जाता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु,
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

सुहृद्, मित्र, अरि, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्यः बन्धुषु,
साधुषु, अपि, च, पापेषु, समबुद्धिः, विशिष्यते ॥

(सुहृद्) आत्मीयजन, (मित्र) मित्र, (अरि) वैरी, (उदासीन) उदासीन, (मध्यस्थ) मध्यस्थ, (द्वेष्यः) द्वेषी, (बन्धुषु) बन्धुजनों, (साधुषु) सज्जन पुरुषों, (च) और (पापेषु) दुष्टों में (अपि) भी, जो (समबुद्धिः) समान बुद्धि वाला है, वह (विशिष्यते) अधिक श्रेष्ठ है।

संगति—श्लोक ७-८ और ९ में समत्वयोगी के अन्तःकरण के साम्यभाव की स्थिति का वर्णन किया गया है। सर्दी-गर्मी, सुख-दुख, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों, और अधिक मूल्यवान् सोना तथा कम मूल्यवान् मिट्टी, पत्थर आदि पदार्थों, तथा अपने-पराये, शत्रु मित्र, सज्जन-दुर्जन आदि के सम्बन्ध में भी उसके अन्तःकरण का सन्तुलन एकसा बना रहता है। यद्यपि सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों की अनुकूलता-प्रतिकूलता, और अपने-पराये, शत्रु-मित्र, सज्जन दुर्जन, सोने-मिट्टी आदि के ऊपरी भेदों का अनुभव उसको भी साधारण लोगों की तरह ही नहीं, किन्तु उनसे भी अधिक होता है, क्योंकि ज्ञान और विज्ञान दोनों में निपुण होने के कारण उसकी अनुभव शक्ति बहुत तेज हो जाती है, परन्तु आत्मज्ञान के साथ-साथ बाहरी संसार के पदार्थों के भौतिक विज्ञान में भी निपुण होने के कारण, वह सब द्वन्द्वों और बाहरी बनाओं की भिन्नताओं को अन्योन्याश्रित और परिवर्तनशील समझता है। संसार के खेल में परस्पर विरोधी पदार्थ (द्वन्द्व) आवश्यक और उपयोगी होते हैं। किसी परिस्थिति में कोई पदार्थ अथवा व्यक्ति अनुकूल प्रतीत होता है, और दूसरी परिस्थिति में वही प्रतिकूल प्रतीत होने लगता है; और किसी परिस्थिति में प्रतिकूल भी अनुकूल हो जाते हैं। कभी अपने, पराये हो जाते हैं; तो कभी पराये अपने हो जाते हैं। कभी शत्रु, मित्र हो जाते हैं, तो कभी मित्र, शत्रु हो जाते हैं। कभी सज्जन, दुराचारी हो जाते हैं; तो कभी दुराचारी, सज्जन हो जाते हैं। किसी परिस्थिति में सोने का कोई उपयोग नहीं होता, किन्तु उसका संग्रह उलटा दुखदायी हो जाता है, और मिट्टी-पत्थर बड़े उपयोगी हो जाते हैं। सारांश यह कि बनावों की भिन्नता सदा एक-सी नहीं रहती; परन्तु उनका मौलिक आधार=आत्मा सदा एक-सा सम बना रहता है। समत्व-योगी की बुद्धि में उस मौलिक एकता व समता का अटल निश्चय रहता है। इसलिए सब परस्पर विरोधी भावों में, उनके गुणों की योग्यता के अनुसार यथायोग्य व्यवहार करते

हुए भी, उसके अन्त करण की समता और सन्तुलन अटल बना रहता है।

अब आगे के श्लोको मे उस समत्व-योग मे मन को ठहराने के लिए, एक साधन रूप से, सबके अपने आप = आत्मा की एकता और समता के ध्यान-योग के अभ्यास का विधान किया जाता है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थित ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रह. ॥१०॥

योगी, युञ्जीत, सततम्, आत्मानम्, रहसि, स्थित',
एकाकी, यतचित्तात्मा, निराशी., अपरिग्रह. ॥१०॥

(योगी) समत्वयोग का साधक योगी, (यत चित्तात्मा) मन और इन्द्रियो को वश में करके, (निराशी) कामनाओ की आशा से रहित होकर, (अपरिग्रह.) पदार्थों के सग्रह की ममता छोडकर, (एकाकी) अकेला ही, (रहसि) एकान्त स्थान में (स्थित) स्थित होकर, (सततम्) नित्य नियम से (आत्मानम्) अपने को (युञ्जीत) सबकी एकता स्वरूप आत्मा के ध्यान-योग के अभ्यास में लगावे।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिन कुशोत्तरम् ॥११॥

शुचौ, देशे, प्रतिष्ठाप्य, स्थिरम्, आसनम्, आत्मन',
न, अत्युच्छ्रितम्, न, अतिनीचम्, चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

(शुचौ देशे) शुद्ध स्थान मे (चैलाजिन कुशोत्तरम्) कुशा, मृगछाला और वस्त्र क्रमश' एक-दूसरे के ऊपर बिछाकर (आत्मन) अपने (स्थिरम्) दृढ (आसनम्) आसन को, (न) न (अत्युच्छ्रितम्) अति ऊँचा (न) न (अतिनीचम्) अति नीचा (प्रतिष्ठाप्य) लगा करके,

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

तत्र, एकाग्रम्, मनः, कृत्वा, यतचित्तेन्द्रियक्रियः,
उपविश्य, आसने, युञ्ज्यात्, योगम्, आत्मविशुद्धये ॥१२॥

(तत्र) उस (आसने) आसन पर (उपविश्य) बैठकर, (मन.) मन को (एकाग्रम्) एकाग्र (कृत्वा) करके, अर्थात् एकता के भाव मे लगाकर, (यतचित्तेन्द्रियक्रिय) चित्त और इन्द्रियो की क्रियाओं को वश मे करके, (आत्म विशुद्धये) भिन्नता के भावों को मिटाने द्वारा अन्त-करण को शुद्ध करने के लिए, (योगम्) एकता और समता के ध्यान-योग का (युञ्ज्यात्) अभ्यास करे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

समम्, कायशिरोग्रीवम्, धारयन्, अचलम्, स्थिरः,
संप्रेक्ष्य, नासिकाग्रम्, स्वम्, दिशः च, अनवलोकयन् ॥१३॥

(कायशिरोग्रीवम्) काया, शिर और गर्दन को **(समम्)** सम, अर्थात् सीधी रेखा में **(अचलम्)** अचल **(धारयन्)** धारण किये हुए, **(स्थिरः)** दृढ़ होकर **(स्वम्)** अपने **(नासिकाग्रम्)** नासिका के अग्र भाग को **(संप्रेक्ष्य च)** देखता हुआ, और **(दिशः)** दिशाओं को **(अनवलोकयन्)** नहीं देखता हुआ;

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

प्रशान्तात्मा, विगतभीः, ब्रह्मचारिव्रते, स्थितः,
मनः, संयम्य, मच्चित्तः, युक्त, आसीत, मत्परः ॥ १४ ॥

(ब्रह्मचारिव्रते) ब्रह्मचर्य व्रत में **(स्थितः)** स्थित रहकर, **(विगतभीः)** सब प्रकार के भयों से रहित, **(प्रशान्तात्मा)** अन्तःकरण को पूर्णतया शान्त रखता हुआ, **(मनः)** मन को **(संयम्य)** अनेकता के विचारों से रोककर, **(मच्चित्तः)** मुझ सबके आत्मा के चिन्तन द्वारा **(मत्परः)** मेरे सर्वात्मभाव के परायण हुआ, **(युक्त-आसीत)** ध्यानयोग के अभ्यास में जुड़ा रहे।

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

युञ्जन्, एवम्, सदा, आत्मानम् योगी, नियतमानस,
शान्तिम्, निर्वाणपरमाम्, मत्संस्थाम्, अधिगच्छति ॥ १५ ॥

(एवम्) इस तरह, **(आत्मानम्)** अपने को **(सदा)** निरन्तर **(युञ्जन्)** ध्यान-योग के अभ्यास में लगाया हुआ, **(नियतमानसः)** मन का संयम करने वाला **(योगी)** समत्व-योगी, **(मत्संस्थाम्)** मुझ सर्वात्मा में रहने वाली **(निर्वाण)** अकथनीय **(परमाम्)** परम **(शान्तिम्)** शान्ति को **(अधिगच्छति)** प्राप्त होता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

न, अति, अश्नतः, तु, योगः, अस्ति, न, च, एकान्तम्, अनश्नतः,
न, च, अति, स्वप्नशीलस्य, जाग्रतः, न, एव, च, अर्जुन ॥ १६ ॥

(तु) परन्तु **(अर्जुन)** हे अर्जुन! **(न)** न तो **(अति)** बहुत **(अश्नतः)** खाने

वाले का, (च) और (न) न (एकान्तम्) बिल्कुल (अनश्नतः) नही खाने वाले का, (च) और (न अति) न बहुत (स्वप्नशीलस्य) सोने वाले का, (च) तथा (न) न (जाग्रतः) बहुत जागने वाले का (एव) ही (योग) ध्यानयोग का अभ्यास (अस्ति) सिद्ध होता है।

युक्ताहारविहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

युक्ताहारविहारस्य, युक्त, चेष्टस्य, कर्मसु,
युक्तस्वप्नावबोधस्य, योग, भवति, दुःखहा ॥ १७ ॥

(युक्ताहारविहारस्य) यथायोग्य, नियमित आहार-विहार करने वाले का, (कर्मसु) कर्मों मे (युक्तचेष्टस्य) यथायोग्य नियमित चेष्टा करने वाले का, और (युक्तस्वप्नावबोधस्य) यथायोग्य नियमित रूप से सोने तथा जागने वाले का (योग) ध्यान योग का अभ्यास (दुःखहा) दुःख नाशक (भवति) होता है।

यदाविनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृह सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

यदा, विनियतम्, चित्तम्, आत्मनि, एव, अवतिष्ठते,
निःस्पृह, सर्वकामेभ्यः, युक्तः, इति, उच्यते, तदा ॥ १८ ॥

(यदा) जिस समय (विनियतम्) पूरी तरह वश मे किया हुआ (चित्तम्) चित्त, (आत्मनि) आत्मा की एकता मे (एव) ही (अवतिष्ठते) भली प्रकार स्थिर हो जाता है, (तदा) उस समय (सर्वकामेभ्यः) व्यक्तिगत स्वार्थों की सब कामनाओ की (निःस्पृह.) चाह से रहित पुरुष, (युक्त) सब की एकता के समत्व-योग मे युक्त (इति) ऐसा (उच्यते) कहा जाता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

यथा, दीप, निवातस्थ, न, इङ्गते, सा, उपमा, स्मृता,
योगिनः, यतचित्तस्य, युञ्जत, योगम्, आत्मनः ॥ १९ ॥

(यथा) जिस तरह (निवातस्थ) वायु रहित स्थान मे स्थित (दीप) दीपक (न इङ्गते) चलायमान नही होता, (सा) वही (उपमा) उपमा (आत्मनः) सबमे एक और सम आत्मा के चिन्तन के (योगमयुञ्जतः) ध्यान योग मे लगे हुए (योगिनः) योगी के (यतचित्त) संयत चित्त की (स्मृता) कही गई है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धम् योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

यत्र, उपरमते, चित्तम्, निरुद्धम्, योगसेवया ।
यत्र, च, एव, आत्मना, आत्मानम्, पश्यन्, आत्मनि, तुष्यति ॥ २० ॥

(**यत्र**) जिस स्थिति में (**योगसेवया**) एक और सम आत्मा के ध्यान योग के अभ्यास से (**निरुद्धम्**) स्थिर किया हुआ (**चित्तम्**) चित्त (**उपरमते**) शान्त हो जाता है, (**च**) और (**यत्र**) जिस स्थिति में (**आत्मना**) अपने आपसे (**आत्मानम्**) अपने आपको (**पश्यन्**) देख करके, अर्थात् आप ही अपने स्वरूप का यथार्थ अनुभव करके, (**आत्मनि**) अपने आप में (**एव**) ही (**तुष्यति**) संतुष्ट होता है;

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

सुखम्, आत्यन्तिकम्, यत्, तत्, बुद्धिग्राह्यम्, अतीन्द्रियम् ।
वेत्ति, यत्र, न, च, एव, अयम्, स्थितः, चलति, तत्त्वतः ॥ २१ ॥

(**अतीन्द्रियम्**) उस स्थिति में, इन्द्रियों से परे (**बुद्धिग्राह्यम्**) केवल शुद्ध बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य (**यत्**) जो (**आत्यन्तिकम्**) अतिशयः (**सुखम्**) आनन्द है, (**तत्**) उसको (**वेत्ति**) अनुभव करता है, (**च**) फिर (**यत्र**) जिस स्थिति में (**स्थितः**) स्थित हुआ (**अयम्**) यह समत्व-योगी, (**तत्त्वतः**) तत्त्व से, अर्थात् सबकी एकता के आत्मानुभव से (**न एव**) नहीं (**चलति**) विचलित होता।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

यम्, लब्ध्वा, च, अपरम्, लाभम्, मन्यते, न, अधिकम्, ततः ।
यस्मिन्, स्थितः, न, दुःखेन, गुरुणा, अपि, विचाल्यते ॥ २२ ॥

(**यम्**) जिसको (**लब्ध्वा**) पाकर (**ततः**) उससे (**अधिकम्**) अधिक (**अपरम्**) दूसरा, कुछ भी (**लाभम्**) लाभ (**न**) नहीं (**मन्यते**) मानता है, (**च**) और (**यस्मिन्**) जिसमें (**स्थितः**) स्थित हुआ (**गुरुणा**) बड़े भारी (**दुःखेन**) दुःख से (**अपि**) भी ((**न विचाल्यते**) विचलित नहीं होता;

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

तम्, विद्यात्, दुःखसंयोगवियोगम्, योगसंज्ञितम्,
स, निश्चयेन, योक्तव्यः, योगः, अनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

(तम्) उस, (दु:खसंयोगवियोगम्) दु:ख के सम्बन्ध से रहित स्थिति को, अर्थात् दु:ख के अभाव को (योगसंज्ञितम्) समत्व-योग संज्ञा वाला (विद्यात्) जानना चाहिए, (स) उस (योग) समत्व-योग का अभ्यास, (अनिर्विण्णचेतसा) बिना उकताये चित्त से (निश्चयेन) निश्चयपूर्वक (योक्तव्य:) करना चाहिए।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ २४॥

संकल्पप्रभवान्, कामान्, त्यक्त्वा, सर्वान्, अशेषत:,
मनसा, एव, इन्द्रियग्रामम्, विनियम्य, समन्तत:॥ २४॥

(संकल्पप्रभवान्) संकल्प से उत्पन्न होनेवाली, (सर्वान्) सब (कामान्) व्यक्तिगत स्वार्थ की कामनाओं को (अशेषत:) पूर्णतया (त्यक्त्वा) त्यागकर, (मनसा एव) मन से ही (इन्द्रियग्रामम्) इन्द्रियों के समुदाय को (समन्तत:) सब ओर से (विनियम्य) भली प्रकार वश में करके;

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥२५॥

शनै:, शनै:, उपरमेत्, बुद्ध्या, धृतिगृहीतया,
आत्मसंस्थम्, मनः, कृत्वा, न, किञ्चित्, अपि, चिन्तयेत्॥ २५॥

(धृतिगृहीतया) धारणा युक्त (बुद्ध्या) बुद्धि से (शनैः शनैः) धीरे-धीरे (उपरमेत्) व्यक्तिगत स्वार्थों की कामनाओं की आसक्ति से रहित होवे, और (मनः) मन को (आत्मसंस्थम्) आत्मा की एकता और समता के भाव में स्थित (कृत्वा) करके (किञ्चित्) भिन्नता के भावों का कुछ (अपि) भी (न चिन्तयेत्) चिन्तन न करे।

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥

यतः, यतः, निश्चरति, मनः, चञ्चलम्, अस्थिरम्,
ततः, ततः, नियम्य, एतत्, आत्मनि, एव, वशम्, नयेत्॥ २६॥

(एतत्) यह (चंचलम्) चंचल, (अस्थिरम्) अस्थिर (मनः) मन (यतः यतः) जहाँ-जहाँ (निश्चरति) भिन्नता और विषमता के भावों में भटके, (ततः ततः) वहाँ-वहाँ से (नियम्य) रोककर (आत्मनि) आत्मा की एकता के भाव में (एव) ही (वशम्) निरोध (नयेत्) करे।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।। २७ ।।

प्रशान्तमनसम्, हि, एनम्, योगिनम्, सुखम्, उत्तमम्,
उपैति, शान्तरजसम, ब्रह्मभूतम्, अकल्मषम् ।। २७ ।।

(शान्तरजसम्) पृथकता के भाव उत्पन्न करनेवाले रजोगुण के शान्त हो जाने से, (ब्रह्मभूतम्) सबकी एकता के ब्रह्म भाव में स्थित (एनम्) इस (प्रशान्तमनसम्) पूर्ण शान्त चित्त, (अकल्मषम्) निष्पाप (योगिनम्) समत्व-योगी को (हि) अवश्य ही (उत्तमम्) परम (सुखम्) आनन्द (उपैति) प्राप्त होता है।

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।। २८ ।।

युन्जन्, एवम्, सदा, आत्मानम्, योगी, विगतकल्मषः,
सुखेन, ब्रह्म, संस्पर्शम्, अत्यन्तम्, सुखम्, अश्नुते ।। २८ ।।

(एवम्) इस तरह (सदा) निरन्तर (आत्मानम्) सबकी एकता के आत्मानुभव में (युंजन्) जुड़ा हुआ, (विगतकल्मषः) पापरहित (योगी) समत्व योगी, (सुखेन) सुखपूर्वक, (ब्रह्मसंस्पर्शम्) एकता के ब्रह्म भाव के (अत्यन्तम्) परम (सुखम्) आनन्द का (अश्नुते) उपभोग, अर्थात् अनुभव करता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।। २९ ।।

सर्वभूतस्थम्, आत्मानम्, सर्वभूतानि, च, आत्मनि,
ईक्षते, योगयुक्तात्मा, सर्वत्र, समदर्शनः ।। २९ ।।

(योगयुक्तात्मा) सबकी एकता के साम्यभाव में स्थित अन्तःकरण वाला, (सर्वत्र) सब में (समदर्शनः) समदर्शी समत्व-योगी, (आत्मानम्) अपने को (सर्वभूतस्थम्) सब भूत प्राणियों में, (च) और (सर्वभूतानि) सब भूत प्राणियों को (आत्मनि) अपने में (ईक्षते) देखता है, अर्थात् अनुभव करता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।। ३० ।।

यः, माम्, पश्यति, सर्वत्र, सर्वम्, च, मयि, पश्यति,
तस्य, अहम्, न, प्रणश्यामि, सः, च, मे, न, प्रणश्यति ।। ३० ।।

(यः) जो (माम्) मुझ, सबके आत्मा को (सर्वत्र) सब में (पश्यति) देखता

है, (च) और (सर्वम्) सब को (मयि) मुझ, सबके आत्मा मे (पश्यति) देखता है, (तस्य) उस अभेददर्शी का, (अहम्) मैं (न प्रणश्यामि) नाश नही करता, (च) और (स') वह (मे) मेरा (न प्रणश्यति) नाश नही करता है, अर्थात् उसका आत्मा-परमात्मा की एकता का अनुभव कभी नष्ट नहीं होता, किन्तु सदा अटल बना रहता है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

सर्वभूतस्थितम्, य', माम्, भजति, एकत्वम्, आस्थितः,
सर्वथा, वर्तमान., अपि, स, योगी, मयि, वर्तते ॥ ३१ ॥

(य) जो (एकत्वम्) सब की एकता के भाव मे (आस्थितः) पूर्णतया स्थित होकर, (सर्वभूतस्थितम्) सब भूत प्राणियो मे रहने वाले (माम्) मुझ, सबके आत्मा-परमात्मा को, (भजति) एकी भाव से भजता है, अर्थात् सबको भगवान के रूप समझकर, सबके साथ आत्मीयता का बर्ताव करता है; (स) वह (योगी) समत्व-योगी (सर्वथा) सब प्रकार से (वर्तमान.) बर्तता हुआ, अर्थात् ससार के सब प्रकार के व्यवहार करता हुआ (अपि) भी (मयि) मुझ परमात्मा मे ही (वर्तते) बर्तता है, अर्थात् मेरी तरह परमात्म भाव से ही सब कुछ करता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मत ॥ ३२ ॥

आत्मौपम्येन, सर्वत्र, समम्, पश्यति, य, अर्जुन,
सुखम्, वा, यदि, वा, दु खम्, स, योगी, परम', मत. ॥ ३२ ॥

(अर्जुन) हे अर्जुन! (य.) जो सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करने वाला आत्मज्ञानी, (आत्मौपम्येन) अपने समान ही (सर्वत्र) सब प्राणियो मे (समम्) समता (पश्यति) देखता है, अर्थात् अपना आत्मा अनुभव करता है, (वा) और सबके (सुखम्) सुख (यदि वा) अथवा (दु खम्) दु ख को, अपने समान ही जानता है, (स) वह (योगी) समत्व-योगी (परम) परमश्रेष्ठ (मत) माना गया है, अर्थात् जो दूसरो की आत्मा को अपनी आत्मा ही अनुभव करके सबके सुख-दु ख, मान-अपमान आदि शारीरिक और मानसिक वेदनाओ को अपने समान ही जानता है, वह सच्चा आत्मज्ञानी समत्व-योगी है।

सगति—श्लोक १० से २६ तक समत्व-योग मे मन को स्थिर करने के लिए एक साधन रूप से सबकी एकता का चिन्तन करने के ध्यान-योग के अभ्यास का विधान किया गया है। परन्तु यह अभ्यास नित्यप्रति कुछ समय के लिए, नियमित

रूप से, केवल साधन मात्र के लिए करने का विधान है; न कि सब काम-काज छोड़कर, आठों पहर इसी में लगे रहने का। यह बात इस अध्याय के प्रथम श्लोक और १६-१७ श्लोकों में स्पष्ट कर दी गई है। प्रथम श्लोक में यह कहा गया है कि "फल का लक्ष्य न रखकर जो अपना कर्तव्य कर्म करता रहता है, वही संन्यासी है और वही समत्व-योगी है, गृहस्थ के काम-काज छोड़ने वाला नहीं"। और १७वें श्लोक में कहा है कि "यथायोग्य अहार-विहार और कर्माचरण करने वाले का योग सिद्ध होता है।"

श्लोक २७-२८ में सर्वात्मभाव के चिन्तन के ध्यान-योग के अभ्यास से समत्व-योग में दृढ़ स्थिति होने पर समत्व-योगी को ब्रह्म भाव के परमानन्द की प्राप्ति का वर्णन करके, श्लोक २९ से ३१ तक में कहा है कि समत्वयोगी को आत्मा-परमात्मा की और सारे विश्व की अपने साथ एकता का सदा अटल अनुभव बना रहता है और उस एकता के अनुभव-युक्त वह संसार के सब प्रकार के व्यवहार यथायोग्य करता रहता है, फिर श्लोक ३२ में कहा है कि वह सब भूतप्राणियों के साथ अपनी आत्मीयता का अनुभव रखता हुआ, सबके सुख-दुःखादि की वेदनाओं को अपने ही समान समझता है। संसार के व्यवहार में सदाचार और नीतिमत्ता के वर्ताव का इससे अधिक सच्चा दूसरा कोई व्यावहारिक सिद्धान्त नहीं हो सकता।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात् स्थितिस्थिराम् ॥३३॥

यः, अयम्, योगः, त्वया, प्रोक्तः, साम्येन, मधुसूदन,
एतस्य, अहम्, न, पश्यामि, चंचलत्वात्, स्थितिम्, स्थिराम् ॥३३॥

अर्जुन ने कहा—

(मधुसूदन) हे मधुसूदन! (साम्येन) साम्य भाव में स्थित होने के लिए (योगः) ध्यान-योग के अभ्यास का (यः) जो (अयम्) यह (त्वया) आपने (प्रोक्तः) विधान किया है, (एतस्य) इसकी (अहम्) मैं, (चंचलत्वात्) मन की चंचलता के कारण (स्थिराम्) दृढ़ (स्थितिम्) स्थिति (न) नहीं (पश्यामि) देखता।

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

चंचलम्, हि, मनः, कृष्ण, प्रमाथि, बलवत्, दृढम्,
तस्य, अहम्, निग्रहम्, मन्ये, वायोः, इव, सुदुष्करम् ॥३४॥

(हि) क्योकि (कृष्ण) हे कृष्ण ! (मन.) मन (चंचलम्) बड़ा चचल, (प्रमाथि) उपद्रवी, (बलवत्) बलवान और (दृढम्) हठीला है, (तस्य) उसका (निग्रहम्) रोकना (अहम्) मैं (वायो) हवा की (इव) तरह (सुदुष्करम्) अत्यन्त कठिन (मन्ये) मानता हूँ।

श्री भगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।३५।।

असशयम्, महाबाहो, मन, दुर्निग्रहम्, चलम्,
अभ्यासेन, तु, कौन्तेय, वैराग्येण, च, गृह्यते ।।३५।।

श्री भगवान बोले—

(महाबाहो) हे महाबाहो ! (असशयम्) नि.सदेह (मन) मन (चलम्) चचल और (दुर्निग्रहम्) बहुत कठिनता से रुकने वाला है, (तु) परन्तु (कौन्तेय) हे कौन्तेय ! (अभ्यासेन) सत् आत्मा की एकता के चिन्तन का अभ्यास करते रहने से, (च) और (वैराग्येण) भिन्नता के असत् बनावो से वैराग्य करने से, यह (गृह्यते) रोका जा सकता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।।३६।।

असयतात्मना, योगः, दुष्प्राप, इति, मे, मति,
वश्यात्मना, तु, यतता, शक्य, अवाप्तुम्, उपायत. ।।३६।।

(असयतात्मना) जिसका मन वश में नही है, उसको (योगः) समत्व-योग (दुष्प्राप) प्राप्त होना बहुत कठिन है, (इति) ऐसा (मे) मेरा (मति) मत है, (तु) परन्तु (यतता) प्रयत्नशील पुरुष को, (उपायत) उपाय करने द्वारा (वश्यात्मना) मन वश में होने पर (अवाप्तुम्) समत्व-योग प्राप्त होना (शक्य) सम्भव है।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ।। ३७ ।।

अयति, श्रद्धया, उपेत, योगात्, चलितमानस,
अप्राप्य, योगसंसिद्धिम्, काम्, गतिम्, कृष्ण गच्छति ।। ३७ ।।

अर्जुन बोला कि—

(कृष्ण) हे कृष्ण ! (अयति.) मन का सयम न हो सकने के

(योगात्) समत्व-योग से (चलितमानसः) जिसका मन चलायमान हो जाय, (श्रद्धया उपेतः) ऐसा श्रद्धावान् मनुष्य (योगसंसिद्धिम्) समत्व-योग की पूर्ण अवस्था को (अप्राप्य) न पहुंच सके तो, मरने के बाद (काम्) किस (गतिम्) गति को (गच्छति) प्राप्त होता है ?

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

कच्चित्, न, उभयविभ्रष्टः, छिन्नाभ्रम, इव, नश्यति,
अप्रतिष्ठः, महाबाहो, विमूढः, ब्रह्मणः, पथि ॥ ३८ ॥

(महाबाहो) हे महाबाहो ! (कच्चित्) क्या वह एक तरफ तो (ब्रह्मणः) सर्वात्म भाव रूप ब्रह्म प्राप्ति के (पथि) मार्ग में (विमूढः) मोहग्रस्त रहा, अर्थात् आत्मज्ञान के परमानन्द को प्राप्त नहीं कर सका, (अप्रतिष्ठः) और दूसरी तरफ स्वर्गादि के सुख प्राप्त कराने वाले कर्मकाण्डों को छोड़कर, उनसे उखड़ा हुआ, (छिन्नाभ्रम्) बिखरे हुए बादल की (इव) तरह, (उभयविभ्रष्टः) दोनों ओर से भ्रष्ट होकर (न नश्यति) नष्ट तो नहीं हो जाता, अर्थात् ब्रह्मानन्द की स्थिति और स्वर्गादि की प्राप्ति, दोनों से वंचित रह कर नष्ट तो नहीं हो जाता ?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

एतत्, मे, संशयम्, कृष्ण, छेत्तुम्, अर्हसि, अशेषतः,
त्वत्, अन्यः, संशयस्य, अस्य, छेत्ता, न, हि, उपपद्यते ॥ ३९ ॥

(कृष्ण) हे कृष्ण ! (मे) मेरे (एतत्) इस (संशयम्) संशय को (अशेषतः) पूर्णतया (छेत्तुम् अर्हसि) आप ही काट सकते हो, (हि) निश्चय ही (त्वदन्यः) आप के सिवाय दूसरा कोई (अस्य) इस (संशयस्य) संशय का (छेत्ता) काटने वाला (न उपपद्यते) नहीं मिल सकता ।

श्री भगवान उवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

पार्थ, न, एव, इह, न, अमुत्र, विनाशः, तस्य, विद्यते,
न, हि, कल्याणकृत्, कश्चित्, दुर्गतिम्, तात, गच्छति ॥ ४० ॥

श्री भगवान बोले कि—

(पार्थ) हे पार्थ ! (तस्य) उस पुरुष का (न) न तो (इह) इस जन्म में, (न)

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

पूर्वाभ्यासेन, तेन, एव, ह्रियते, हि, अवशः, अपि, सः,
जिज्ञासुः, अपि, योगस्य, शब्दब्रह्म, अतिवर्तते ॥४४॥

(तेन) उस (पूर्वाभ्यासेन) पूर्व जन्म के अभ्यास से (एव) ही (सः) वह (अवशः) उन संस्कारों के वश हुआ, (अपि) फिर (हि) अवश्य ही (ह्रियते) समत्व-योग की तरफ खींचा जाता है, (योगस्य) समत्व-योग का (जिज्ञासुः) जिज्ञासु अर्थात् उसमें स्थित होने की इच्छा रखने वाला (अपि) भी (शब्द ब्रह्म) कर्म काण्डात्मक वेदों का (अतिवर्तते) उल्लंघन कर जाता है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः ।
अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

प्रयत्नात्, यतमानः, तु, योगी, संशुद्धकिल्विषः,
अनेक, जन्म, संसिद्धः, ततः याति, पराम्, गतिम् ॥४५॥

(तु) और (प्रयत्नात्) प्रयत्नपूर्वक (यतमानः) उद्योग करते-करते, (योगी) समत्व-योग का अभ्यासी (ततः) उस साधन के प्रभाव से (संशुद्ध किल्विषः) द्वैत भाव रूपी मैल से शुद्ध होकर, (अनेक जन्म संसिद्धः) कई जन्मों में उत्तरोतर उन्नति करता हुआ (पराम्) परम (गतिम्) गति को, अर्थात् परमानन्द परमात्म भाव को (याति) पा लेता है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

तपस्विभ्यः, अधिकः, योगी, ज्ञानिभ्यः, अपि, मतः, अधिकः,
कर्मिभ्यः, च, अधिकः, योगी, तस्मात्, योगी, भव, अर्जुन ॥४६॥

(तपस्विभ्यः) तपस्वियों से (योगी) समत्वयोग का साधक अभ्यासी (अधिकः) श्रेष्ठ है, (ज्ञानिभ्यः) सूखे ज्ञानियों से (अपि) भी (अधिकः) वह श्रेष्ठ (मतः) माना गया है, (च) और (कर्मिभ्यः) कर्मकाण्डियों से भी (योगी) समत्वयोग का साधक अभ्यासी (अधिकः) श्रेष्ठ है, (तस्मात्) इसलिए (अर्जुन) हे अर्जुन! तूं (योगी) समत्व-योग की साधना का अभ्यासी (भव) हो।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

योगिनाम्, अपि, सर्वेषाम्, मद्गतेन, अन्तरात्मना,
श्रद्धावान्, भजते, यः, माम्, सः, मे, युक्ततमः, मतः ॥४७॥

(सर्वेषाम्) सब (योगिनाम्) समत्व-योग के साधको में (अपि) भी (यः) जो (मद्गतेन) मुझ सर्वात्मा मे लगे हुए (अन्तरात्मना) अन्तःकरण से, अर्थात् आत्मा-परमात्मा की एकता के आन्तरिक निश्चय से (श्रद्धावान्) श्रद्धापूर्वक, अनन्य भाव से (माम्) मुझ सर्वात्मा को (भजते) भजता है, अर्थात् सबके साथ एकता का निश्चय करके यथायोग्य प्रेम का वर्ताव करता है, (सः) वह (मे मतः) मेरे मत मे (युक्ततमः) सर्वश्रेष्ठ समत्व-योग का अभ्यासी है।

संगति—समता के भाव मे मन को ठहराने के लिए ध्यान-योग के अभ्यास मे सफल होने की असमर्थता अर्जुन ने प्रकट की। उसके उत्तर मे भगवान् ने जब यह कहा कि आत्मा की एकता, सत्यता और समता के ध्यान का यत्नपूर्वक अभ्यास, और जगत की भिन्नता के असत् और विषम बनावो से वैराग्य करने का प्रयत्न करते रहने से समय पाकर, साम्यभाव मे मन ठहर सकता है, तब अर्जुन को यह शका हुई कि इस प्रयत्न मे तो बहुत लम्बा समय लगेगा; यदि समता के भाव मे मन पूरी तरह ठहरे बिना ही शरीर छूट जाय तो फिर उसकी आगे क्या गति होगी ? क्योकि समत्व-योग की पूर्णता के बिना आत्मज्ञान का परमनन्द तो प्राप्त नही हो सकता; और इस प्रयत्न मे लगने पर स्वर्गादि प्राप्त कराने वाले वैदिक कर्म-काण्ड छूट जावेंगे, तो फिर दोनो तरफ से भ्रष्ट होकर उसका नाश तो नही हो जावेगा ? श्लोक ३७ से ३९ तक इस आशय के अर्जुन के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् श्लोक ४० से ४७ तक मे कहते हैं, कि समत्व-योग के अभ्यास मे लगने वाले के दोनो तरफ से भ्रष्ट होने की तो बात ही कैसी ? उसका तो यह लोक और परलोक दोनो ही सुधर जाते हैं। उसकी कभी दुर्गति नही होती। मनुष्य का जीवन एक ही जन्म मे समाप्त नही हो जाता। जितना अभ्यास इस जन्म मे हो जाता है, उतनी सुख-समृद्धि तो इसी जन्म मे प्राप्त हो जाती है; फिर मरने के बाद, यदि सासारिक भोगो की उसको इच्छा रहती है, तो उन भोगों के उपयुक्त सूक्ष्म आधिदैविक अवस्था मे, मानसिक लोकों में, बहुत समय तक मानसिक आधिदैविक सुख भोगकर, फिर सदाचारी श्रीमानो के घर मे जन्म लेता है; और यदि सुख भोगो की इच्छा नहीं रहती है तो ज्ञानवान् समत्वयोगियो के कुल मे जन्म लेता है। दोनो दशाओं मे उसके समत्वयोग के अभ्यास मे आगे बढने की सुविधा और साधन प्राप्त होते रहते हैं; और इस जन्म के सस्कार दूसरे जन्म में जागृत हो जाते हैं, जिससे वह अनायास ही उस अभ्यास के लिए आकर्षित हो जाता है, और अभ्यास करते-करते उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ कई जन्मो मे

पूर्ण आत्मज्ञान का परमानन्द प्राप्त कर लेता है। सारांश यह कि समत्व-योग के अभ्यास का आरम्भ कभी निष्फल नहीं जाता और न उसका कभी नाश ही होता है। वैदिक कर्मकाण्डों से तो उस अभ्यास की स्थिति बहुत ऊँची होती है। इसका जिज्ञासु भी वैदिक कर्मकाण्डों को पीछे छोड़ देता है। शरीर को कष्ट देने वाले तपस्वियों, अव्यावहारिक सूखे आत्मज्ञान का शास्त्रार्थ करने वालों, तथा कर्म-काण्डों में लगे रहने वालों, इन सबमे समत्व-योग का अभ्यास करने वाले का पद बहुत ऊँचा है। और उन अभ्यास करने वालों में भी, जो अपने आपमें आत्मा-परमात्मा सबकी एकता में श्रद्धा रखता हुआ, सबके साथ यथायोग्य प्रेम का बर्ताव करने रूपी अनन्यभाव की उपासना करता है, वह सबसे श्रेष्ठ होता है। इसलिए भगवान् अर्जुन को कहते हैं कि तू समत्वयोग का अभ्यास कर।

॥ छठा अध्याय समाप्त ॥



अथ सप्तमोऽध्यायः

श्री भगवान उवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

मयि, आसक्तमनाः, पार्थ, योगम्, युञ्जन्, मदाश्रयः,
असंशयम्, समग्रम्, माम्, यथा, ज्ञास्यसि, तत्, शृणु ॥ १॥

श्री भगवान बोले कि—

(पार्थ) हे पार्थ ! (मयि) मुझ, सबके आत्मा-परमात्मा मे (आसक्तमनाः) अनन्यभाव से मन लगाकर, (मदाश्रयः) मेरे, अपने आत्मा के आश्रय से, अर्थात् स्वावलम्बन से, (योगम्) समत्व-योग के अभ्यास मे (युञ्जन्) जुड़ कर, (यथा) जिस तरह (समग्रम्) अधिभौतिक, अधिदैविक और आध्यात्मिक सब प्रकार के भावो से परिपूर्ण, (माम्) उत्तम पुरुषवाचक, मुझ सबके अपने-आपको (असंशयम्) निश्चयपूर्वक (ज्ञास्यसि) तू तत्त्वतया जानेगा (तत्) सो (शृणु) सुन ।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

ज्ञानम्, ते, अहम्, सविज्ञानम्, इदम्, वक्ष्यामि, अशेषतः,
यत्, ज्ञात्वा, न, इह, भूयः, अन्यत्, ज्ञातव्यम्, अवशिष्यते ॥ २ ॥

(अहम्) मैं (ते) तुझे (इदम्) यह (सविज्ञानम्) आधिभौतिक और आधिदैविक सृष्टि के विज्ञान सहित (ज्ञानम्) आध्यात्मिक ज्ञान (अशेषतः) पूर्ण रूप से (वक्ष्यामि) कहता हूँ, (यत्) जिसे (ज्ञात्वा) यथार्थ रूप से जान लेने पर (इह) इस ससार मे (भूयः) फिर (अन्यत्) और कुछ भी (ज्ञातव्यम्) जानने योग्य (न अवशिष्यते) शेष नही रहता ।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

मनुष्याणाम्, सहस्रेषु, कश्चित्, यतति, सिद्धये,
यतताम्, अपि, सिद्धानाम्, कश्चित्, माम्, वेत्ति, तत्त्वतः ॥ ३ ॥

(सहस्रेषु) हजारों (मनुष्याणाम्) मनुष्यों में (कश्चित्) कोई विरला ही (सिद्धये) सिद्धि, अर्थात् सबकी एकता रूप—मुझे पूर्णतया तत्त्व के जानने के लिए, (यतति) इस विज्ञानसहित ज्ञान की प्राप्ति का यत्न करता है; (यतताम्) और उन यत्न करने वाले (सिद्धानाम्) सिद्धों अर्थात् साधकों में (अपि) भी (कश्चित्) कोई विरला ही, आधिभौतिक, आधिदैविक विज्ञान, और आध्यात्मिक ज्ञान का एकता और समन्वयपूर्वक (माम्) मुझे, (तत्त्वतः) ऊपर कहे अनुसार पूर्णतया तत्त्व से (वेत्ति) जान पाता है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

भूमिः, आपः, अनलः, वायुः, खम्, मनः, बुद्धिः, एव, च,
अहंकारः, इति, इयम् मे, भिन्ना, प्रकृतिः, अष्टधा ॥ ४ ॥

(भूमिः) पृथ्वी, (आपः) जल, (अनलः) अग्नि, (वायुः) वायु, (खम्) आकाश, (मनः) मन, (बुद्धिः) बुद्धि, (च) और (एव) इसी तरह (अहंकारः) अहंकार, (इति) इस प्रकार (इयम्) यह (मे) मेरी, सर्वात्मा की (अष्टधा) आधिभौतिक और आधिदैविक भावों वाली आठ भेदों की (भिन्ना) एक अलग (प्रकृतिः) प्रकृति है।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

अपरा, इयम्, इतः, तु, अन्याम्, प्रकृतिम्, विद्धि, मे, पराम्,
जीव, भूताम्, महाबाहो, यया, इदम्, धार्यते, जगत् ॥ ५ ॥

(महाबाहो) हे महाबाहो ! (इयम्) यह आठ भेदोंवाली (अपरा) अपरा अर्थात् जड़ प्रकृति है, (तु) और (इतः) इससे (अन्याम्) दूसरी (जीवभूताम्) आध्यात्मिक जीव भाव वाली (मे) मेरी (पराम्) परा अर्थात् चेतन (प्रकृतिम्) प्रकृति (विद्धि) जान, (यया) जिससे (इदम्) यह सारा (जगत्) जगत (धार्यते) धारण किया जाता है, अर्थात् यह आध्यात्मिक चेतनसत्ता, आधिभौतिक और आधिदैविक जगत का आधार है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

एतद्योनीनि, भूतानि, सर्वाणि, इति, उपधारय,
अहम्, कृत्स्नस्य, जगत , प्रभव , प्रलय., तथा ॥ ६ ॥

(इति) ऐसा (उपधारय) समझ कि (सर्वाणि) सारे (भूतानि) भूतप्राणी, (एतद्योनीनि) इन दोनो प्रकृतियो से ही होते हैं, (अहम्) और मैं, सबका अपना आप, सबका आत्मा (कृत्स्नस्य) सम्पूर्ण (जगत) जगत का (प्रभवः) आदि (तथा) तथा (प्रलय) अन्त हूँ, अर्थात् जगत की उत्पत्ति और प्रलय इन दो प्रकार की मेरी प्रकृतियो मे ही होते हैं, मैं सबका आत्मा इन सबका आधार, उत्पत्ति-नाश आदि विकारो मे परे निर्लिप्त रहता हूँ।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

मत्त, परतरम्, न, अन्यत्, किंचित्, अस्ति, धनजय,
मयि, सर्वम्, इदम्, प्रोतम्, सूत्रे, मणिगणा, इव ॥ ७ ॥

(धनजय) हे धनंजय ! (मत्त) मेरे, सर्वात्मा के (परतरम्) सिवाय (अन्यत्) दूसरा (किंचित्) कुछ भी (न) नही (अस्ति) है, (इदम्) यह (सर्वम्) सम्पूर्ण जगत, (सूत्रे) सूत मे (मणिगणाः) सूत के ही मणियो की (इव) तरह (मयि) मुझ मे (प्रोतम्) ओत-प्रोत है, अर्थात् जड चेतन भेदो वाली प्रकृति और उसका बनाव, सारा विश्व, सबके अपने आप, आत्मा के संकल्प मे है, आत्मा के सिवाय किसी का भी अलग अस्तित्व नही है, भेद का लेश भी नही है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

रस, अहम्, अप्सु, कौन्तेय, प्रभा, अस्मि, शशिसूर्ययो,
प्रणव, सर्ववेदेषु, शब्दः, खे, पौरुषम्, नृषु ॥ ८ ॥

(कौन्तेय) हे अर्जुन ! (अप्सु) जलो मे (अहम्) मैं सर्वात्मा, जल की तन्मात्रा, उसका सत्त्व (रस) रस हूँ, अर्थात् रस रूप से ओत-प्रोत हूँ; (शशि-सूर्ययो) चन्द्रमा और सूर्य मे (प्रभा) ज्योति, (सर्ववेदेषु) सब वेदों मे (प्रणवः) ओंकार, (खे) आकाश मे (शब्दः) शब्द और (नृषु) पुरुषो मे (पौरुषम्) पुरुषत्व रूप से ओत-प्रोत (अस्मि) हूँ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पुण्यः, गन्धः, पृथिव्याम्, च, तेजः, च, अस्मि, विभावसौ,
जीवनम्, सर्वभूतेषु, तपः, च, अस्मि, तपस्विषु ॥ ९ ॥

(**पृथिव्याम्**) पृथ्वी में (**पुण्यः**) शुद्ध (**गन्धः**) गन्ध (**च**) और (**विभावसौ**) अग्नि में (**तेजः**) तेज रूप से ओत-प्रोत (**अस्मि**) हूँ (**च**) और (**सर्वभूतेषु**) सब भूत-प्राणियों में (**जीवनम्**) जीवन शक्ति (**च**) तथा (**तपस्विषु**) तपस्वियों में (**तपः**) तप रूप से ओत-प्रोत (**अस्मि**) हूँ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

बीजम्, माम्, सर्वभूतानाम्, विद्धि, पार्थ, सनातनम्,
बुद्धिः, बुद्धिमताम्, अस्मि, तेजः, तेजस्विनाम्, अहम् ॥ १० ॥

(**पार्थ**) हे पार्थ ! (**सर्वभूतानाम्**) सब भूत-प्राणियों का, (**सनातनम्**) सदा एक-सा बना रहने वाला (**बीजम्**) बीज (**माम्**) मुझे (**विद्धि**) जान, (**बुद्धिमताम्**) बुद्धिमानों की (**बुद्धिः**) बुद्धि और (**तेजस्विनाम्**) तेजस्वियों का (**तेजः**) तेज (**अहम्**) मैं (**अस्मि**) हूँ।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

बलम्, बलवताम्, च, अहम्, कामरागविवर्जितम्,
धर्माविरुद्धः, भूतेषु, कामः, अस्मि, भरतर्षभ ॥ ११ ॥

(**भरतर्षभ**) हे भरत श्रेष्ठ ! (**बलवताम्**) बलवानों का, (**कामराग विवर्जितम्**) कामनाओं और आसक्ति से रहित (**बलम्**) बल (**च**) और (**भूतेषु**) भूत-प्राणियों में (**धर्माविरुद्धः**) धर्म के अनुकूल, अर्थात् स्वभाविक (**कामः**) काम अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति का कारण (**अहम्**) मैं (**अस्मि**) हूँ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

ये, च, एव, सात्त्विकाः, भावाः, राजसाः, तामसाः, च, ये,
मत्तः, एव, इति, तान्, विद्धि, न, तु, अहम्, तेषु, ते, मयि ॥ १२ ॥

(**च**) और (**ये**) जो (**एव**) भी (**सात्त्विकाः**) सात्त्विक (**च**) और (**ये**) जो (**राजसाः**) राजस तथा (**तामसाः**) तामस (**भावाः**) भाव हैं, (**तान्**) उन सबको (**मत्तः**) मुझ, सर्वात्मा की सत्ता से (**एव**) ही हुए, (**इति**) ऐसा (**विद्धि**) जान, (**तु**) परन्तु (**अहम्**) मैं (**तेषु**) उनमें परिमित, रुका हुआ (**न**)

नही हूँ, (ते) वे (मयि) मुझ मे कल्पित हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

त्रिभि , गुणमयै , भावै , एभि , सर्वम्, इदम्, जगत्,
मोहितम्, न, अभिजानाति, माम्, एभ्य , परम्, अव्ययम् ॥ १३ ॥

(एभि) इन (त्रिभि) तीन—सत्त्व, रज और तम (गुणमयै.) गुणो से उत्पन्न नानत्व के (भावै) भावो से, (इदम्) यह (सर्वम्) सब (जगत्) जगत (मोहितम्) मोहित हो रहा है, (एभ्य) इनसे (परम्) परे, (माम्) मुझ सर्वात्मा (अव्ययम्) अविकारी को (न अभिजानाति) सर्वात्म भाव से नहीं जानता, अर्थात् तीन गुणो के नानात्व के भावो मे उलझे हुए मूर्ख लोग मुझे सबके आत्मारूप से नही जानते, किन्तु एक व्यक्ति विशेष ही मानते है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

दैवी, हि, एषा, गुणमयी, मम, माया, दुरत्यया,
माम्, एव, ये, प्रपद्यन्ते, मायाम्, एताम्, तरन्ति, ते ॥ १४ ॥

(हि) क्योकि (एषा) यह (मम) मेरी (दैवी) अलौकिक, (गुणमयी) त्रिगुणात्मक (माया) माया (दुरत्यया) बड़ी दुस्तर है, (ये) जो लोग (माम्) मुझको (एव) ही (प्रपद्यन्ते) अनन्य भाव मे भजते हैं,अर्थात् मेरे साथ अपनी एकता का अनुभव करके, सारे जगत को मेरा ही रूप समझकर बर्तते है, (ते) वे (एताम्) इस (मायाम्) माया को (तरन्ति) तर जाते हैं।

न मां दुष्कृतिनो मूढा. प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

न, माम्, दुष्कृतिन , मूढा , प्रपद्यन्ते, नराधमा ,
मायया, अपहृतज्ञाना , आसुरम्, भावम्, आश्रिता ॥ १५ ॥

(मायया) माया मे (अपहृतज्ञाना.) भ्रष्ट हुए ज्ञान वाले, (मूढाः) विवेक हीन, (आसुरम्) आसुरी (भावम्) भाव मे (आश्रिताः) आसक्त, (दुष्कृतिनः) बुरे कर्म करने वाले, (नराधमाः) अधम लोग (माम्) मुझको सर्वात्म भाव से (न) नही (प्रपद्यन्ते) भजते, अर्थात् जगत को मुझसे भिन्न मानकर दुराचार करते हैं।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।। १६ ।।

चतुर्विधाः, भजन्ते, माम्, जनाः, सुकृतिनः, अर्जुन,
आर्त्तः, जिज्ञासुः, अर्थार्थी, ज्ञानी, च, भरतर्षभ ।। १६ ।।

(भरतर्षभ) हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ (अर्जुन) अर्जुन ! (सुकृतिनः) अच्छे कर्म करने वाले, (चतुर्विधाः) चार प्रकार के (जनाः) मनुष्य (माम्) मुझको (भजन्ते) भजते हैं; (आर्त्तः) दुःख से पीड़ित, (जिज्ञासु) ज्ञान प्राप्ति की इच्छा वाले, (अर्थार्थी) द्रव्योपार्जन की कामना वाले, (च) और (ज्ञानी) ज्ञानी, अर्थात् मुझ परमात्मा को सबका आत्मा जानने वाले ।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।। १७ ।।

तेषाम्, ज्ञानी नित्ययुक्तः, एकभक्तिः, विशिष्यते,
प्रियः, हि, ज्ञानिनः, अत्यर्थम्, अहम्, सः, च, मम, प्रियः ।। १७ ।।

(तेषाम्) उनमें से (नित्ययुक्त) अनन्य भाव से, सदा मुझ सर्वात्मा में जुड़ा हुआ, (एक भक्तिः) सबके साथ एकता के निःस्वार्थ प्रेम के बर्ताव की, अभेद भक्ति करने वाला (ज्ञानी) ज्ञानी भक्त (विशिष्यते) सबसे श्रेष्ठ है; (हि) क्योंकि (ज्ञानिनः) ज्ञानी को, मेरे साथ एकता का निश्चय होने के कारण, (अहम्) मैं, सबका आत्मा (अत्यर्थम्) अत्यन्त (प्रियः) प्यारा हूँ, (च) और, उसकी प्रतिक्रियास्वरूप (सः) वह ज्ञानी भक्त (मम) मुझ सर्वात्मा को (प्रिय) प्यारा है ।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।। १८ ।।

उदाराः, सर्वे, एव, एते, ज्ञानी, तु, आत्मा, एव, मे, मतम्,
आस्थितः, सः, हि, युक्तात्मा, माम्, एव, अनुत्तमाम्, गतिम् ।। १८ ।।

(एते) ये (सर्वे) सब सदाचारी भक्त, (उदाराः) दुराचारियों की अपेक्षा, उदार (एव) ही हैं; (तु) परन्तु (ज्ञानी) ज्ञानी को तो (आत्मा) अपना आत्मा (एव) ही (मे मतम्) मैं मानता हूँ, (हि) क्योंकि (सः) वह (युक्तात्मा) मुझ परमात्मा के एकत्व भाव में जुड़कर, (अनुत्तमाम्) सर्वोत्तम (गतिम्) गतिस्वरूप (माम्) मुझमें (एव) ही (आस्थितः) पूर्णतया स्थित रहता है ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।। १९ ।।

बहूनाम्, जन्मनाम्, अन्ते, ज्ञानवान्, माम्, प्रपद्यते,
वासुदेव:, सर्वम्, इति, स:, महात्मा, सुदुर्लभ: ॥ १९ ॥

(ज्ञानवान्) ज्ञानवान् भक्त, (माम्) मुझको (प्रपद्यते) अनन्य भाव से भजता हुआ, (बहूनाम्) बहुत (जन्मनाम्) जन्मो के (अन्ते) अन्त में इस जन्म मे, (इति) यह पक्का अनुभव कर लेता है कि (सर्वम्) सब कुछ (वासुदेव:) वासुदेव परमात्मा ही है, (स) परन्तु वह (महात्मा) महान् आत्मा (सुदुर्लभ) अति दुर्लभ है, अर्थात् विरला ही होता है।

सगति—छठे अध्याय मे भगवान ने सबकी एकता के साम्यभाव मे मन को स्थित करने के लिए, एक साधन रूप से ध्यान-योग के अभ्यास का विधान किया; जिस पर अर्जुन ने इस अभ्यास मे मन को लगाने मे अपनी असमर्थता प्रगट की, इसलिए अब सातवें अध्याय मे भगवान् अपनी, अर्थात् सर्वात्मा=परमात्मा की भक्ति अथवा उपासना के सरल साधन का विधान करते हैं। इस सम्बन्ध में पहले वे अपने सर्वात्म भाव के विज्ञान सहित ज्ञान का स्पष्टीकरण करते हैं, कि यह ससार मेरी, अर्थात् उत्तम पुरुषवाचक सबके अपने आपकी इच्छा रूप प्रकृति के अपरा और परा, अथवा जड और चेतन भावो, अथवा द्वन्द्वो का बनाव है; अर्थात् जगत के सब बनाव, मेरी (सर्वात्मा की) ही इच्छा के कल्पित रूप हैं, मेरे सिवाय और कुछ भी नही है। ससार मे पचभूतो के, नाम रूपात्मक जितने भी आधिभौतिक और आधिदैविक बनाव हैं, उन सबकी सत्ता और सार यानी उनका मूल-तत्त्व मैं सबका आत्मा ही हूँ। इस विज्ञान सहित ज्ञान द्वारा, उत्तम पुरुषवाचक 'मैं' रूपी से सबमे रहने वाले, मेरे सर्वात्म भाव के यथार्थ रूप को जानकर, विश्व प्रेम रूप मेरी भक्ति करने से मनुष्य समत्व-योग मे स्थित होकर, मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। मेरी अपरा प्रकृति अथवा माया, सत्त्व, रज और तम तीन गुणो वाली है, किन्तु मैं इन गुणो मे उलझा हुआ और इनमे परिमित नही हूँ, क्योकि यह सब मेरी कल्पनामात्र है। मेरी प्रकृति अथवा माया के आधिभौतिक और आधिदैविक भाव इन तीनो गुणो के आधीन हैं, परन्तु मेरी परा प्रकृति का आध्यात्मिक भाव, चेतन जीवात्मा, यद्यपि तत्त्वत अपने असली स्वरूप मे, इन तीन गुणो से परे एव अलिप्त है, परन्तु जब वह अपनी इच्छा से उस अपरा, जड प्रकृति (माया) के इन तीन गुणो मे उलझकर अपने असली स्वरूप, मुझ, अपने परमात्म-भाव को बिसार देता है, और माया के चक्कर मे पडकर अपने को अलग-अलग भेदो वाला मानता है, तब विपरीत कर्म करके जन्म-मरण के नाना प्रकार के दु ख पाता रहता है। उन दुखो से निस्तार पाने के लिए, कई लोग, लोकहित के अच्छे कर्म करते हुए, मेरी उपासना करने का यत्न करते हैं। उनमे से अधिकाश तो

स्थूल आधिभौतिक और सूक्ष्म आधिदैविक विज्ञान में ही उलझे रहते हैं, अतः मुझ सर्वात्मा को, अपने से तथा जगत से अलग मानकर, अपने व्यक्तिगत दुःख निवृत्ति, और धन तथा कल्याण की प्राप्ति रूप स्वार्थ-सिद्धि के लिए मेरी भेद उपासना करते हैं। कई लोग विज्ञान रहित, कोरे अध्यात्म ज्ञान में लगे रहते हैं, इन सबकी एकता का समन्वय नहीं करते। यद्यपि माया में उलझे हुए कुकर्म करने वाले, आसुरी प्रकृति के विचारहीन अधम लोगों से तो ये लोग उदार होते हैं, परन्तु भेद ज्ञान के कारण वे अपने असली स्वरूप परमात्म-भाव को प्राप्त नहीं कर सकते। थोड़े से लोग आत्मा-परमात्मा की एकता के अभेद ज्ञान से, अनन्य भाव की अभेद उपासना करते हैं। वे लोग पूर्व के बहुत से जन्मों में अभेद उपासना के अभ्यास में उत्तरोत्तर बढ़ते हुए, इस जन्म में सारे विश्व की मुझ परमात्मा के साथ एकता का पक्का अनुभव हो जाने पर, अपने असली स्वरूप परमात्म भाव को प्राप्त हो जाते हैं; क्योंकि मनुष्य जैसी उपासना करता है, वैसा ही वह स्वयं हो जाता है। परन्तु ऐसे आत्मज्ञानी महापुरुष विरले ही होते हैं।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ।। २० ।।

कामैः, तैः, तैः, हृतज्ञानाः, प्रपद्यन्ते, अन्यदेवताः,
तम्, तम्, नियमम्, आस्थाय, प्रकृत्या, नियताः, स्वया ।। २० ।।

(तैः) उन (तैः) उन, नाना प्रकार की (कामैः) व्यक्तिगत स्वार्थों की कामनाओं से (हृतज्ञानाः) हरे हुए ज्ञान वाले, अर्थात् विक्षिप्त बुद्धि वाले लोग, (स्वया) अपनी (प्रकृत्या) प्रकृति अर्थात् स्वभाव से (नियताः) प्रेरे हुए, (तम्) उस (तम्) उस (नियमम्) नियम, अर्थात् पूजन की विधि का (आस्थाय) अवलंबन करके, (अन्यदेवताः) मुझ सर्वात्मा से अलग, देवताओं को मानकर उनकी (प्रपद्यन्ते) उपासना करते हैं, अर्थात् अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार, देवताओं की कल्पना करके, अपनी-अपनी रुचि की सामग्रियों से उनका पूजन करते हैं।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।। २१ ।।

यः, यः, याम्, याम्, तनुम्, भक्तः, श्रद्धया, अर्चितुम्, इच्छति,
तस्य, तस्य, अचलाम्, श्रद्धाम्, ताम्, एव, विदधामि, अहम् ।। २१ ।।

(यः) जो (यः) जो (भक्तः) देव भक्त, (याम्) जिस (याम्) जिस (तनुम्) देवता के नाम रूप को, (श्रद्धया) श्रद्धा से (अर्चितुम्) पूजना (इच्छति) चाहता है, (तस्य) उस (तस्य) उस, देवभक्त की (श्रद्धाम्) श्रद्धा,

बहूनाम्,जन्मनाम्, अन्ते, ज्ञानवान्, माम्, प्रपद्यते,
वासुदेवः, सर्वम्, इति, सः, महात्मा, सुदुर्लभः ॥ १६ ॥

(ज्ञानवान्) ज्ञानवान् भक्त, (माम्) मुझको (प्रपद्यते) अनन्य भाव से भजता हुआ, (बहूनाम्) बहुत (जन्मनाम्) जन्मो के (अन्ते) अन्त के इस जन्म मे, (इति) यह पक्का अनुभव कर लेता है कि (सर्वम्) सब कुछ (वासुदेव) वासुदेव परमात्मा ही है; (स) परन्तु वह (महात्मा) महान् आत्मा (सुदुर्लभ) अति दुर्लभ है, अर्थात् विरला ही होता है।

सगति—छठे अध्याय मे भगवान ने सबकी एकता के साम्यभाव मे मन को स्थित करने के लिए, एक साधन रूप से ध्यान-योग के अभ्यास का विधान किया; जिस पर अर्जुन ने इस अभ्यास मे मन को लगाने मे अपनी असमर्थता प्रगट की, इसलिए अब सातवे अध्याय मे भगवान् अपनी, अर्थात् सर्वात्मा=परमात्मा की भक्ति अथवा उपासना के सरल साधन का विधान करते हैं। इस सम्बन्ध मे पहले वे अपने सर्वात्म भाव के विज्ञान सहित ज्ञान का स्पष्टीकरण करते हैं, कि यह ससार मेरी, अर्थात् उत्तम पुरुषवाचक सबके अपने आपकी इच्छा रूप प्रकृति के अपरा और परा, अथवा जड और चेतन भावों, अथवा द्वन्द्वो का बनाव है; अर्थात् जगत के सब बनाव, मेरी (सर्वात्मा की) ही इच्छा के कल्पित रूप हैं, मेरे सिवाय और कुछ भी नही है। ससार मे पचभूतो के, नाम रूपात्मक जितने भी आधिभौतिक और आधिदैविक बनाव हैं, उन सबकी सत्ता और सार यानी उनका मूलतत्त्व मैं सबका आत्मा ही हूँ। इस विज्ञान सहित ज्ञान द्वारा, उत्तम पुरुषवाचक 'मैं' रूपी से सबमे रहने वाले, मेरे सर्वात्म भाव के यथार्थ रूप को जानकर, विश्व प्रेम रूप मेरी भक्ति करने से मनुष्य समत्व-योग मे स्थित होकर, मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। मेरी अपरा प्रकृति अथवा माया, सत्त्व, रज और तम तीन गुणो वाली है, किन्तु मैं इन गुणो मे उलझा हुआ और इनमे परिमित नही हूँ, क्योकि यह सब मेरी कल्पनामात्र है। मेरी प्रकृति अथवा माया के आधिभौतिक और आधिदैविक भाव इन तीनो गुणो के आधीन हैं, परन्तु मेरी परा प्रकृति का आध्यात्मिक भाव, चेतन जीवात्मा, यद्यपि तत्त्वत. अपने असली स्वरूप मे, इन तीन गुणों से परे एव अलिप्त है, परन्तु जब वह अपनी इच्छा से उस अपरा, जड प्रकृति (माया) के इन तीन गुणों मे उलझकर अपने असली स्वरूप, मुझ, अपने परमात्म-भाव को बिसार देता है, और माया के चक्कर मे पडकर अपने को अलग-अलग भेदो वाला मानता है, तब विपरीत कर्म करके जन्म-मरण के नाना पकार के दुःख पाता रहता है। उन दुखो से निस्तार पाने के लिए, कई लोग, लोकहित के अच्छे कर्म करते हुए, मेरी उपासना करने का यत्न करते हैं। उनमे से अधिकाश तो

स्थूल आधिभौतिक और सूक्ष्म आधिदैविक विज्ञान में ही उलझे रहते हैं, अतः मुझ सर्वात्मा को, अपने से तथा जगत से अलग मानकर, अपने व्यक्तिगत दुःख निवृत्ति, और धन तथा कल्याण की प्राप्ति रूप स्वार्थ-सिद्धि के लिए मेरी भेद उपासना करते हैं। कई लोग विज्ञान रहित, कोरे अध्यात्म ज्ञान में लगे रहते हैं, इन सबकी एकता का समन्वय नहीं करते। यद्यपि माया में उलझे हुए कुकर्म करने वाले, आसुरी प्रकृति के विचारहीन अधम लोगों से तो ये लोग उदार होते हैं, परन्तु भेद ज्ञान के कारण वे अपने असली स्वरूप परमात्म-भाव को प्राप्त नहीं कर सकते। थोड़े से लोग आत्मा-परमात्मा की एकता के अभेद ज्ञान से, अनन्य भाव की अभेद उपासना करते हैं। वे लोग पूर्व के बहुत से जन्मों में अभेद उपासना के अभ्यास में उत्तरोत्तर बढ़ते हुए, इस जन्म में सारे विश्व की मुझ परमात्मा के साथ एकता का पक्का अनुभव हो जाने पर, अपने असली स्वरूप परमात्म भाव को प्राप्त हो जाते हैं; क्योंकि मनुष्य जैसी उपासना करता है, वैसा ही वह स्वयं हो जाता है। परन्तु ऐसे आत्मज्ञानी महापुरुष विरले ही होते हैं।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ।। २० ।।

कामैः, तैः, तैः, हृतज्ञानाः, प्रपद्यन्ते, अन्यदेवताः,
तम्, तम्, नियमम्, आस्थाय, प्रकृत्या, नियताः, स्वया ।। २० ।।

(तैः) उन (तैः) उन, नाना प्रकार की (कामैः) व्यक्तिगत स्वार्थों की कामनाओं से (हृतज्ञानाः) हरे हुए ज्ञान वाले, अर्थात् विक्षिप्त बुद्धि वाले लोग, (स्वया) अपनी (प्रकृत्या) प्रकृति अर्थात् स्वभाव से (नियताः) प्रेरे हुए, (तम्) उस (तम्) उस (नियमम्) नियम, अर्थात् पूजन की विधि का (आस्थाय) अवलंबन करके, (अन्यदेवताः) मुझ सर्वात्मा से अलग, देवताओं को मानकर उनकी (प्रपद्यन्ते) उपासना करते हैं, अर्थात् अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार, देवताओं की कल्पना करके, अपनी-अपनी रुचि की सामग्रियों से उनका पूजन करते हैं।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।। २१ ।।

यः, यः, याम्, याम्, तनुम्, भक्तः, श्रद्धया, अर्चितुम्, इच्छति,
तस्य, तस्य, अचलाम्, श्रद्धाम्, ताम्, एव, विदधामि, अहम् ।। २१ ।।

(यः) जो (यः) जो (भक्तः) देव भक्त, (याम्) जिस (याम्) जिस (तनुम्) देवता के नाम रूप को, (श्रद्धया) श्रद्धा से (अर्चितुम्) पूजना (इच्छति) चाहता है, (तस्य) उस (तस्य) उस, देवभक्त की (श्रद्धाम्) श्रद्धा,

(अहम्) मैं, सबका अन्तरात्मा, (ताम्) उस (एव) ही देवता में (अचलाम्) दृढ (विदधामि) कर देता हूँ।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान् ॥ २२ ॥

स, तया, श्रद्धया, युक्तः, तस्य, आराधनम्, ईहते,
लभते, च, ततः, कामान्, मया, एव, विहितान्, हि, तान् ॥ २२ ॥

(तया) उस (श्रद्धया) श्रद्धा से (युक्तः) युक्त होकर, (सः) वह देव-भक्त, (तस्य) उस देवता की (आराधनम्) आराधना (ईहते) करने में लगा रहता है; (च) और (ततः) उससे, अपनी श्रद्धा के फलस्वरूप, (मया) मेरे, अर्थात् सबके अन्तरात्मा की प्रकृति द्वारा (एव) ही (विहितान्) नियत किये हुए विधान के अनुसार, (तान्) उन (कामान्) कामनाओं को (हि) ही (लभते) प्राप्त होता है।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

अन्तवत्, तु, फलम्, तेषाम्, तत्, भवति, अल्पमेधसाम्
देवान्, देवयजः, यान्ति, मद्भक्ताः, यान्ति, माम्, अपि ॥ २३ ॥

(तु) परन्तु (तेषाम्) उन (अल्पमेधसाम्) तुच्छ बुद्धि वालों का (तत्) वह, अर्थात् उस पूजन का (फलम्) फल, (अन्तवत्) नाशवान् (भवति) होता है; (देवयजः) देवताओं को पूजने वाले (देवान्) देवताओं को (यान्ति) प्राप्त होते हैं, और (मद्भक्ताः) मेरे भक्त (माम्) मुझ सर्वात्मा को (अपि) ही (यान्ति) प्राप्त होते हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

अव्यक्तम्, व्यक्तिम्, आपन्नम्, मन्यन्ते, माम्, अबुद्धयः,
परम्, भावम्, अजानन्तः, मम, अव्ययम्, अनुत्तमम् ॥२४॥

(अबुद्धयः) बुद्धिहीन लोग (मम) मेरे (अव्ययम्) अविकारी, अर्थात् सदा एक सा रहने वाले, (अनुत्तमम्) उत्तमोत्तम (परम्) परम, अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि सब भावों से परे के (भावम्) भाव को, (अजानन्तः) न जानकर, (माम्) मुझ (अव्यक्तम्) अव्यक्त, अर्थात् इन्द्रियों की पहुँच से परे—सर्वात्मा को, (व्यक्तिम्) व्यक्तिभाव को (आपन्नम्) प्राप्त हुआ, अर्थात् एक

व्यक्ति विशेष (मन्यन्ते) मानते हैं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

न, अहम्, प्रकाशः, सर्वस्य, योगमायासमावृतः,
मूढः, अयम्, न, अभिजानाति, लोकः, माम्, अजम्, अव्ययम् ॥२५॥

(**योगमायासमावृतः**) अपनी योगमाया, अर्थात् इच्छा रूप प्रकृति से ढका हुआ, स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के परदे से आच्छादित, (**अहम्**) मैं सबका अन्तरात्मा, (**सर्वस्य**) सबको (**प्रकाशः**) स्थूल रूप से प्रत्यक्ष अनुभव (**न**) नहीं होता; इसलिए (**अयम्**) यह (**मूढः**) मूर्ख (**लोकः**) जन समाज (**माम्**) मुझ (**अजम्**) अजन्मा और (**अव्ययम्**) अविकारी अन्तरात्मा को, (**न अभिजानाति**) यथार्थ रूप से नहीं जानता, अर्थात् देश, काल और वस्तु की सीमा से रहित, मुझ अव्यक्त सर्वात्मा को जन्मने मरने वाला, एक सीमित व्यक्ति विशेष मानता है।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणिं च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

वेद, अहम्, समतीतानि, वर्तमानानि, च, अर्जुन,
भविष्याणि, च, भूतानि, माम्, तु, वेद, न, कश्चन ॥२६॥

(**अर्जुन**) हे अर्जुन ! (**समतीतानि**) जो पहले हो चुके हैं, (**च**) और (**वर्तमानानि**) वर्तमान में हैं, (**च**) और (**भविष्याणि**) भविष्य में होंगे, उन (**भूतानि**) सब भूत प्राणियों को (**अहम्**) मैं, सबका अन्तर्यामी (**वेद**) जानता हूँ, (**तु**) परन्तु (**माम्**) मुझ सर्वात्मा को (**कश्चन**) कोई भी, यथार्थ रूप से (**न**) नहीं (**वेद**) जानता।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन, द्वन्द्वमोहेन, भारत,
सर्वभूतानि, संमोहम्, सर्गे, यान्ति, परंतप ॥२७॥

(**भारत**) हे भारतवंशी (**परंतप**) अर्जुन ! (**सर्गे**) संसार में (**सर्वभूतानि**) सब भूतप्राणी (**इच्छाद्वेषसमुत्थेन**) राग और द्वेष से उत्पन्न होने वाले, (**द्वन्द्वमोहेन**) सुख-दुख आदि द्वन्द्वों के मोह में उलझकर (**संमोहम्**) भ्रम में (**यान्ति**) पड़े हुए हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

येषाम्, तु, अन्तगतम्, पापम्, जनानाम्, पुण्यकर्मणाम्,
ते, द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता, भजन्ते, माम्, दृढव्रता ॥२८॥

(तु) परन्तु (पुण्यकर्मणाम्) पुण्य कर्म करने वाले (येषाम्) जिन (जनानाम्) लोगो के (पापम्) पाप का (अन्तगतम्) अन्त हो गया है, (ते) वे (द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता) सुख-दु.खादि द्वन्द्वो के मोह को छोडकर, (दृढव्रताः) दृढ निश्चय से, (माम्) मुझ सर्वात्मा को (भजन्ते) यथार्थ रूप मे भजते हैं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

जरामरणमोक्षाय, माम्, आश्रित्य, यतन्ति, ये,
ते, ब्रह्म, तत्, विदुः, कृत्स्नम्, अध्यात्मम्, कर्म, च, अखिलम् ॥२९॥

(ये) जो (माम्) मेरा, अर्थात् सबके अन्तरात्मा का (आश्रित्य) आश्रय लेकर स्वावलम्बनपूर्वक (जरामरणमोक्षाय) बुढापे और मृत्यु के दु खो से छूटने के लिए (यतन्ति) यत्न करते हैं, (ते) वे (तत्) उस (ब्रह्म) ब्रह्म को, (कृत्स्नम्) सम्पूर्ण (अध्यात्मम्) अध्यात्म को, (च) और (अखिलम्) सब (कर्म) कर्म को (विदु) जान लेते हैं।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतस. ॥३०॥

साधिभूताधिदैवम्, माम, साधियज्ञम्, च, ये, विदु,
प्रयाणकाले, अपि, च, माम्, ते, विदु., युक्तचेतस ॥३०॥

(ये) जो (साधिभूताधिदैवम्) अधिभूत और अधिदेव सहित, (च) तथा (साधियज्ञम्) अधियज्ञ सहित (माम) सबके आत्मारूप मुझको (विदु) जानते हैं, (ते) वे (युक्तचेतस) समत्व-योग मे लगे हुए चित्त वाले, (प्रयाणकाले) अन्तकाल मे (अपि) भी (माम्) मुझको (च) ही (विदुः) सब का आत्मा जानते हैं, अर्थात् मरणपर्यन्त उनको मेरे सर्वात्म भाव के साथ अपनी एकता का ज्ञान बना रहता है।

सगति—इस अध्याय मे उपासना का विधान करते हुए, भगवान् ने पहले अपने अनेक प्रकार के भक्तो का वर्गीकरण करके, उनमे से अनन्यभाव से अपनी अभेद उपासना करने वाले ज्ञानी भक्तो को ही सबसे श्रेष्ठ और सच्चे भक्त बताया।

उसके बाद २० से २३ श्लोंको तक, माया में उलझे हुए, रजोगुणी-तमोगुणी आसुरी प्रकृति के देवभक्तों का वर्णन करते हैं, कि वे लोग व्यक्तिगत स्वार्थों की कामनाओं के वश होकर, अपनी-अपनी प्रकृति के गुणों के अनुसार अलग-अलग देवताओं की कल्पना करके, उनसे नाना प्रकार के सांसारिक पदार्थों, तथा इस लोक और परलोक के सुखों की प्राप्ति होने के विश्वास से, अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल भिन्न-भिन्न प्रकार की उपासना की विधियों और पूजन की सामग्रियों द्वारा उन कल्पित देवताओं का अन्धश्रद्धा से अर्चन-पूजन करते हैं। जो पुरुष जिस तरह की श्रद्धा में अपना मन लगाए रखता है, उसकी उसी में दृढ़ता हो जाती है, और उस दृढ़ श्रद्धा ही के फलस्वरूप उसकी कामनाओं की पूर्ति होती है; यह मेरी प्रकृति का नियम है। परन्तु उन मूर्ख देवभक्तों की श्रद्धा, उन कल्पित देवताओं से नाशवान् स्वार्थ प्राप्त करने की होती है, अतएव उनको नाशवान् ही फल मिलते हैं। पर मुझ सर्वात्मा की अनन्यभाव से उपासना करने वाले लोग मेरे परमानन्द स्वरूप को प्राप्त होते हैं। फिर २४ से ३० श्लोकों तक भगवान कहते हैं कि अज्ञानी मूर्ख लोग, मेरी प्रकृति के नाम-रूपात्मक बनावों को ही सच्चा मानकर, उनमें अव्यक्तरूप से व्यापक, उनके मूलाधार, देश, काल और वस्तु की सीमा से रहित, मेरे परमभाव को नहीं जानते; इसलिए मुझ सर्वात्मा को भी अपनी तरह देश, काल और वस्तु की सीमा में घिरा हुआ, एक परिछिन्न, विकारवान् व्यक्ति विशेष मानकर, व्यक्ति भाव की उपासना करते हैं; जिसके फलस्वरूप वे व्यक्तित्व के साथ लगे हुए सुख-दुःखादि द्वन्द्वों के राग-द्वेष के मोह में उलझे रहते हैं, इसलिए वे जन्म-मरण के चक्कर में पड़े हुए दुःख पाते हैं। परन्तु जो लोग लोकहित के अच्छे कर्म करते हैं, उन पुण्यवान् लोगों का मोह नष्ट हो जाता है, और वे लोग जन्म-मरण के चक्कर से छूटने के लिए दृढ़ता के साथ मुझे यथार्थ रूप से, अनन्यभाव से भजते हैं, और संसार के नाना प्रकार के बनावों को मेरे ही ब्रह्मभाव, अध्यात्मभाव, अधिभूतभाव, अधिदेवभाव, और अधियज्ञभाव समझकर, मुझ सर्वात्मा को यथार्थतया जान लेते हैं। अतः मरणपर्यन्त मेरे सर्वात्म भाव में मन लगाये हुए वे लोग मुझे पा लेते हैं; फिर परवशता से जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आते।

॥ सातवां अध्याय समाप्त ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

किम्, तत्, ब्रह्म, किम्, अध्यात्मम्, किम्, कर्म, पुरुषोत्तम,
अधिभूतम्, च, किम्, प्रोक्तम्, अधिदैवम्, किम्, उच्यते ॥ १ ॥

अर्जुन ने पूछा कि—

(पुरुषोत्तम) हे पुरुषोत्तम ! (तत्) वह (ब्रह्म) ब्रह्म (किम्) क्या है ? (अध्यात्मम्) अध्यात्म (किम्) क्या है ? (कर्म) कर्म (किम्) क्या है ? (च) और (अधिभूतम्) अधिभूत (किम्) क्या (प्रोक्तम्) कहा गया है ? तथा (अधिदैवम्) अधिदैव (किम्) क्या (उच्यते) कहा जाता है ?

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

अधियज्ञ, कथम्, को, अत्र, देहे, अस्मिन्, मधुसूदन,
प्रयाणकाले, च, कथम्, ज्ञेय, असि, नियतात्मभि ॥ २ ॥

(मधुसूदन) हे मधुसूदन ! (अत्र) यहाँ (अस्मिन्) इस (देहे) शरीर मे (अधियज्ञ) अधियज्ञ (क.) कौन, (कथम्) किस प्रकार है, (च) और (नियतात्मभि) समाहित चित्त वाले पुरुषो द्वारा (प्रयाणकाले) अन्त समय मे, आप (कथम्) किस प्रकार (ज्ञेयः असि) जाने जाते हो ?

श्री भगवान उवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञित. ॥ ३ ॥

अक्षरम्, ब्रह्म, परमम्, स्वभाव, अध्यात्मम्, उच्यते,
भूतभावोद्भवकर, विसर्ग, कर्मसंज्ञित ॥ ३ ॥

श्री भगवान बोले कि—

(परमम् अक्षरम्) अपरा और परा प्रकृतियों से परे, अविनाशी परमात्म भाव (ब्रह्म) ब्रह्म है; (स्वभावः) अपने 'मैं' पन का व्यष्टि भाव अर्थात् जीवात्मा (अध्यात्मम्) अध्यात्म (उच्यते) कहा जाता है; (भूतभावोद्भवकरः) भूतभाव, अर्थात् चराचर जगत् को उत्पन्न करने वाले (विसर्गः) सृष्टि रचना के व्यापार का (कर्मसंज्ञितः) नाम कर्म है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ॥ ४ ॥

अधिभूतम्, क्षरः, भावः, पुरुषः, च, अधिदैवतम्,
अधियज्ञः, अहम्, एव, अत्र, देहे, देहभृताम्, वर ॥ ४ ॥

(क्षरः, भावः) नामरूपात्मक नाशवान् भाव (अधिभूतम्) अधिभूत हैं; (च) और (पुरुषः) पुरुष, अर्थात् विश्व को धारण करने वाली सूक्ष्म दैवी शक्तियों का समष्टि देव-भाव, समष्टि मन रूप ब्रह्मा (अधिदैवतम्) अधिदैव हैं; (देहभृताम् वर) हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! (अत्र) इस (देहे) शरीर में (अहम्) मैं, सबका अन्तरात्मा (एव) ही परमोपास्य (अधियज्ञः) अधियज्ञ हूँ।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

अन्तकाले, च, माम्, एव, स्मरन्, मुक्त्वा, कलेवरम्,
यः, प्रयाति, सः, मद्भावम्, याति, न, अस्ति, अत्र, संशयः ॥ ५ ॥

(च) और (यः) जो पुरुष (अन्तकाले) अन्त काल में (माम्) मुझ सर्वात्मा को (एव) ही (स्मरन्) स्मरण करता हुआ (कलेवरम्) शरीर को (मुक्त्वा) त्यागकर (प्रयाति) जाता है, (सः) वह (मद्भावम्) मेरे भाव को (याति) प्राप्त होता है, अर्थात् मेरे साथ अपनी एकता का अनुभव कर लेता है, (अत्र) इसमें (संशयः) सन्देह (न) नहीं (अस्ति) है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

यम्, यम्, वा, अपि, स्मरन्, भावम्, त्यजति, अन्ते, कलेवरम्,
तम्, तम्, एव, एति, कौन्तेय, सदा, तद्भावभावितः ॥ ३ ॥

(कौन्तेय) हे अर्जुन! (अन्ते) अन्तकाल में, मनुष्य (यम्) जिस (यम्)

अथ अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

किम्, तत्, ब्रह्म, किम्, अध्यात्मम्, किम्, कर्म, पुरुषोत्तम,
अधिभूतम्, च, किम्, प्रोक्तम्, अधिदैवम्, किम्, उच्यते ॥ १ ॥

अर्जुन ने पूछा कि—

(पुरुषोत्तम) हे पुरुषोत्तम ! (तत्) वह (ब्रह्म) ब्रह्म (किम्) क्या है ? (अध्यात्मम्) अध्यात्म (किम्) क्या है ? (कर्म) कर्म (किम्) क्या है ? (च) और (अधिभूतम्) अधिभूत (किम्) क्या (प्रोक्तम्) कहा गया है ? तथा (अधिदैवम्) अधिदैव (किम्) क्या (उच्यते) कहा जाता है ?

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

अधियज्ञ, कथम्, को, अत्र, देहे, अस्मिन्, मधुसूदन,
प्रयाणकाले, च, कथम्, ज्ञेय., असि, नियतात्मभि. ॥ २ ॥

(मधुसूदन) हे मधुसूदन ! (अत्र) यहाँ (अस्मिन्) इस (देहे) शरीर मे (अधियज्ञ) अधियज्ञ (क.) कौन, (कथम्) किस प्रकार है, (च) और (नियतात्मभि) समाहित चित्त वाले पुरुषो द्वारा (प्रयाणकाले) अन्त समय मे, आप (कथम्) किस प्रकार (ज्ञेय. असि) जाने जाते हो ?

श्री भगवान उवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

अक्षरम्, ब्रह्म, परमम्, स्वभाव, अध्यात्मम्, उच्यते,
भूतभावोद्भवकरः, विसर्ग, कर्मसंज्ञित. ॥ ३ ॥

श्री भगवान बोले कि—

(परमम् अक्षरम्) अपरा और परा प्रकृतियों से परे, अविनाशी परमात्म भाव **(ब्रह्म)** ब्रह्म है; **(स्वभावः)** अपने 'मैं' पन का व्यष्टि भाव अर्थात् जीवात्मा **(अध्यात्मम्)** अध्यात्म **(उच्यते)** कहा जाता है; **(भूतभावोद्भवकरः)** भूतभाव, अर्थात् चराचर जगत् को उत्पन्न करने वाले **(विसर्गः)** सृष्टि रचना के व्यापार वा **(कर्मसंज्ञितः)** नाम कर्म है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ।। ४ ।।

अधिभूतम्, क्षरः, भावः, पुरुषः, च, अधिदैवतम्,
अधियज्ञः, अहम्, एव, अत्र, देहे, देहभृताम्, वर ।। ४ ।।

(क्षरः, भावः) नामरूपात्मक नाशवान् भाव **(अधिभूतम्)** अधिभूत हैं; **(च)** और **(पुरुषः)** पुरुष, अर्थात् विश्व को धारण करने वाली सूक्ष्म दैवी शक्तियों का समष्टि देव-भाव, समष्टि मन रूप ब्रह्मा **(अधिदैवतम्)** अधिदैव हैं; **(देहभृताम् वर)** हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! **(अत्र)** इस **(देहे)** शरीर में **(अहम्)** मैं, सबका अन्तरात्मा **(एव)** ही परमोपास्य **(अधियज्ञः)** अधियज्ञ हूँ।

जिस (वा अपि) भी (भावम्) भाव को (स्मरन्) स्मरण करता हुआ (कलेवरम्) शरीर (त्यजति) छोड़ता है, (सदा) सदा (तद्भावभावितः) उस ही भाव में मन लगा रहने के कारण, (तम्) उस (तम्) उसको (एव) ही (एति) प्राप्त होता है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

तस्मात्, सर्वेषु, कालेषु, माम्, अनुस्मर, युध्य, च,
मयि, अर्पितमनोबुद्धिः, माम्, एव, एष्यसि, असंशयम् ॥ ७ ॥

(तस्मात्) इसलिए, तू (सर्वेषु) सब (कालेषु) काल में (माम्) मेरा (अनुस्मर) स्मरण करता रह (च) और (युध्य) युद्ध भी कर, अर्थात् सबकी एकता का निरन्तर चिन्तन करता हुआ अपना कर्त्तव्य कर्म करता रह। (मयि) मुझ सर्वात्मा में (अर्पितमनोबुद्धिः) मन और बुद्धि लगा देने से (असंशयम्) निःसन्देह (माम्) मुझको (एव) ही (एष्यसि) प्राप्त होगा, अर्थात् परमात्म भाव में स्थित होगा।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन, चेतसा, नान्यगामिना,
परमम्, पुरुषम्, दिव्यम्, याति, पार्थ, अनुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

(पार्थ) हे पार्थ! (अभ्यासयोगयुक्तेन) अभ्यास-योग से युक्त होकर, अर्थात् मुझ परमात्मा का सदा स्मरण रखता हुआ, सांसारिक व्यवहार करने के अभ्यास में लगा रहकर, (नान्यगामिना) दूसरी तरफ न जाने वाले (चेतसा) चित्त से, (अनुचिन्तयन्) सबकी एकता का निरन्तर चिन्तन करता हुआ, मनुष्य (परमम्) परम (दिव्यम्) दिव्य अर्थात् अविकारी (पुरुषम्) पुरुष को अर्थात् परमात्म भाव को (याति) प्राप्त होता है।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

कविम्, पुराणम्, अनुशासितारम्, अणोः, अणीयासम्,
अनुस्मरेत्, यः, सर्वस्य, धातारम्, अचिन्त्य रूपम्,
आदित्यवर्णम्, तमसः, परस्तात् ॥ ९ ॥

(यः) जो मनुष्य, (कविम्) सर्वज्ञ, अथवा अपने संकल्प से सृष्टि रचने-

वाले, (पुराणम्) अनादि, (अनुशासितारम्) सबके नियन्ता, (अणोः अणीयांसम्) सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म, (सर्वस्य) सबका (धातारम्) धारण पोषण करने-वाले, (अचिन्त्यरूपम्) मन से अचिन्त्य रूप वाले, (आदित्यवर्णम्) तेजोमय और (तमसः) अज्ञानान्धकार से (परस्तात्) परे, परमात्मा को (अनुस्मरेत्) निरन्तर स्मरण करता रहता है;

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।१०।

प्रयाणकाले, मनसा, अचलेन, भक्त्या, युक्तः, योगबलेन, च, एव,
भ्रुवोः, मध्ये, प्राणम्, आवेश्य, सम्यक्, सः, तम्, परम् पुरुषम्,
उपैति, दिव्यम् ॥ १० ॥

(सः) वह (प्रयाणकाले) अन्तकाल में (भक्त्यायुक्तः) अनन्य भाव की भक्ति से युक्त होकर, (च) और (योगबलेन) समत्व-योग के बल से (एव) ही (अचलेन मनसा) मन को एकता के भाव में स्थिर करके, (भ्रुवोः) भौवों के (मध्ये) बीच में (प्राणम्) प्राण को (सम्यक्) अच्छी तरह (आवेश्य) ठहराकर, (तम्) उस (दिव्यम्) दिव्य (परम्) परम (पुरुषम्) पुरुष-परमात्मा को (उपैति) प्राप्त होता है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

यत्, अक्षरम्, वेदविदः, वदन्ति, विशन्ति, यत्, यतयः, वीतरागाः,
यत्, इच्छन्तः, ब्रह्मचर्यम्, चरन्ति, तत्, ते, पदम्, संग्रहेण, प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

(वेदविदः) वेद के जानने वाले (यत्) जिसे (अक्षरम्) अक्षर (वदन्ति) कहते हैं; (वीतरागाः) आसक्ति रहित (यतयः) इन्द्रियजीत आत्मज्ञानी लोग (यत्) जिसमें (विशन्ति) प्रवेश करते हैं, अर्थात् जिसके साथ अपनी एकता का अनुभव करते हैं; तथा (यत्) जिस परम पद को (इच्छन्तः) चाहने वाले लोग (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य व्रत का (चरन्ति) आचरण करते हैं; (तत्) उस (पदम्) परम पद को (ते) तेरे लिए (संग्रहेण) संक्षेप से (प्रवक्ष्ये) बतलाता हूँ।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२ ॥

सर्वद्वाराणि, संयम्य, मनः, हृदि, निरुध्य, च,
मूर्ध्नि, आधाय, आत्मनः, प्राणम्, आस्थितः, योगधारणाम्॥ १२ ॥

(सर्वद्वाराणि) इन्द्रियो के सब द्वारो का (संयम्य) संयम करके, (मन) मन को (हृदि) हृदय मे (निरुध्य) स्थिर करके, (आत्मन.) अपने (प्राणम्) प्राण को (मूर्ध्नि) मस्तिष्क मे (आधाय) ठहराकर, (च) और (योगधारणाम्) समता के भाव की धारणा मे (आस्थित) स्थित होकर;

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।। १३ ।।

ओ३म्, इति, एकाक्षरम् ब्रह्म, व्याहरन्, माम्, अनुस्मरन्,
य , प्रयाति, त्यजन्, देहम्, स , याति, परमाम्, गतिम् ।। १३ ।।

(य.) जो मनुष्य (ओ३म्) ओमकार (इति) इस (एकाक्षरम्) एक अक्षर (ब्रह्म) ब्रह्म के (व्याहरन्) जप द्वारा (माम्) मुझ परमात्मा का (अनुस्मरन्) स्मरण करता हुआ, (देहम्) शरीर को (त्यजन्) त्यागकर (प्रयाति) जाता है, (स.) वह मनुष्य (परमाम्) परम (गतिम्) गति को (याति) प्राप्त होता है ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।। १४ ।।

अनन्यचेता , सततम्, य , माम्, स्मरति, नित्यश",
तस्य, अहम्, सुलभ , पार्थ, नित्ययुक्तस्य, योगिन ।।१४।।

(पार्थ) हे अर्जुन ! (य) जो मनुष्य (अनन्यचेता) अनन्य भाव से (नित्यशः) नित्यप्रति (सततम्) निरन्तर (माम्) मुझको (स्मरति) स्मरण करता रहता है, (तस्य) उस (नित्य युक्तस्य) सदा एकत्वभाव मे जुडे हुए (योगिन') समत्व-योगी के लिए (अहम्) मैं (सुलभः) सहज ही प्राप्त हूँ ।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धि परमां गताः ।।१५।।

माम्, उपेत्य, पुनर्जन्म, दु खालयम्, अशाश्वतम्,
न, आप्नुवन्ति, महात्मान , ससिद्धिम्, परमाम्, गताः ।।१५।।

(माम्) मुझको (उपेत्य) प्राप्त होकर, अर्थात् मुझ सर्वात्मा से अपनी एकता का अनुभव करके, (महात्मानः) महात्मा लोग (दु खालयम्) दु खो के घर, (अशाश्वतम्) अनित्य (पुनर्जन्म) पुनर्जन्म को अर्थात् दूसरे शरीर को (न) विवशता पूर्वक नही (आप्नुवन्ति) प्राप्त होते, अर्थात् फिर जन्म-मरण के चक्कर मे नही आते, क्योकि वे (परमाम्) परम (ससिद्धिम्) सिद्धि को (गता) पा लेते है,

अर्थात् मुझ परमात्मा में मिल जाते हैं।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

आब्रह्मभुवनात्, लोकाः, पुनरावर्तिनः, अर्जुन,
माम्, उपेत्य, तु, कौन्तेय, पुनर्जन्म, न, विद्यते ॥१६॥

(अर्जुन) हे अर्जुन! (आब्रह्मभुवनात्) ब्रह्मलोकपर्यन्त, (लोकाः) मानसिक संकल्प के रचे हुए स्वर्गादि जितने भी सूक्ष्म लोक हैं, वे सब (पुनरावर्तिनः) आने जाने वाले हैं, अर्थात् मनके संकल्प से उनमें गये हुए इस स्थूल लोक में पीछे आते हैं; (तु) परन्तु (कौन्तेय) हे अर्जुन! (माम्) मुझ परमात्मा को (उपेत्य) प्राप्त होकर मनुष्य, परवशता से (पुनर्जन्म) दूसरा जन्म (न) नहीं (विद्यते) लेता।

संगति—सातवें अध्याय के अन्त में भगवान् ने अपने ब्रह्मभाव, अध्यात्म भाव, कर्मभाव, अधिभूत भाव, अधिदव भाव, और अधियज्ञभाव का उल्लेख करके कहा कि जो अपने जीवन-काल ही में इन सब भावों को मेरे ही अनेक भाव समझ लेता है, वह इस शरीर के अन्तकाल में भी केवल मुझको ही सब कुछ अनुभव करके मेरा स्वरूप हो जाता है।

अब इस आठवें अध्याय के आरंभ में अर्जुन के पूछने पर इन सब भावों का संक्षेप से खुलासा करके, मनुष्य के मरने के बाद उसकी क्या गति होती है, उसका विज्ञान कहते हैं; क्योंकि यह जानने की सबको स्वभाविक उत्कण्ठा रहती है कि इस शरीर के छूटने के बाद हमारी क्या गति होगी? इस विषय का खुलासा किये बिना विज्ञान सहित ज्ञान का वर्णन अधूरा ही रहता। अतः भगवान् कहते हैं कि यह संसार समष्टि संकल्प का बनाव होने के कारण, मनुष्य अपने जीवन में जैसा चिन्तन करता रहता है, वैसे ही बनाव प्रकृति के नियमानुसार, उसके लिए बन जाते हैं। यदि जन्मभर स्थूल शरीर के सम्बन्धों और विषयभोगों आदि में आसक्ति रखकर उनमें ही मन लगाये रखता है, तो मरने के समय वे ही संस्कार उसके मन में बने रहते हैं और उनके फल स्वरूप वह आवागमन के चक्कर में घूमता रहता है और उन संस्कारों के अनुसार ही उसका परलोक बनता है। और यदि सारे विश्व के आधार भूत, सबकी एकता स्वरूप परमात्मा का चिन्तन करता रहता है, तो मरते समय भी उसे परमात्मा का स्मरण बना रहता है, जिससे वह परमात्म-भाव को प्राप्त हो जाता है। यह संसार कर्म रूप है, इसलिए संसार के व्यवहार तो मनुष्य को जन्मभर करने ही पड़ते है, परन्तु शरीर और इन्द्रियों द्वारा संसार के व्यवहार करते हुए भी, यदि अन्तःकरण निरन्तर सबकी एकता स्वरूप परमात्मा

मे लगा रहे, तो वह परमात्मभाव को ही प्राप्त होता है, क्योंकि शरीर और इन्द्रियाँ तो मरण काल मे नष्ट हो जाती हैं, पर अन्त करण शेष रहता है। उस पर जो संस्कार पड़े होते हैं, उन्ही के अनुसार मरने के बाद उसकी गति होती है। जन्म-मरण के चक्कर की परवशता से वही मनुष्य छूटता है, जो परमात्मभाव को प्राप्त कर लेता है। इसके सिवाय भेद वाद के शास्त्रों मे वर्णित ब्रह्मलोक, देव लोक, स्वर्गलोक आदि कल्पित लोको का चिन्तन करते रहने से मरने के बाद इन कल्पित लोको में नियत समय तक निवास करने का मानसिक अनुभव करने के बाद फिर पीछा ही स्थूल शरीर मे जन्मने और मरने के चक्कर मे पडा रहना पडता है।

सहस्रयुग पर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रि युग सहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जना ॥ १७ ॥

सहस्रयुग, पर्यन्तम्, अहः, यत्, ब्रह्मण, विदुः,
रात्रिम्, युगसहस्रान्ताम्, ते अहोरात्रविद, जना ॥ १७ ॥

(ते) वे (अहोरात्रविदः) अहोरात्र के ज्ञाता, अर्थात् काल विज्ञान के जानने-वाले (जना.) गणितज्ञ लोग (विदु) जानते हैं, कि (ब्रह्मणः) समष्टि सकल्प रूप ब्रह्मा का (यत्) जो (अह) दिन है, वह (सहस्रयुग पर्यन्तम्) हजार युगो तक का होता है, और (रात्रिम्) रात भी (युगसहस्रान्ताम्) हजार युगो तक की होती है।

अव्यक्ताद्व्यक्तय सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके ॥ १८ ॥

अव्यक्तात्, व्यक्तय, सर्वा., प्रभवन्ति, अहरागमे,
रात्र्यागमे, प्रलीयन्ते, तत्र, एव, अव्यक्तसञ्ज्ञके ॥ १८ ॥

(अहरागमे) समष्टि सकल्प रूप ब्रह्मा के दिन के आरम्भ होने पर (सर्वा.) सब (व्यक्तय) व्यक्त स्थूल पदार्थ, अर्थात् स्थावर-जंगम सृष्टि (अव्यक्तात्) सूक्ष्म कारण प्रकृति से (प्रभवन्ति) उत्पन्न होते हैं, अर्थात् स्थूल रूप मे प्रकट होते हैं, (रात्र्यागमे) और रात होने पर (तत्र) उस (अव्यक्तसञ्ज्ञके) अव्यक्त सज्ञा वाली सूक्ष्म, कारण प्रकृति मे (एव) ही (प्रलीयन्ते) लय हो जाते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवश पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

भूतग्राम, स., एव, अयम्, भूत्वा, भूत्वा, प्रलीयते,
रात्र्यागमे, अवशः, पार्थ, प्रभवति, अहरागमे ॥ १९ ॥

(पार्थ) हे अर्जुन ! (सः) वह (एव) ही (अयम्) यह (भूतग्रामः) भूत प्राणियों का समुदाय, अर्थात् स्थावर-जंगम सृष्टि (भूत्वा भूत्वा) बार-बार उत्पन्न हो होकर, (रात्र्यागमे) समष्टि संकल्प रूप ब्रह्मा की रात होने पर, (अवशः) प्रकृति के अटल नियमानुसार, विवश होकर, अनिवार्य रूप से (प्रलीयते) लय होता है, और (अहरागमे) दिन होने पर (प्रभवति) प्रकट होता रहता है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

परः, तस्मात्, तु, भावः, अन्यः, अव्यक्तः, अव्यक्तात्, सनातनः,
यः, सः, सर्वेषु, भूतेषु, नश्यत्सु, न, विनश्यति ॥ २० ॥

(तु) परन्तु (तस्मात्) उस (अव्यक्तात्) परिवर्तनशील, सूक्ष्म कारण प्रकृति से भी (परः) परे, उसका आधार (यः) जो (अन्यः) दूसरा (सनातनः) सदा एकसा बना रहने वाला (अव्यक्तः) अत्यन्त सूक्ष्म, अव्यक्त (भावः) भाव, अर्थात् सबका अपना आप = आत्मा अथवा परमात्मा है, (सः) वह (सर्वेषु) सब (भूतेषु) भूत प्राणियों अर्थात् विश्व के (नश्यत्सु) नष्ट होने पर भी (न विनश्यति) नष्ट नहीं होता।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

अव्यक्तः, अक्षर, इति, उक्तः, तम, आहुः, परमाम्, गतिम्,
यम्, प्राप्य, न, निवर्तन्ते, तत्, धाम, परमम्, मम ॥ २१ ॥

(तम्) उसको (अव्यक्तः) अव्यक्त और (अक्षरः) अक्षर, (इति) ऐसे (उक्तः) कहा गया है, उसीको (परमाम्) परम (गतिम्) गति भी (आहुः) कहते हैं; (यम्) जिस परमात्म भाव को (प्राप्य) प्राप्त होने वाले (न निवर्तन्ते) फिर परवशता से जन्म-मरण के चक्कर में पीछे नहीं आते; (तत्) वह (मम) मेरा (परमम्) परम (धाम) धाम है, अर्थात् मेरे सर्वात्मभाव की स्थिति है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

पुरुषः, सः, परः, पार्थ, भक्त्या, लभ्यः, तु, अनन्यया,
यस्य, अन्तःस्थानि, भूतानि, येन, सर्वम्, इदम्, ततम् ॥ २२ ॥

(यस्य) जिसके (अन्तःस्थानि) अन्तर्गत (भूतानि) सब भूत प्राणी, अर्थात्

सारा विश्व है; और (येन) जिससे (इदम्) यह (सर्वम्) सारा विश्व (ततम्) व्याप्त है, अर्थात् परिपूर्ण हो रहा है; (पार्थ) हे पार्थ! (स.) वह (पर.) परम (पुरुष) पुरुष (तु) तो (अनन्यया) सबकी एकता के प्रेम रूप अनन्य भाव की (भक्त्या) भक्ति से ही (लभ्यः) प्राप्त होता है।

सगति—मरने के बाद मनुष्य की क्या गति होती है, इस विषय का विज्ञान कहकर, उसीके सम्बन्ध में १७ से १९ श्लोकों तक भगवान् विश्व की उत्पत्ति और प्रलय का विज्ञान कहते हैं, कि समष्टि इच्छा अर्थात् सकल्प रूप प्रकृति अथवा ब्रह्मा मे, जब विश्व की रचना का स्फुरण होता है, तब यह ससार मनोमय अव्यक्त भाव अर्थात् सूक्ष्म भाव से, व्यक्त अर्थात् स्थूलभाव मे प्रकट होता है। और जब वह स्फुरण बन्द हो जाता है, तब यह ससार पीछा ही अव्यक्त सूक्ष्म-भाव मे लय हो जाता है। समष्टि सकल्प का फुरना और बन्द होना ही विश्व की उत्पत्ति और प्रलय है। इनको ही ब्रह्मा के दिन और रात का रूपक बांधकर सम-झाया गया है। काल विज्ञान के विशेषज्ञों ने गणित के आधार पर निश्चय किया है कि एक हजार युगो की चौकडी का ब्रह्मा का उक्त दिन और एक हजार युगों की चौकडी की ब्रह्मा की उक्त रात होती है, इस स्थूल जगत के अर्थात् मनुष्यो के इतने काल तक समष्टि सकल्प रूप प्रकृति का फुरना और बन्द रहना होता है। ब्रह्मा, प्रकृति आदि समष्टि सकल्प के ही अनेक नाम है।

फिर २० से २२ श्लोकों तक भगवान कहते हैं कि उक्त समष्टि सकल्प रूप, अव्यक्त प्रकृति से भी परे, उसका मूल आधार, उससे भी अत्यन्त अव्यक्त, अर्थात् मन-बुद्धि की पहुँच से भी परे का जो भाव है, वह एक, अद्वैत और सम होने के कारण उत्पत्ति-नाश अर्थात् फुरण-अफुरण आदि द्वन्द्वो से रहित निर्विकारी है। वह स्वमहिमा मे सदा-सर्वदा ज्यो-का-त्यो बना रहता है। वही परम गति और मेरा परम धाम कहा जाता है, जिस परम स्थिति को प्राप्त करके मनुष्य फिर परवशता से आवागमन के चक्कर से छूट जाता है। उसी परम पुरुष के सकल्प मे सारी सृष्टि का कल्पित बनाव है, और वह पद सारे विश्व की एकता के निश्चय से, सबके साथ प्रेम का बर्ताव करने रूप अनन्य भाव की भक्ति से प्राप्त होता है।

यत्रकालेत्वनावृत्तिमावृत्ति चैव योगिन.।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

यत्र, काले, तु, अनावृत्तिम्, आवृत्तिम्, च, एव, योगिन,
प्रयाता, यान्ति, तम्, कालम्, वक्ष्यामि, भरतर्षभ ॥ २३ ॥

(तु) और (भरतर्षभ) हे अर्जुन! (यत्र) जिस (काले) काल मे (प्रयाता)

शरीर त्यागकर गये हुए (योगिनः) योगी जन, (अनावृत्तिम्) पीछा न आनेवाली गति को, (च) और (आवृत्तिम्) पीछा आने वाली गति को (यान्ति) प्राप्त होते हैं, (तम्) उस (कालम्) काल को (एव) भी (वक्ष्यामि) कहता हूँ।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

अग्निः, ज्योतिः, अहः, शुक्लः, षण्मासाः, उत्तरायणम्,
तत्र, प्रयाता, गच्छन्ति, ब्रह्म, ब्रह्मविदः, जनाः ॥ २४ ॥

(अग्निः) अग्नि, (ज्योतिः) प्रकाश, (अहः) दिन, (शुक्लः) शुक्ल पक्ष, (षण्मासाः उत्तरायणम्) उत्तरायण के छः महीने, (तत्र) उस काल में (प्रयाता) मरकर गए हुए (ब्रह्मविदः) ब्रह्म को परोक्ष रूप से, अपने से अलग जानने वाले (जनाः) लोग (ब्रह्म) ब्रह्म को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं।

धूमोरात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

धूमः, रात्रिः, तथा, कृष्णः, षण्मासाः, दक्षिणायनम्,
तत्र, चान्द्रमसम्, ज्योतिः, योगी, प्राप्य, निवर्तते ॥ २५ ॥

(धूमः) धुआँ, (रात्रिः) रात, (कृष्णः) कृष्णपक्ष, (तथा) तथा (षण्मासाः दक्षिणायनम्) दक्षिणायन के छः महीने, (तत्र) उस काल में मरकर गया हुआ (योगी) सकाम कर्मकाण्डी योगी, (चान्द्रमसम्) चन्द्रमा की (ज्योतिः) ज्योति को (प्राप्य) प्राप्त होकर (निवर्तते) पीछा आता है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥

शुक्लकृष्णे, गती, हि, एते, जगतः, शाश्वते, मते,
एकया, याति, अनावृत्तिम्, अन्यया, आवर्तते, पुनः ॥ २६ ॥

(हि) इस तरह (जगतः) जगत की (एते) ये दो प्रकार की, (शुक्लकृष्णे) शुक्ल और कृष्ण (गती) गतियाँ (शाश्वते) सदा से (मते) मानी गई हैं; (एकया) एक से, मनुष्य (अनावृत्तिम्) पीछा न आने वाली गति को (याति) प्राप्त होता है, (अन्यया) दूसरी से (पुनः) पीछा (आवर्तते) लौटता है।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

न, एते, सृती, पार्थ, जानन्, योगी, मुह्यति, कश्चन,
तस्मात्, सर्वेषु, कालेषु, योगयुक्त:, भव, अर्जुन ॥ २७ ॥

(पार्थ) हे अर्जुन ! (एते) इन दोनों (सृती) गतियों की मान्यताओं को (जानन्) तथ्यहीन जानकर, (कश्चन) कोई भी (योगी) समत्व-योगी (न मुह्यति) मोहित नहीं होता, अर्थात् इनके भ्रम मे नहीं पडता। (तस्मात्) इसलिए (अर्जुन) हे अर्जुन ! तू (सर्वेषु) सब (कालेषु) काल मे, अर्थात् सदा-सर्वदा (योगयुक्त) समत्व-योग से युक्त (भव) रह।

वेदेषु यज्ञेषु तप:सु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ।२८।

वेदेषु, यज्ञेषु, तप:सु, च, एव, दानेषु, यत्, पुण्यफलम्
प्रदिष्टम्, अत्येति, तत्, सर्वम्, इदम्, विदित्वा, योगी,
परम्, स्थानम्, उपैति, च, आद्यम् ॥ २८ ॥

(इदम्) इस ज्ञान-विज्ञान के रहस्य को (विदित्वा) जानकर (योगी) समत्व-योगी, (वेदेषु) वेदाध्ययन, (यज्ञेषु) यज्ञानुष्ठान, (तप:सु) तप, (च) और (दानेषु) दानादि करने मे (यत्) जो (पुण्यफलम्) पुण्य फल (प्रदिष्टम्) शास्त्रो मे बतलाया है, (तत्) उस (सर्वम्) सबको (एव) ही (अत्येति) उल्लघन कर जाता है, अर्थात् पीछे छोड देता है, उनकी इच्छा नही करता है; (च) और (आद्यम्) सनातन (परम्) परम (स्थानम्) पद परमात्मभाव को (उपैति) प्राप्त कर लेता है।

संगति—इस अध्याय मे भगवान् ने पहले मरने के बाद की गति का युक्तिसगत, यथार्थ तात्त्विक विज्ञान कहकर, श्लोक २३ से २६ तक मे भेदवाद के शास्त्रो मे वर्णित, शुक्ल और कृष्ण दो गतियो की, अथवा उत्तरायण और दक्षिणायन के दो मार्गों की, जगत मे प्रचलित अन्ध परम्परा की मान्यताओ का उल्लेख किया। फिर श्लोक २७-२८ मे उपर्युक्त दोनो गतियो की मान्यताओ का खण्डन करते हुए, अर्जुन को कहते हैं कि समत्व-योगी इन दोनो गतियो के वर्णनों को तथ्यहीन समझकर इनके भ्रमजाल मे नहीं पडता। क्योकि ये गतियाँ शास्त्रो मे बताये हुए वेद पाठ, यज्ञादिक कर्मकाण्ड, तपश्चर्या तथा दान-पुण्य के फल से मिलने वाली मानी जाती हैं, परन्तु समत्व-योगी इन सबसे ऊपर उठ जाता है। वह इन कर्मकाण्डो के फल को तुच्छ समझता है। वह तो समत्व-योग मे लगा रहकर अपने आत्मानुभव के परमानन्द मे निमग्न रहता है। इन दो गतियो का उल्लेख केवल इनके खण्डन करने के लिए किया गया है ताकि लोग इन अन्धविश्वासो से पथभ्रष्ट होकर अपने सच्चे पुरुषार्थ समत्व योग से विचलित न हो जायँ।

॥ आठवा अध्याय समाप्त ॥

अथ नवमोऽध्यायः

श्री भगवान उवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वामोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

इदम्, तु, ते, गुह्यतमम्, प्रवक्ष्यामि, अनसूयवे, ज्ञानम्,
विज्ञानसहितम्, यत्, ज्ञात्वा, मोक्ष्यसे, अशुभात् ॥ १ ॥

श्री भगवान् बोले कि—

(तु) अब, (अनसूयवे) दोष दृष्टि से रहित (ते) तुझे, मैं (इदम्) यह (गुह्यतमम्) सबसे अधिक गुह्य, अर्थात् अत्यन्त गहन एवं सूक्ष्म रहस्यमय, (विज्ञानसहितम्) जगत के बनाव के आधिभौतिक और आधिदैविक विज्ञान सहित (ज्ञानम्) अध्यात्म ज्ञान (प्रवक्ष्यामि) बतलाता हूं, (यत्) जिसे (ज्ञात्वा) जानकर तूं (अशुभात्) अशुभ मोह से (मोक्ष्यसे) मुक्त हो जायगा।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

राजविद्या, राजगुह्यम्, पवित्रम्, इदम्, उत्तमम्,
प्रत्यक्षावगमम्, धर्म्यम्, सुसुखम्, कुर्तुम्, अव्ययम् ॥ २ ॥

(इदम्) यह, विज्ञान सहित ज्ञान, अर्थात् व्यावहारिक आत्मज्ञान (राजविद्या) सब विद्याओं का राजा, अर्थात् सब विद्याओं का मूल आश्रय सार्वजनिक ब्रह्म विद्या है, अथवा राजाओं की विद्या है; (राजगुह्यम्) सबसे अधिक सूक्ष्म, गहन और गम्भीर रहस्य; (पवित्रम्) पवित्र, अर्थात द्वैत भाव के मेल से रहित शुद्ध; (उत्तमम्) सर्वश्रेष्ठ; (प्रत्यक्षावगमम्) प्रत्यक्ष-परिणाम वाला, अर्थात् अपने आपके आनन्द का प्रत्यक्ष बोध कराने वाला; (धर्म्यम्) धर्म रूप, अर्थात् सब धर्मों का मूल आधार; (कुर्तुम्) आचरण करने में (सुसुखम्) सुख साध्य अर्थात् बहुत ही सहज और (अव्ययम्) अविनाशी है।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

अश्रद्दधाना, पुरुषा, धर्मस्य, अस्य, परंतप,
अप्राप्य, माम्, निवर्तन्ते, मृत्युससारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

(परंतप) हे परंतप ! (अस्य) इस व्यावहारिक आत्म ज्ञान रूप (धर्मस्य) धर्म मे (अश्रद्दधाना) श्रद्धा न रखने वाले (पुरुषा) मनुष्य (माम्) मुझको (अप्राप्य) प्राप्त न होकर (मृत्युससार वर्त्मनि) मृत्यु रूप ससार चक्र मे (निवर्तन्ते) निरन्तर घूमते रहते हैं।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

मया, ततम्, इदम्, सर्वम्, जगत्, अव्यक्तमूर्तिना,
मत्स्थानि, सर्वभूतानि, न, च, अहम्, तेषु, अवस्थित. ॥ ४ ॥

(मया) मेरे, (अव्यक्त मूर्तिना) इन्द्रियो के अगोचर, अध्यात्म भाव मे (इदम्) यह (सर्वम्) सम्पूर्ण आधिभौतिक और आधिदैविक (जगत्) जगत् (ततम्) ओतप्रोत अर्थात् परिपूर्ण है, (च) और (सर्वभूतानि) सब भूत प्राणी (मत्स्थानि) मेरे समष्टि सकल्प मे स्थित हैं, परन्तु (अहम्) मैं, सबका अन्तर आत्मा (तेषु) उनमे (न अवस्थितः) अवस्थित नही हूँ, अर्थात् उनमे रुका हुआ अथवा परिमित नही हूँ किन्तु अपार, अलिप्त और अविकारी हूँ।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्,
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावन ॥ ५ ॥

न, च, मत्स्थानि, भूतानि, पश्य, मे, योगम्, ऐश्वरम्,
भूतभृत्, न, च, भूतस्थ, मम, आत्मा, भूतभावनः ॥ ५ ॥

(च) और ये (भूतानि) सब भूत प्राणी, अर्थात् जगत भी (मत्स्थानि) मुझ से अभिन्न, मेरे ही सकल्प का कल्पित दृश्य मात्र होने के कारण, वस्तुतः मुझ मे स्थित (न) नही है, (मे) मेरे, (योगम्) एक मे अनेक नाम रूपो का कल्पित दृश्य, और अनेक नाम रूपों के बनाव मे एक आत्मा की एकता के योग का (ऐश्वरम्) अद्भुत कौशल (पश्य) देख, अर्थात् एक, सम, अविकारी एव अव्यक्त आत्मा मे अनेक, विषम, विकारी, नाशवान कल्पित जगत प्रपच के व्यक्त होने का आश्चर्यजनक खेल देख, कि (मम) मेरा (आत्मा) आत्मा (भूतभावन) सारी भौतिक सृष्टि को अपने सकल्प मे उत्पन्न करने वाला, (च) और (भूतभृत्) सारे भौतिक जगत का आधार होकर भी, (भूतस्थः न) उस भौतिक प्रपच मे स्थित नही है, अर्थात् उनसे परिमित और लिप्त नही है।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ।। ६ ।।

यथा, आकाशस्थितः, नित्यम्, वायुः, सर्वत्रगः महान्,
तथा, सर्वाणि, भूतानि, मत्स्थानि, इति, उपधारय ।। ६ ।।

(**यथा**) जिस तरह (**सर्वत्रगः**) सब तरफ चलने वाला (**महान्**) महान (**वायुः**) वायु (**नित्यम्**) सदा (**आकाशस्थितः**) आकाश में स्थित रहता है, परन्तु उससे सर्वव्यापी आकाश में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, वह सदा एक-सा निर्मल, निर्लिप्त एवं असीम बना रहता है; (**तथा**) उसी तरह (**सर्वाणि भूतानि**) सब भूत प्राणी अर्थात् सारा भौतिक जगत (**मत्स्थानि**) मुझमें स्थित है; (**इति**) ऐसा (**उपधारय**) समझ, अर्थात् जगत के नाना प्रकार के बनाव बनते और बिगड़ते रहने पर भी मैं सर्वात्मा आकाश की तरह निर्विकार, निर्लिप्त, अपरिमित एवं सम बना रहता हूँ।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।। ७ ।।

सर्वभूतानि, कौन्तेय, प्रकृतिम्, यान्ति, मामिकाम्,
कल्पक्षये, पुनः, तानि, कल्पादौ, विसृजामि, अहम् ।। ७ ।।

(**कौन्तेय**) हे अर्जुन ! (**कल्पक्षये**) कल्प के अन्त में, अर्थात् मेरे समष्टि संकल्प के लय होने पर, (**सर्वभूतानि**) सब भूत-प्राणी अर्थात् सारा भौतिक जगत, (**मामिकाम्**) मेरी (**प्रकृतिम्**) इच्छा अथवा संकल्प रूप प्रकृति में (**यान्ति**) विलीन हो जाता है; (**कल्पादौ**) कल्प के आदि में, अर्थात् मेरे समष्टि संकल्प के फुरने पर, (**तानि**) उनको (**अहम्**) मैं (**पुनः**) फिर से, अपनी कल्पना में (**विसृजामि**) रचता हूँ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।। ८ ।।

प्रकृतिम्, स्वाम्, अवष्टभ्य, विसृजामि, पुनः, पुनः,
भूतग्रामम्, इमम्, कृत्स्नम्, अवशम्, प्रकृतेः, वशात् ।। ८ ।।

(**स्वाम्**) अपनी (**प्रकृतिम्**) इच्छा अथवा संकल्प रूप प्रकृति का (**अवष्टभ्य**) अवलम्बन करके, अर्थात् प्रकृति के साधन द्वारा, (**प्रकृतेः**) प्रकृति के अटल नियमों के (**वशात्**) वश में, (**अवशम्**) उनके आधीन हुए (**इमम्**) इस (**कृत्स्नम्**) सम्पूर्ण (**भूतग्रामम्**) भूत-प्राणियों के समुदाय रूप जगत को, मैं (**पुनः**

पुन.) बार-बार (विसृजामि) रचता हूँ।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

न, च, माम्, तानि, कर्माणि, निबध्नन्ति, धनजय,
उदासीनवत्, आसीनम्, असक्तम्, तेषु, कर्मसु ॥ ९ ॥

(च) और (धनजय) हे अर्जुन ! (तेषु) उन, सृष्टि रचना और सहार आदि के खेल रूप (कर्मसु) कर्मों मे, (उदासीनवत्) उदासीन की तरह, अर्थात् खिलाड़ी की तरह, (असक्तम्) आसक्ति रहित (आसीनम्) रहने वाले (माम्) मुझ परमात्मा को, (तानि) वे उत्पत्ति और लय के (कर्माणि) कर्म (न) नही (निबध्नन्ति) बांधते।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

मया, अध्यक्षेण, प्रकृतिः, सूयते, सचराचरम्,
हेतुना, अनेन, कौन्तेय, जगत्, विपरिवर्तते ॥ १० ॥

(कौन्तेय) हे अर्जुन ! (मया) मेरी (अध्यक्षेण) अध्यक्षता, अर्थात् मेरी सत्ता से, (प्रकृति) मेरी इच्छा रूप परिवर्तनशील प्रकृति, (सचराचरम्) इस स्थावर-जगम रूप जगत को (सूयते) प्रसव करने का खेल करती है, (अनेन) इसी (हेतुना) कारण से (जगत्) यह ससार (विपरिवर्तते) विविध प्रकार से परिवर्तित होता रहता है, अर्थात् बनता, बिगड़ता और बदलता रहता है।

संगति—सातवें अध्याय मे भगवान् ने भक्ति का प्रकरण आरम्भ करके, उस भक्ति का यथार्थ रूप समझाने के लिए, अपनी सर्वरूपता के विज्ञान सहित ज्ञान, अर्थात् जगत की रचना के आधिभौतिक और आधिदैविक विज्ञान सहित आध्यात्मिक ज्ञान का वर्णन किया। अब इस नवमे अध्याय मे भगवान् उसी विज्ञान सहित ज्ञान की ब्रह्मविद्या, अर्थात् व्यावहारिक आत्मज्ञान का माहात्म्य कहकर, उसका सूक्ष्म रहस्य समझाते है, और कहते हैं कि इस रहस्य को जानकर आचरण करना ही मेरी सच्ची भक्ति है। इसीसे मनुष्य मोह के बन्धनो से छूटकर जन्म-मरण रूप ससार चक्र से मुक्त हो सकता है। परन्तु जो लोग इस ब्रह्मविद्या मे श्रद्धा नही रखते, वे जन्म-मरण रूप ससार चक्र मे भटकते रहते है।

श्री भगवान् कहते हैं कि यह व्यावहारिक आत्मज्ञान राजविद्या अर्थात् सब विद्याओं का मूलाधार और सार्वजनिक ब्रह्मविद्या है। इसमे बिना किसी प्रकार के भेदभाव के सबका एक समान अधिकार है। यह अत्यन्त सूक्ष्म और गहरे

विचार का विषय होते हुए भी इसका आचरण करने में किसी प्रकार का कष्ट, बाधा और क्लेश नहीं होता किन्तु यह सहज और स्वाभाविक है। इसके आचरण से सबकी एकता के आत्मानुभव का आनन्द उसी क्षण प्राप्त होता है; किसी विशेष समय, स्थान या वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती; न उस आनन्द का कभी नाश ही होता है। इसलिए यह ब्रह्मविद्या सबसे उत्तम, पवित्र और धर्म रूप है।

इस ब्रह्मविद्या का सूक्ष्म रहस्य यह है, कि सबके अन्दर 'मैं' रूप से रहनेवाला सबका अपना आप=आत्मा-परमात्मा अपनी मर्जी से, अपनी इच्छा रूप प्रकृति के द्वारा विश्व रूप धारण करता है, और आप ही नाना प्रकार के बनाव करता और समेटता है; परन्तु अनन्त प्रकार के बनावों के रूप करता हुआ भी, वह किसी भी बनाव या रूप में रुका हुआ, बंधा हुआ अथवा परिमित नहीं होता, किन्तु सदा अलिप्त, निर्विकार और शुद्ध रहता है। जिस तरह आकाश में हवा के बादल, बगूले, तूफान आदि होते और मिटते रहते हैं, परन्तु आकाश सब दशाओं में निर्लेप और निर्विकार रहता है। हवा के विकारों के होने और मिटने से उसमें कोई अन्तर नहीं आता, होने और मिटने के परस्पर विरोधी क्रिया-प्रतिक्रिया रूप द्वन्द्व भाव, आपस में मिलकर और एक-दूसरे से कटकर शान्त हो जाते हैं; उसी तरह सबके अपने आप, सबके आत्मा-परमात्मा में, जगत के द्वन्द्वात्मक बनाव, क्रिया-प्रतिक्रिया रूप से बनते और मिटते रहते हैं। उनसे आत्मा में कोई विकार नहीं होता; वह ज्यों-का-त्यों एकसार और सम बना रहता है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

अवजानन्ति, माम्, मूढाः, मानुषीम्, तनुम्, आश्रितम्,
परम्, भावम्, अजानन्तः, मम, भूतमहेश्वरम् ॥११॥

(मूढाः) मूर्ख लोग, (मम) मेरे ऊपर कहे हुए, (भूतमहेश्वरम्) विश्व के महान ईश्वर स्वरूप, (परम्) सबसे परे के, अर्थात् प्रकृति के स्वामी, उसके गुणों के परे—अपरिमित (भावम्) भाव को (अजानन्तः) न जानते हुए, मुझे, (मानुषीम्) मनुष्य (तनुम्) शरीर के (आश्रितम्) आश्रित, अर्थात् परिमित मानकर (माम्) मेरा (अवजानन्ति) तिरस्कार करते हैं।

अर्थात् मुझे जन्म, मरण, भूख, प्यास, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, हर्ष, शोक आदि विकारों और द्वन्द्वों से युक्त मानकर, विशेष गुणों, विशेष रूपों और विशेष स्थानों में सीमाबद्ध करके, चाटुकारिता और लौकिक पदार्थों की भेंट-पूजा आदि से रीझने की तुच्छ मानवीय दुर्बलताओं का मुझ में

दोषारोपण करते है।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

मोघाशा, मोघकर्माण, मोघज्ञाना, विचेतस,
राक्षसीम्, आसुरीम्, च, एव, प्रकृतिम्, मोहिनीम्, श्रिताः ॥१२॥

(मोघाशाः) वे वृथा आशाएं रखनेवाले, (मोघकर्माण) वृथा कर्म करनेवाले, तथा (मोघज्ञाना) मिथ्या ज्ञानवाले, (विचेतस) भ्रष्ट चित्त के लोग, (मोहिनीम्) मोहात्मक (राक्षसीम्) राक्षसी (च) और (आसुरीम्) आसुरी (प्रकृतिम्) प्रकृति अर्थात् स्वभाव का (एव) ही (श्रिता) अवलम्बन किये रहते है।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

महात्मान, तु, माम्, पार्थ, दैवीम्, प्रकृतिम्, आश्रिताः,
भजन्ति, अनन्य, मनसः, ज्ञात्वा, भूतादिम्, अव्ययम् ॥१३॥

(तु) परन्तु (पार्थ) हे पार्थ! (दैवीम्) दैवी (प्रकृतिम्) प्रकृति का (आश्रिता) अवलम्बन करनेवाले (महात्मान) महात्मा लोग, अर्थात् विवेकशील सज्जन पुरुष, (माम्) मुझको (भूतादिम्) विश्व का आदि, (अव्ययम्) देह के सब विकारो से रहित (ज्ञात्वा) जानकर (अनन्य-मनस) अनन्य भाव से, मेरी (भजन्ति) अभेद उपासना करते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

सततम्, कीर्तयन्त, माम्, यतन्तः, च, दृढव्रता,
नमस्यन्तः, च, माम्, भक्त्या, नित्ययुक्ता, उपासते ॥१४॥

(यतन्त) यत्नपूर्वक (दृढव्रताः) अटल नियम में दृढ रहकर, (सततम्) सदा मेरे सर्वात्मभाव का (कीर्तयन्त) कीर्तन करते हुए, (च) और (माम्) मुझ सर्वात्मा को (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (नमस्यन्त) नमस्कार करते हुए, अर्थात् सबको मेरा व्यक्तरूप समझकर सबके साथ नम्रता का बर्ताव करते हुए, (च) और (नित्ययुक्ता) सदा एकता के भाव मे मन लगाकर (माम् उपासते) मेरी अभेद उपासना करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५॥

ज्ञानयज्ञेन, च, अपि, अन्ये, यजन्तः, माम्, उपासते,

एकत्वेन, पृथक्त्वेन, बहुधा, विश्वतोमुखम् ।। १५ ।।

(च) और (अन्ये) दूसरे लोग, (एकत्वेन) एकता के भाव से, अथवा (पृथ-) क्त्वेन) पृथकता के भाव से, (बहुधा) बहुत प्रकार से (अपि) भी, (माम्) मुझ (विश्वतोमुखम्) विश्व रूपधारी परमात्मा की, (ज्ञानयज्ञेन) ज्ञान यज्ञ के द्वारा (यजन्तः) यजन करते हुए (उपासते) उपासना किया करते हैं।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।

मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ।। १६ ।।

अहम्, क्रतुः, अहम्, यज्ञः, स्वधा, अहम्, अहम्, औषधम्,

मन्त्रः, अहम्, अहम, एव, आज्यम्, अहम्, अग्निः, अहम् हुतम् ।। १६ ।।

(क्रतुः) श्रुतियों में वर्णित श्रौत कर्म (अहम्) मैं हूं, (यज्ञः) स्मृतियों में वर्णित स्मार्त कर्म (अहम्) मैं हूँ, (स्वधा) पितरों के निमित्त दिया जाने वाला अन्न (अहम्) मैं हूं, (औषधम्) वनस्पतियाँ (अहम्) मैं हूं,(मन्त्रः) मंत्र (अहम्) मैं हूं, (आज्यम्) घृत (अहम्) मैं हूं,(अग्निः) अग्नि (अहम्) मैं हूं, और (हुतम्) होम में दी जाने वाली आहुति (अहम्) मैं (एव) ही हूँ।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।

वेद्यं पवित्रमोंकारः ऋक्साम यजुरेव च ।। १७ ।।

पिता, अहम्, अस्य, जगतः, माता, धाता, पितामहः,

वेद्यम्, पवित्रम्, ओंकारः, ऋक्, साम, यजुः, एव, च ।। १७ ।।

(अस्य) इस (जगतः) जगत का (पिता) पिता अर्थात् पुरुष रूप क्षेत्रज्ञ, (माता) माता अर्थात् प्रकृति रूप क्षेत्र, (धाता) धारण करने वाला धाता, (पितामहः) दादा अर्थात् पुरुषोत्तम अथवा परमात्मा, (वेद्यम्) जानने योग्य, (पवित्रम्) पवित्र, (ओंकारः) ओंकार, (ऋक्) ऋग्वेद, (साम) सामवेद (च) और (यजुः) यजुर्वेद (अहम्) मैं (एव) ही हूं।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ।। १८ ।।

गतिः, भर्ता, प्रभुः, साक्षी, निवासः, शरणम्, सुहृत्,

प्रभवः, प्रलयः, स्थानम्, निधानम्, बीजम्, अव्ययम् ।। १८ ।।

(गतिः) गति अर्थात् क्रियाशीलता, (भर्ता) सबका पोषक, (प्रभुः) स्वामी, (साक्षी) द्रष्टा, (निवासः) आश्रय, (शरणम्) रक्षक, (सुहृत्) सबका अत्यन्त

दोषारोपण करते हैं।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

मोघाशा, मोघकर्माण, मोघज्ञानाः, विचेतस,
राक्षसीम्, आसुरीम्, च, एव, प्रकृतिम्, मोहिनीम्, श्रिता ॥१२॥

(मोघाशाः) वे वृथा आशाएं रखनेवाले, (मोघकर्माण) वृथा कर्म करनेवाले, तथा (मोघज्ञाना.) मिथ्या ज्ञानवाले, (विचेतस.) भ्रष्ट चित्त के लोग, (मोहिनीम्) मोहात्मक (राक्षसीम्) राक्षसी (च) और (आसुरीम्) आसुरी (प्रकृतिम्) प्रकृति अर्थात् स्वभाव का (एव) ही (श्रिता) अवलम्बन किये रहते हैं।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

महात्मानः, तु, माम्, पार्थ, दैवीम्, प्रकृतिम्, आश्रिताः,
भजन्ति, अनन्य, मनसः, ज्ञात्वा, भूतादिम्, अव्ययम् ॥१३॥

(तु) परन्तु (पार्थ) हे पार्थ! (दैवीम्) दैवी (प्रकृतिम्) प्रकृति का (आश्रिताः) अवलम्बन करनेवाले (महात्मान) महात्मा लोग, अर्थात् विवेकशील सज्जन पुरुष, (माम्) मुझको (भूतादिम्) विश्व का आदि, (अव्ययम्) देह के सब विकारों से रहित (ज्ञात्वा) जानकर (अनन्य-मनस) अनन्य भाव से, मेरी (भजन्ति) अभेद उपासना करते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

सततम्, कीर्तयन्तः, माम्, यतन्तः, च, दृढव्रता.,
नमस्यन्तः, च, माम्, भक्त्या, नित्ययुक्ता, उपासते ॥१४॥

(यतन्त.) यत्नपूर्वक (दृढव्रताः) अटल नियम में दृढ़ रहकर, (सततम्) सदा मेरे सर्वात्मभाव का (कीर्तयन्त) कीर्तन करते हुए, (च) और (माम्) मुझ सर्वात्मा को (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (नमस्यन्त.) नमस्कार करते हुए, अर्थात् सबको मेरा व्यक्तरूप समझकर सबके साथ नम्रता का बर्ताव करते हुए, (च) और (नित्ययुक्ता) सदा एकता के भाव से मन लगाकर (माम् उपासते) मेरी अभेद उपासना करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

ज्ञानयज्ञेन, च, अपि, अन्ये, यजन्तः, माम्, उपासते,
एकत्वेन, पृथक्त्वेन, बहुधा, विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

(च) और (अन्ये) दूसरे लोग, (एकत्वेन) एकता के भाव से, अथवा (पृथ-क्त्वेन) पृथकता के भाव से, (बहुधा) बहुत प्रकार से (अपि) भी, (माम्) मुझ (विश्वतोमुखम्) विश्व रूपधारी परमात्मा की, (ज्ञानयज्ञेन) ज्ञान यज्ञ के द्वारा (यजन्तः) यजन करते हुए (उपासते) उपासना किया करते हैं।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

अहम्, क्रतुः, अहम्, यज्ञः, स्वधा, अहम्, अहम्, औषधम्,
मन्त्रः, अहम्, अहम, एव, आज्यम्, अहम्, अग्निः, अहम् हुतम् ॥ १६ ॥

(क्रतुः) श्रुतियों में वर्णित श्रौत कर्म (अहम्) मैं हूं, (यज्ञः) स्मृतियों में वर्णित स्मार्त कर्म (अहम्) मैं हूं, (स्वधा) पितरों के निमित्त दिया जाने वाला अन्न (अहम्) मैं हूं, (औषधम्) वनस्पतियाँ (अहम्) मैं हूं, (मन्त्रः) मंत्र (अहम्) मैं हूं, (आज्यम्) घृत (अहम्) मैं हूं, (अग्निः) अग्नि (अहम्) मैं हूं, और (हुतम्) होम में दी जाने वाली आहुति (अहम्) मैं (एव) ही हूं।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकारः ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

पिता, अहम्, अस्य, जगतः, माता, धाता, पितामहः,
वेद्यम्, पवित्रम्, ओंकारः, ऋक्, साम, यजुः, एव, च ॥ १७ ॥

(अस्य) इस (जगतः) जगत का (पिता) पिता अर्थात् पुरुष रूप क्षेत्रज्ञ, (माता) माता अर्थात् प्रकृति रूप क्षेत्र, (धाता) धारण करने वाला धाता, (पितामहः) दादा अर्थात् पुरुषोत्तम अथवा परमात्मा, (वेद्यम्) जानने योग्य, (पवित्रम्) पवित्र, (ओंकारः) ओंकार, (ऋक्) ऋग्वेद, (साम) सामवेद (च) और (यजुः) यजुर्वेद (अहम्) मैं (एव) ही हूँ।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

गतिः, भर्ता, प्रभुः, साक्षी, निवासः, शरणम्, सुहृत्,
प्रभवः, प्रलयः, स्थानम्, निधानम्, बीजम्, अव्ययम् ॥ १८ ॥

(गतिः) गति अर्थात् क्रियाशीलता, (भर्ता) सबका पोषक, (प्रभुः) स्वामी, (साक्षी) द्रष्टा, (निवासः) आश्रय, (शरणम्) रक्षक, (सुहृत्) सबका अत्यन्त

प्यारा, और (प्रभव) उत्पत्ति, (प्रलय) प्रलय, (स्थानम्) स्थिति (निधानम्) सबका अवसान, एवं (अव्ययम्) अविनाशी (बीजम्) कारण, मैं ही हूँ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

तपामि, अहम्, अहम्, वर्षम्, निगृह्णामि, उत्सृजामि, च,
अमृतम्, च, एव, मृत्युः, च, सत्, असत्, च, अहम्, अर्जुन ॥ १९ ॥

(अहम्) मैं (तपामि) तपता हूँ, (अहम्) मैं (वर्षम्) वर्षा को (निगृह्णामि) रोकता अर्थात् आकर्षण करता हूँ, (च) और (उत्सृजामि) बर्षाता हूँ (च) और (अर्जुन) हे अर्जुन! (अमृतम्) अमरता (च) और (मृत्यु) मृत्यु, (सत्) सत् (च) और (असत्) असत भी, सब कुछ (अहम्) मैं (एव) ही हूँ।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥

त्रैविद्याः, माम्, सोमपाः, पूतपापाः, यज्ञैः, इष्ट्वा, स्वर्गतिम्, प्रार्थयन्ते,
ते, पुण्यम् आसाद्य, सुरेन्द्रलोकम्, अश्नन्ति, दिव्यान्, दिवि, देवभोगान् ॥२०॥

(त्रैविद्या) तीनों, अर्थात् ऋक्, साम और यजु वेदों में विधान किये हुए कर्मकाण्ड करने वाले, (सोमपाः) सोम रस को पीने वाले, (पूतपापाः) निष्पाप लोग, (माम्) मुझको (यज्ञैः) यज्ञों के द्वारा (इष्ट्वा) पूजकर, (स्वर्गतिम्) स्वर्ग प्राप्ति की (प्रार्थयन्ते) प्रार्थना करते हैं; (ते) वे लोग (पुण्यम्) स्वर्गादि भोग प्राप्त करने के संस्कार उत्पन्न करने वाले अपने पुण्यों के फलस्वरूप, (सुरेन्द्रलोकम्) मानसिक इन्द्र लोक को (आसाद्य) प्राप्त होकर, (दिवि) स्वर्ग में (दिव्यान्) सूक्ष्म मानसिक (देवभोगान्) देवताओं के भोगों को (अश्नन्ति) भोगते हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

ते, तम्, भुक्त्वा, स्वर्गलोकम्, विशालम्, क्षीणे, पुण्ये, मर्त्यलोकम्, विशन्ति,
एवम्, त्रयीधर्मम्, अनुप्रपन्नाः, गतागतम्, कामकामाः, लभन्ते ॥ २१ ॥

(ते) वे लोग (तम्) उस (विशालम्) विशाल मानसिक (स्वर्गलोकम्) स्वर्ग लोक को (भुक्त्वा) भोगकर, (क्षीणे पुण्ये) पुण्य के संस्कार क्षय होने पर, (मर्त्यलोकम्) मृत्यु लोक में (विशन्ति) पीछे आते हैं; (एवम्) इस तरह (त्रयी-

धर्मम्) तीनों वेदों में वर्णन किये हुए यज्ञ-यागादिक कर्मकाण्ड रूप धर्म के (अनुप्रपन्ना) पालन करने वाले (कामकामाः) कामना परायण लोग, (गतागतम्) आवागमन को, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र को (लभन्ते) प्राप्त होते रहते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२॥

अन्यन्याः, चिन्तयन्तः, माम्, ये, जनाः, पर्युपासते,
तेषाम्, नित्याभियुक्तानाम्, योगक्षेमम्, वहामि, अहम् ॥ २२॥

(ये) परन्तु जो (जनाः) लोग (अनन्याः) एकता के भाव से (चिन्तयन्तः) मेरा चिन्तन करते हुए (माम्) मुझ, परमात्मा को (पर्युपासते) निष्काम भाव से भजते हैं, अर्थात् व्यक्तिगत स्वार्थ से रहित होकर लोकसंग्रह के लिए अपने कर्तव्य कर्म करने में लगे रहते हैं, (तेषाम्) उन (नित्याभियुक्तानाम्) सदा एकता के साम्य भाव में लगे रहने वालों के (योगक्षेमम्) अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा, (अहम्) मैं, सर्वात्मा (वहामि) किया करता हूँ, अर्थात् सबके साथ अपनी एकता के प्रेम का आचरण करने की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप, सब लोग उनके योग-क्षेम की पूर्ति में सहायक होते हैं।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

ये, अपि, अन्यदेवताः, भक्ताः, यजन्ते, श्रद्धया, अन्विताः,
ते, अपि, माम्, एव, कौन्तेय, यजन्ति, अविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

(ये) जो (भक्ताः) भेदवादी भक्त लोग (श्रद्धयान्विताः) श्रद्धा से युक्त होकर (अपि) भी (अन्यदेवताः) दूसरे देवताओं को (यजन्ते) पूजते हैं (ते) वे, राजसी तामसी श्रद्धा वाले (अपि) भी (कौन्तेय) हे अर्जुन! (अविधिपूर्वकम्) विधि हीन, अव्यवस्थित रीति से (माम्) मुझको (एव) ही (यजन्ति) पूजते हैं, अर्थात् उनका वह पूजना यथार्थ नहीं होता, किन्तु ऊपर कहे अनुसार मेरा तिरस्कार होता है।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

अहम्, हि, सर्वयज्ञानाम्, भोक्ता, च, प्रभुः, एव, च,
न, तु, माम्, अभिजानन्ति, तत्त्वेन, अतः, च्यवन्ति, ते ॥ ४ ॥

(हि) क्योंकि, यद्यपि (अहम्) सर्वात्मा होने के कारण, मैं (एव) ही

(सर्वयज्ञानाम्) सब यज्ञो का (भोक्ता) भोक्ता (च) और (प्रभु:) स्वामी (च) भी हूँ, (तु) परन्तु (ते) वे लोग (माम्) मुझे, अर्थात् मेरी सर्वरूपता के रहस्य को (तत्त्वेन) तत्त्व से (न) नही (अभिजानन्ति) जानते, अर्थात् मुझे विशेष गुणो और विकारो युक्त एक व्यक्ति विशेष मानते है, (अत.) इसलिए, वे भेद भक्ति करनेवाले लोग (च्यवन्ति) गिरते हैं, अर्थात् उनकी दुर्गति होती है।

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपिमाम् ॥ २५ ॥

यान्ति, देवव्रता, देवान्, पितॄन्, यान्ति, पितृव्रता,
भूतानि, यान्ति, भूतेज्या, यान्ति, मद्याजिन, अपि, माम् ॥ २५ ॥

(देवव्रता·) देवताओ के उपासक (देवान्) देवताओ को (यान्ति) प्राप्त होते हैं, (पितृव्रता) मरे हुए पितरो के उपासक (पितॄन्) उन पितरो को (यान्ति) प्राप्त होते है, (भूतेज्या) भौतिक जड पदार्थों के उपासक (भूतानि) भौतिक जडता को (यान्ति) प्राप्त होते हैं, और (मद्याजिनः) मेरे अनन्य भाव की उपासना करनेवाले भक्त, (माम् एव) मुझ सर्वात्मा को ही (यान्ति) प्राप्त होते है अर्थात् मेरे सर्वात्मभाव मे स्थित हो जाते है।

जिनकी जैसी भावना होती है, उसीके अनुसार उनकी गति होती है। उनके मन के सस्कार वैसे ही बनाव उत्पन्न कर देते है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन· ॥ २६ ॥

पत्रम्, पुष्पम्, फलम्, तोयम्, य:, मे, भक्त्या, प्रयच्छति,
तत्, अहम्, भक्त्युपहृतम्, अश्नामि, प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

(य) जो, अभेददर्शी भक्त, (मे) मेरे व्यक्तस्वरूप सब भूत-प्राणियों के लिए, (पत्रम्) पत्र, (पुष्पम्) पुष्प, (फलम्) फल, (तोयम्) जल आदि पदार्थों को (भक्त्या) अनन्य भाव की भक्तिपूर्वक, अर्थात् प्रेम से (प्रयच्छति) भेंट करता है, उस, (प्रयतात्मन.) सबके साथ प्रीति युक्त शुद्ध अन्त करण वाले का (भक्त्यु-पहृतम्) नि.स्वार्थ भाव से प्रेमपूर्वक भेट किया हुआ (तत्) वह पदार्थ (अहम्) मैं, सबका अन्तर्यामी (अश्नामि) बडे प्रेम से खाता हूँ।

अर्थात् सब भूत-प्राणी मेरे ही व्यक्त स्वरूप हैं, अत जिस शरीर की जैसी योग्यता होती है, उसके अनुसार जो कोई भौतिक शरीर वाले प्राणियो की भूख-प्यास आदि की आवश्यकताएँ प्रेमपूर्वक पूरी करने की सेवा करता है; वह, मेरे वे व्यक्त शरीर बहुत प्रेम से खाते हैं। यही मेरी सच्ची उपासना या अनन्य भाव

की भक्ति है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥

यत्, करोषि, यत्, अश्नासि, यत्, जुहोषि, ददासि, यत्,
यत्, तपस्यसि, कौन्तेय, तत्, कुरुष्व, मदर्पणम्॥ २७॥

(**यत्**) जो (**करोषि**) तूं करता है, (**यत्**) जो (**अश्नासि**) तूं खाता है, (**यत्**) जो (**जुहोषि**) हवन करता है, (**यत्**) जो (**ददासि**) देता है, (**यत्**) जो (**तपस्यसि**) तप करता है, (**कौन्तेय**) हे अर्जुन! (**तत्**) वह सब (**मदर्पणम्**) मेरे, सर्वात्मा के अर्पण (**कुरुष्व**) कर; अर्थात् शरीर से तूं जो कुछ करता है, उसमें यह ध्यान रख कि जो कुछ होता है, वह परमात्मा के व्यक्त स्वरूप सबके सहयोग से होता है, इसलिए उसमें सबका साझा है; अतः दूसरों की आवश्यकताएं यथायोग्य पूरी करने में सहयोग देते हुए अपनी पूरी कर।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ २८॥

शुभाशुभफलैः, एवम्, मोक्ष्यसे, कर्मबन्धनैः,
संन्यासयोगयुक्तात्मा, विमुक्तः, माम्, उपैष्यसि॥ २८॥

(**एवम्**) इस तरह (**संन्यासयोगयुक्तात्मा**) लोकसंग्रह के लिए कर्म करने रूप, मुझ सर्वात्मा को सब कुछ अपर्ण करने के संन्यासयोग में जुड़े हुए अन्तःकरण वाला तूं (**शुभाशुभफलैः**) शुभ और अशुभ फल रूप (**कर्मबन्धनैः**) कर्म बन्धन से (**मोक्ष्यसे**) छूट जायगा; और (**विमुक्तः**) विमुक्त होकर (**माम्**) मुझ सर्वात्मा को (**उपैष्यसि**) प्राप्त हो जायगा अर्थात् मेरे साथ एकता का अनुभव करेगा।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ २९॥

समः, अहम्, सर्वभूतेषु, न, मे, द्वेष्यः, अस्ति, न, प्रियः,
ये, भजन्ति, तु, माम्, भक्त्या, मयि, ते, तेषु, च, अपि, अहम्॥ २९॥

(**अहम्**) मैं, सबका आत्मा (**सर्वभूतेषु**) सब भूत-प्राणियों में (**समः**) एक समान हूं, (**न**) न कोई (**मे**) मेरे (**द्वेष्यः**) द्वेष करने योग्य अप्रिय (**अस्ति**) है, (**न**) न (**प्रियः**) प्रिय, (**तु**) परन्तु (**ये**) जो लोग (**माम्**) मुझ सर्वात्मा को (**भक्त्या**) एकता के प्रेम भाव से (**भजन्ति**) भजते हैं, अर्थात् मेरे व्यक्त स्वरूप सब लोगों के साथ एकता के प्रेम का वर्ताव करते हैं, (**ते**) वे (**मयि**) मुझ सर्वात्मा में स्थित हैं, (**च**) और (**अहम् अपि**) मैं भी (**तेषु**) उनमें हूं, अर्थात् वे मेरे

सर्वात्म भाव के साथ तादात्म्य का अनुभव करते है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

अपि, चेत्, सुदुराचार, भजते, माम्, अनन्यभाक्,
साधुः, एव, स., मन्तव्यः, सम्यक्, व्यवसित, हि, सः, ॥ ३० ॥

(चेत्) यदि कोई (सुदुराचार) ऊपरी स्थूल दृष्टि से, बड़ा दुराचारी या पापी (अपि) भी प्रतीत होता हो, पर (अनन्यभाक्) एकता के भाव से (माम्) मुझ सर्वात्मा को (भजते) भजता है, अर्थात् सबके साथ आन्तरिक प्रेम करता है, (स) वह (साधु) सदाचारी (एव) ही (मन्तव्यः) माने जाने के योग्य है, (हि) क्योंकि (स·) वह (सम्यक् व्यवसित) सबमे परमात्मा की एकता का यथार्थ निश्चय रखता है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

क्षिप्रम्, भवति, धर्मात्मा, शश्वत्, शान्तिम्, निगच्छति,
कौन्तेय, प्रति, जानीहि, न, मे, भक्त., प्रणश्यति ॥३१॥

(क्षिप्रम्) वह तत्काल ही (धर्मात्मा) धर्मात्मा, अर्थात् सदाचारी (भवति) होता है, और (शश्वत्) स्थायी (शान्तिम्) शान्ति को (निगच्छति) प्राप्त होता है। (कौन्तेय) हे अर्जुन ! (प्रतिजानीहि) यह अच्छी तरह निश्चय रख कि (मे) मेरा (भक्त.) अनन्यभक्त (न प्रणश्यति) कभी विनष्ट नही होता, अर्थात् सबके साथ एकता के अनुभव से बर्ताव करनेवाले प्रेमी भक्त की कभी दुर्गति नही होती।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परां गतिम् ॥३२॥

माम्, हि, पार्थ, व्यपाश्रित्य, ये, अपि, स्यु, पापयोनय,
स्त्रिय, वैश्याः, तथा, शूद्राः, ते, अपि, यान्ति, पराम्, गतिम् ॥३२॥

(पार्थ) हे अर्जुन ! (ये) जो (पापयोनय·) पाप कर्म का पेशा करने वाले लोगो के कुल मे उत्पन्न, तामसी प्रकृति के लोग (स्यु) हों, (ते) वे (अपि) भी; (तथा) तथा, रजोगुण-तमोगुण प्रधान शरीरधारी (स्त्रिय.) स्त्रिया, (वैश्याः) वैश्य और (शूद्रा.) शूद्र लोग (अपि) भी, (माम्) मेरा (व्यपाश्रित्य) उपरोक्त अनन्यभाव की भक्ति का अवलम्बन करने से, (हि) निश्चय ही (पराम्) परम (गतिम्) गति को (यान्ति) प्राप्त होते हैं।

किं पुनर्ब्राह्मणा पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

किम्, पुनः, ब्राह्मणाः, पुण्याः, भक्ताः, राजर्षयः, तथा,
अनित्यम्, असुखम्, लोकम्, इमम्, प्राप्य, भजस्व, मम् ॥३३॥

(**पुनः**) फिर, सत्त्वप्रधान, (**पुण्याः**) पुण्यवान् (**ब्राह्मणाः**) ब्राह्मणों (**तथा**) तथा (**भक्ताः**) अनन्यभाव की भक्ति करनेवाले (**राजर्षयः**) राजर्षियों, क्षत्रियों का (**किम्**) कहना ही क्या है; (**इमम्**) तू इस (**असुखम्**) असुख और (**अनित्यम्**) नाशवान् (**लोकम्**) मनुष्य शरीर को (**प्राप्य**) पाकर (**माम्**) मुझ सर्वात्मा को (**भजस्व**) अनन्यभाव से भज ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

मन्मनाः, भव, मद्भक्तः, मद्याजी, माम्, नमस्कुरु,
माम्, एव, एष्यसि, युक्त्वा, एवम्, आत्मानम्, मत्परायणः ॥३४॥

(**मन्मनाः भव**) मुझ सर्वात्मा के मनवाला हो, अर्थात् सब चराचर सृष्टि के एकत्व भाव में मन स्थिर कर; (**मद्भक्तः**) मेरा भक्त हो, अर्थात् मेरे व्यक्त स्वरूप विश्व के साथ प्रेम कर; (**मद्याजी**) मेरा यजन कर, अर्थात् मेरे विराट स्वरूप जगत के धारणार्थ अपनी योग्यता के कर्तव्यकर्म लोक संग्रह के लिए कर; (**माम्**) मुझ सर्वात्मा को (**नमस्कुरु**) नमस्कार कर, अर्थात् सबको मेरा व्यक्त स्वरूप समझ कर, सबके साथ विनीत भाव का वर्ताव कर; (**एवम्**) इस तरह (**मत्परायणः**) मेरे परायण हुआ (**आत्मानम्**) अपने-आपको (**युक्त्वा**) एकता के भाव में जोड़ देने से, तू (**माम्**) मुझको (**एव**) ही (**एष्यसि**) प्राप्त होगा, अर्थात् मेरे साथ तादात्म्य का अनुभव करेगा ।

संगति—अपनी सर्वव्यापकता के विज्ञानसहित ज्ञान की ब्रह्मविद्या का निरूपण करके, भगवान अपनी सर्वात्म-भाव की यथार्थ उपासना करनेवाले दैवी प्रकृति के सच्चे भक्तों का, और व्यक्तिभाव की उपासना करनेवाले भेदवादी आसुरी-राक्षसी प्रकृति के, सकामी झूठे भक्तों का वर्णन करते हैं । दैवी प्रकृति के विवेकी भक्त लोग, सबके अन्तरात्मा-परमात्मा के विश्व रूप धारण करने के रहस्य को हृदयंगम करके, सबके साथ अपनी एकता के अनन्य भाव से प्रेमयुक्त, अपनी-अपनी योग्यता के सब प्रकार के व्यवहार लोकसंग्रह के लिए, निःस्वार्थ भाव से करते हैं; और अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार चेतन प्राणियों को

सर्वात्म भाव के साथ तादात्म्य का अनुभव करते है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ३०॥

अपि, चेत्, सुदुराचार, भजते, माम्, अनन्यभाक्,
साधुः, एव, स, मन्तव्य, सम्यक्, व्यवसित, हि, सः, ॥ ३०॥

(चेत्) यदि कोई (सुदुराचार) ऊपरी स्थूल दृष्टि से, बडा दुराचारी या पापी (अपि) भी प्रतीत होता हो, पर (अनन्यभाक्) एकता के भाव से (माम्) मुझ सर्वात्मा को (भजते) भजता है, अर्थात् सबके साथ आंतरिक प्रेम करता है, (स) वह (साधु) सदाचारी (एव) ही (मन्तव्य) माने जाने के योग्य है, (हि) क्योंकि (स.) वह (सम्यक् व्यवसित) सबमे परमात्मा की एकता का यथार्थ निश्चय रखता है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥३१॥

क्षिप्रम्, भवति, धर्मात्मा, शश्वत्, शान्तिम्, निगच्छति,
कौन्तेय, प्रति, जानीहि, न, मे, भक्तः, प्रणश्यति॥३१॥

(क्षिप्रम्) वह तत्काल ही (धर्मात्मा) धर्मात्मा, अर्थात् सदाचारी (भवति) होता है, और (शश्वत्) स्थायी (शान्तिम्) शान्ति को (निगच्छति) प्राप्त होता है। (कौन्तेय) हे अर्जुन! (प्रतिजानीहि) यह अच्छी तरह निश्चय रख कि (मे) मेरा (भक्त) *अनन्यभक्त (न प्रणश्यति) कभी विनष्ट नहीं होता,* अर्थात् सबके साथ एकता के अनुभव से वर्ताव करनेवाले प्रेमी भक्त की कभी दुर्गति नही होती।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परां गतिम्॥३२॥

माम्, हि, पार्थ, व्यपाश्रित्य, ये, अपि, स्यु, पापयोनयः,
स्त्रिय, वैश्याः, तथा, शूद्राः, ते, अपि, यान्ति, पराम्, गतिम्॥३२॥

(पार्थ) हे अर्जुन! (ये) जो (पापयोनय.) पाप कर्म का पेशा करने वाले लोगो के कुल मे उत्पन्न, तामसी प्रकृति के लोग (स्यु) हो, (ते) वे (अपि) भी; (तथा) तथा, रजोगुण-तमोगुण प्रधान शरीरधारी (स्त्रिय) स्त्रिया, (वैश्या) वैश्य और (शूद्राः) शूद्र लोग [(अपि) भी, (माम्) मेरा (व्यपाश्रित्य) उपरोक्त अनन्यभाव की भक्ति का अवलम्बन करने से, (हि) निश्चय ही (पराम्) परम (गतिम्) गति को (यान्ति) प्राप्त होते हैं।

किं पुनर्ब्राह्मणा पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

किम्, पुनः, ब्राह्मणाः, पुण्याः, भक्ताः, राजर्षयः, तथा,
अनित्यम्, असुखम्, लोकम्, इमम्, प्राप्य, भजस्व, मम् ॥३३॥

(पुनः) फिर, सत्त्वप्रधान, (पुण्याः) पुण्यवान् (ब्राह्मणाः) ब्राह्मणों (तथा) तथा (भक्ताः) अनन्यभाव की भक्ति करनेवाले (राजर्षयः) राजर्षयों, क्षत्रियों का (किम्) कहना ही क्या है; (इमम्) तू इस (असुखम्) असुख और (अनित्यम्) नाशवान् (लोकम्) मनुष्य शरीर को (प्राप्य) पाकर (माम्) मुझ सर्वात्मा को (भजस्व) अनन्यभाव से भज ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

मन्मनाः, भव, मद्भक्तः, मद्याजी, माम्, नमस्कुरु,
माम्, एव, एष्यसि, युक्त्वा, एवम्, आत्मानम्, मत्परायणः ॥३४॥

(मन्मनाः भव) मुझ सर्वात्मा के मनवाला हो, अर्थात् सब चराचर सृष्टि के एकत्व भाव में मन स्थिर कर; (मद्भक्तः) मेरा भक्त हो, अर्थात् मेरे व्यक्त स्वरूप विश्व के साथ प्रेम कर; (मद्याजी) मेरा यजन कर, अर्थात् मेरे विराट स्वरूप जगत के धारणार्थ अपनी योग्यता के कर्तव्यकर्म लोक संग्रह के लिए कर; (माम्) मुझ सर्वात्मा को (नमस्कुरु) नमस्कार कर, अर्थात् सबको मेरा व्यक्त स्वरूप समझ कर, सबके साथ विनीत भाव का वर्ताव कर; (एवम्) इस तरह (मत्परायणः) मेरे परायण हुआ (आत्मानम्) अपने-आपको (युक्त्वा) एकता के भाव में जोड़ देने से, तू (माम्) मुझको (एव) ही (एष्यसि) प्राप्त होगा, अर्थात् मेरे साथ तादात्म्य का अनुभव करेगा ।

संगति—अपनी सर्वव्यापकता के विज्ञान सहित ज्ञान की ब्रह्मविद्या का निरूपण करके, भगवान अपनी सर्वात्म-भाव की यथार्थ उपासना करनेवाले दैवी प्रकृति के सच्चे भक्तों का, और व्यक्तिभाव की उपासना करनेवाले भेदवादी आसुरी-राक्षसी प्रकृति के, सकामी झूठे भक्तों का वर्णन करते हैं। दैवी प्रकृति के विवेकी भक्त लोग, सबके अन्तरात्मा-परमात्मा के विश्व रूप धारण करने के रहस्य को हृदयंगम करके, सबके साथ अपनी एकता के अनन्य भाव से प्रेमयुक्त, अपनी-अपनी योग्यता के सब प्रकार के व्यवहार लोकसंग्रह के लिए, निःस्वार्थ भाव से करते हैं; और अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार चेतन प्राणियों को

परमात्मा का ही रूप समझकर उनके शरीरों की आवश्यकताएँ पूरी करने मे सहायक होते हैं। भूखे-प्यासे प्राणियों को यदि पत्र, पुष्प, फल और जल से भी प्रेमपूर्वक, नि स्वार्थ भाव से सेवा की जाय तो उन चेतन प्राणियों का अन्त.करण उन साधारण पदार्थों को खा-पीकर भी तृप्त और प्रसन्न होता है (श्लोक २६)। सब प्राणियों मे परमात्मा का दर्शन करनेवाले दैवी प्रकृति के महापुरुष, इस तरह परमात्मा की भक्ति करते हुए परमानन्द मे मग्न रहते हैं। यही परमात्मा की सच्ची उपासना है (श्लोक १३ १४)। परन्तु जो राक्षसी-आसुरी प्रकृति के मूर्ख लोग, परमात्मा के स्वरूप के उपर्युक्त ज्ञान-विज्ञान का रहस्य नही समझते, वे लोग भक्ति का झूठा ढोंग और पाखण्ड करते है। वे लोग परमात्मा को मानव देहधारी एक व्यक्ति मानकर, उसमे मानवीय गुणों और विकारों के होने की कल्पना करते हैं। अपने कुकर्मों के दुष्परिणामो से बचने के लिए और सस्ता कल्याण अथवा मुक्ति प्राप्त करने के लिए, उसमे दयालु, कृपालु, करुणा सागर आदि गुणो का आरोप करते है। खुशामद, चाटुकारिता, स्तुतियो और प्रार्थनाओ तथा सासारिक पदार्थों की भेंट-पूजा एव उसके विशेष नामो की कल्पना करके, उनके जाप द्वारा उसको रिझाने की झूठी आशा करते है। अनादि, अनन्त, अपार, सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा को, वे लोग इस तरह विशेष देश, विशेष काल और विशेष व्यक्ति तथा विशेष गुणो मे सीमाबद्ध, एक तुच्छ व्यक्ति मानकर उसका तिरस्कार करते हैं और मानवीय विकारों और दुर्बलताओ का उस पर दोषारोपण करते हैं। उनका माना हुआ ईश्वर प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता, इसलिए वे उसको आकाश, समुद्र अर्थात् दूसरे अगम्य लोको मे रहने की कल्पना करते है और चापलूसी की स्तुतियों और प्रार्थनाओ को उसके कानो तक पहुँचाने का अन्ध विश्वास करते हैं। बहुत से लोगो को ऐसा करने मे सन्तोष नही होता, तब वे जड पदार्थो को उसका प्रतीक बनाते है और उन जड पदार्थों मे भी मानवीय गुणो और विकारो का आरोप करके मनुष्योचित विधि मे, सासारिक पदार्थों और सामग्रियों द्वारा उनकी उपासना और पूजा का ढोग करते हैं। इस तरह विपरीत उपासना करने के हजारो पाखण्डो की सम्प्रदाएँ बनी हुई हैं, जिनके अनुयायी राक्षसो और असुरो की तरह, आपस मे लडते-झगडते और एक-दूसरे की निन्दा करते है और एक-दूसरे को दु ख देते हैं। भक्ति की इस तरह विडम्बना करनेवाले लोग, जो कुछ क्रियाएँ करते हैं, वे उल्टी ही होती है और उससे जो कुछ वे आशाएँ रखते हैं, वे वृथा ही होती हैं। उनका मनुष्य जन्म वृथा ही बीत जाता है (श्लोक ११-१२)।

कई अज्ञानी लोग शास्त्रो के रोचक वचनो से मोहित होकर मरने के बाद स्वर्ग

प्राप्त करने के लिए वैदिक कर्म-काण्ड, हवन, यज्ञ, आदि करते हैं। वे लोग अपने मन की दृढ़ भावना अथवा श्रद्धा से, शास्त्रों में सुने हुए संस्कारों के आधार पर, मरने के बाद, अपने मन से स्वर्ग लोक की सूक्ष्म रचना करके, उनमें मानसिक भोग भोगने का अनुभव करते हैं, और जब वे संस्कार समाप्त हो जाते हैं तब फिर से जन्म-मरण के चक्कर में भटकते हैं। परमात्मा के सच्चे स्वरूप के ज्ञान-विज्ञान के अभाव में और परमात्मा की सच्ची भक्ति न करने के कारण ऐसे लोगों को कभी आनन्द की प्राप्ति नहीं होती (श्लोक २०-२१)।

परमात्मा के सच्चे भक्त, संसार के खेल में जो अपना कर्तव्य पालन करते हैं, उनमें हिंसा आदि के कर्म भी होते हैं, जिनको अज्ञानी लोग बड़ा पाप समझते हैं, परन्तु वास्तव में वह पाप नहीं होता, क्योंकि वे कर्म सबकी एकता के भाव से, समाज की सुव्यवस्था के लिए किए जाते हैं, इसलिए वे श्रेष्ठाचार ही होते हैं (श्लोक ३०-३१)। सबकी एकता के ज्ञानयुक्त लोकसंग्रह के लिए किए जाने वाले कर्म, यदि स्थूल दृष्टि से पाप रूप प्रतीत हों तो भी वे वास्तव में श्रेष्ठ कर्म ही होते हैं; और भेद-भाव से, व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए किए जाने वाले कर्म, पुण्य रूप प्रतीत हों, तो भी वास्तव में वे पाप रूप होते हैं। अर्जुन को भी अपने बड़े-बूढ़ों, स्वजन-बान्धवों से लड़ने और उनको मारने का घोर हिंसात्मक कर्म बड़ा ही पाप रूप प्रतीत होता था, जिससे घबड़ाकर वह युद्ध से पीछे हटना चाहता था, परन्तु भगवान ने उसको समझाया कि उपर्युक्त ज्ञान-विज्ञान के रहस्य को समझकर, लोक-संग्रह के लिए जो कोई अपने कर्तव्य कर्म करता है—चाहे वे कर्म कितने ही पाप रूप प्रतीत होते हों और चाहे उनके करने वाला स्त्री, पुरुष, ऊँच, नीच माना जाने वाला कोई भी हो, वे कर्म पाप रूप नहीं होते किन्तु उन कर्मों द्वारा मेरी भक्ति ही होती है। इसलिए तू सब प्रकार के कर्म करता हुआ भी, सबमें मेरी एकता का ध्यान रख और सब में मुझ परमात्मा को देखता हुआ सबके साथ अनन्य भाव का प्रेम कर (श्लोक ३२ से ३४)।

॥ नवमा अध्याय समाप्त ॥

अथ दशमोऽध्याय.

श्री भगवान उवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

भूय, एव, महाबाहो, शृणु, मे, परमम्, वच,
यत्, ते, अहम्, प्रीयमाणाय, वक्ष्यामि, हितकाम्यया ॥ १ ॥

श्री भगवान बोले—

(महाबाहो) हे महाबाहो (भूय) फिर (एव) भी (मे) मेरे (परमम्) परम रहस्य युक्त (वच.) वचन (शृणु) सुन, (यत्) जो (अहम्) मैं, (प्रीयमाणाय) प्रीति रखने वाले (ते) तेरे (हितकाम्यया) हित की इच्छा से (वक्ष्यामि) कहता हूँ।

न मे विदु सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वश ॥ २ ॥

न, मे, विदु, सुरगणाः, प्रभवम्, न, महर्षय,
अहम्, आदि, हि, देवानाम्, महर्षीणाम्, च, सर्वश ॥ २ ॥

(मे) मेरे, आत्मा के (प्रभवम्) सर्व व्यापी अस्तित्व को (न) न तो (सुरगणा) देवता लोग, अर्थात् शरीर और जगत को धारण करने वाली सूक्ष्म आधिदैविक शक्तियाँ, और (न) न (महर्षयः) महर्षि लोग, अर्थात् व्यष्टि और समष्टि ज्ञानेन्द्रियाँ ही (विदु) यथार्थ रूप से जानते हैं, (हि) क्योंकि (अहम्) मैं (देवानाम्) देवताओं (च) और (महर्षीणाम्) महर्षियों (सर्वश) सब का (आदि) आदि कारण हूँ, अर्थात् ये सब मेरे सर्वात्मा के संकल्प से उत्पन्न होते हैं।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

यः, माम्, अजम्, अनादिम्, च, वेत्ति, लोकमहेश्वरम्,
असंमूढः, स, मर्त्येषु, सर्वपापैः, प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

(यः) जो (माम्) मुझ, सबके आत्मा को (अजम्) जन्म रहित, (अनादिम्) आदि रहित (च) और (लोकमहेश्वम्) सब चराचर विश्व की सत्ता स्वरूप महान् ईश्वर (वेत्ति) जानता है, (सः) वह (मर्त्येषु) मनुष्यों में (असंमूढः) ज्ञानवान पुरुष (सर्वपापैः) सब पापों से (प्रमुच्यते) मुक्त हो जाता है।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ।। ४ ।।

बुद्धिः, ज्ञानम्, असंमोहः, क्षमा, सत्यम्, दमः, शमः,
सुखम्, दुःखम्, भवः, अभावः, भयम्, च, अभयम्, एव, च ।। ४ ।।

(बुद्धिः) विचार शक्ति, (ज्ञानम्) सत्-असत् का विवेक, (असंमोहः) मोह न होना, (क्षमा) सहन शीलता, (सत्यम्) सच्चाई, (दमः) इन्द्रियों को वश में करना, (शमः) मन का संयम, (सुखम्) अनुकूल वेदना, (दुःखम्) प्रतिकूल वेदना, (भवः) होना, (च) और (अभावः) न होना, (भयम्) डर (च) और (अभयम्) निडरता, (एव) आदि, और;

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ।। ५ ।।

अहिंसा, समता, तुष्टिः, तपः, दानम्, यशः, अयशः,
भवन्ति, भावाः, भूतानाम्, मत्तः, एव, पृथग्विधाः ।। ५ ।।

(अहिंसा) किसीको पीड़ा न देना, (समता) अनुकूलता और प्रतिकूलता में एक समान रहना, (तुष्टिः) सन्तोष, (तपः) १७वें अध्याय में वर्णित सात्त्विक तप अर्थात् शिष्टाचार, (दानम्) सात्त्विक दान, (यशः) कीर्ति, (अयशः) अपकीर्ति आदि, (भूतानाम्) मनुष्यों के (पृथग्विधाः) अनेक प्रकार के (भावाः) भाव, (मत्तः) मुझ, सबके अन्तरात्मा की चेतनाशक्ति से (एव) ही (भवन्ति) होते हैं।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमा प्रजाः ।। ६ ।।

महर्षयः, सप्त, पूर्वे, चत्वारः, मनवः, तथा,
मद्भावाः, मानसाः, जाताः, येषाम्, लोक, इमाः, प्रजाः ।। ६ ।।

(पूर्वे) पहले के (सप्त महर्षयः) सात महर्षि, अर्थात् व्यष्टि और समष्टि सात ज्ञानेन्द्रियाँ, (तथा) और (चत्वारः) चार (मनवः) मनु, अर्थात् व्यष्टि और समष्टि अन्तःकरण चतुष्ठय, (मद्भावाः) मेरे, अर्थात् सबके आत्मा के

समष्टि मन के सकल्प से (मानसा- जाताः) उत्पन्न होनेवाले भाव हैं, (येषाम्) जिनकी (लोके) जगत मे (इमा-) यह (प्रजाः) प्रजा है, अर्थात् जिनसे सारी मानवी सृष्टि का विस्तार हुआ है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

एताम्, विभूतिम्, योगम्, च, मम, य', वेत्ति, तत्त्वत ,
स , अविकम्पेन, योगेन, युज्यते, न, अत्र, सशयः ॥ ७ ॥

(मम) मेरे (एताम्) इन (विभूतिम्) विभूति, अर्थात् एक मे अनेक भावो मे व्यक्त होनेके चमत्कार को, (च) और (योगम्) योग, अर्थात् अनेको मे एक और सम होने के कौशल को, (य) जो (तत्त्वत.) तत्त्व से (वेत्ति) जानता है, (स) वह (अविकम्पेन) अटल (योगेन) एकता के भाव के समत्व-योग से (युज्यते) युक्त हो जाता है, (अत्र) इसमे (संशय) सशय (न) नही है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा , भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

अहम्, सर्वस्य, प्रभव', मत्त., सर्वम्, प्रवर्तते,
इति, मत्वा, भजन्ते, माम्, बुधा , भावसमन्विता. ॥ ८ ॥

(भावसमन्विता) सर्वात्म भाव मे निष्ठा रखनेवाले (बुधा.) आत्मज्ञानी लोग, (इति) यह (मत्वा) मानकर, कि (अहम्) मैं, सबका अपना आप=आत्मा, (सर्वस्य) सबकी (प्रभव) उत्पत्ति का कारण हूं, (मत्तः) और मुझ सबके अपने आप=आत्मा से ही (सर्वम्) सब जगत् (प्रवर्तते) प्रवर्त हो रहा है, अर्थात् क्रियाशील हो रहा है, (माम्) मुझ सर्वात्मा को (भजन्ते) अनन्य भाव से भजते है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

मच्चित्ता , मद्गतप्राणा , बोधयन्तः, परस्परम्,
कथयन्त , च, माम्, नित्यम्, तुष्यन्ति, च, रमन्ति च ॥ ९ ॥

(मच्चित्ता.) मुझ सर्वात्मा मे मन लगाकर, (मद्गतप्राणा.) मुझ सर्वात्मा मे प्राणो को जोड़कर, अर्थात् स्वासोच्छ्वास मे मेरे सर्वात्म भाव का स्मरण करते हुए, (च) और (नित्यम् परस्परम्) सदा ही आपस मे एक-दूसरे को (बोधयन्त.) बोध करवाते हुए, अर्थात् मेरे सर्वात्म भाव को समझाते हुए, वे लोग

(माम्) मेरी (कथयन्तः) चर्चा करते हुए ही (तुष्यन्ति) सन्तुष्ट रहते हैं (च) और (रमन्ति) रमण करते हैं अर्थात् आनन्दित होते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

तेषाम्, सततयुक्तानाम्, भजताम्, प्रीतिपूर्वकम्,
ददामि, बुद्धियोगम्, तम्, येन, माम्, उपयान्ति, ते ॥ १० ॥

(सतत युक्तानाम्) निरन्तर मुझ सर्वात्मा में मन लगाये हुए (तेषाम्) उन (प्रीतिपूर्वकम्) प्रेम पूर्वक (भजताम्) भजने वालों को, अर्थात् सबके साथ एकता के प्रेम का वर्ताव करने वालों को, (तम्) वह (बुद्धियोगम्) तत्त्वज्ञान रूप बुद्धि-योग, (ददामि) मैं सबका अन्तरात्मा देता हूं, (येन) जिससे (ते) वे (माम्) मुझ सर्वात्मा को (उपयान्ति) प्राप्त होते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

तेषाम्, एव, अनुकम्पार्थम् अहम्, अज्ञानजम्, तमः,
नाशयामि, आत्मभावस्थः, ज्ञानदीपेन, भास्वता ॥ ११ ॥

(तेषाम्) उनके उपरोक्त, सबके साथ अनन्य भाव के प्रेम युक्त वर्ताव करने की प्रतिक्रिया रूप (अनुकम्पार्थम्) अनुग्रह करने के लिए (एव) ही, (आत्म-भावस्थः) उनके अन्तःकरण में एकीभाव से स्थित हुआ (अहम्) मैं, सबका अपना आप=अन्तर आत्मा (भास्वता) देदीप्यमान (ज्ञानदीपेन) आत्मज्ञान के प्रकाश से, मुझ से अभिन्न अपने वास्तविक स्वरूप के (अज्ञानजम्) अज्ञान से उत्पन्न हुए (तमः) अन्धकार को (नाशयामि) नष्ट करता हूँ।

संगति—यहाँ श्लोक ७ से लेकर ११ तक में भगवान अपनी सर्वरूपता का निरूपण करते हुए कहते हैं, कि जो लोग सबके आत्मा-परमात्मा को ही सारे विश्व की उत्पत्ति व पालन कर्ता, सबकी सत्ता, सबका आधार और सबका प्रवर्तक मान कर अपनी जीवनचर्या में इस तत्त्वज्ञान को निरन्तर याद रखते हैं और यही चर्चा करते रहते हैं, उनके अन्तःकरण का भेदभाव मिटकर सबकी एकता के आत्म-भाव का, उनको अपने आपमें अनुभव हो जाता है और वे अपने आपमें परमात्म-भाव का आनन्द पाते हैं।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ।। १३ ।।

परम्, ब्रह्म, परम्, धाम, पवित्रम्, परमम्, भवान्,
पुरुषम्, शाश्वतम्, दिव्यम्, आदिदेवम्, अजम्, विभुम् ।। १२ ।।
आहुः, त्वाम्, ऋषयः, सर्वे, देवर्षिः, नारदः, तथा,
असितः, देवलः, व्यासः, स्वयम्, च, एव, ब्रवीषि, मे ।। १३ ।।

अर्जुन बोला, हे भगवन् !

(भवान्) आप (परम्) परम (ब्रह्म) ब्रह्म, (परम्) परम (धाम) धाम, (परमम्) परम (पवित्रम्) पवित्र हो, (त्वाम्) आपको (सर्वे) सब (ऋषयः) ऋषि लोग (शाश्वतम्) सनातन, (दिव्यम्) अलौकिक (पुरुषम्) पुरुष, (आदिदेवम्) आदि देव, (अजम्) अजन्मा और (विभुम्) सर्वव्यापी (आहुः) कहते हैं, (तथा) तथा (देवर्षिः नारदः) देवर्षि नारद, (असितः) असित, (देवलः) देवल, (व्यासः) व्यास (च) और (स्वयम्) आप स्वयं (एव) भी (मे) मुझको वैसा ही (ब्रवीषि) कहते हो।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ।। १४ ।।

सर्वम्, एतत्, ऋतम्, मन्ये, यत्, माम्, वदसि, केशव,
न, हि, ते, भगवन्, व्यक्तिम्, विदुः, देवाः, न, दानवाः ।। १४ ।।

(केशव) हे केशव ! (यत्) जो (माम्) मुझको (वदसि) आप कहते हो, (एतत्) इस (सर्वम्) सबको मैं (ऋतम्) सत्य (मन्ये) मानता हूँ। (भगवन्) हे भगवन् ! (ते) आपके (व्यक्तिम्) व्यक्त होने के रहस्य को (न) न तो (देवाः) देवता, अर्थात् दैवी प्रकृति के लोग और (न) न (दानवाः) दानव, अर्थात् आसुरी प्रकृति के लोग (हि) ही (विदुः) यथार्थतया जानते हैं।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ।। १५ ।।

स्वयम्, एव, आत्मना, आत्मानम्, वेत्थ, त्वम्, पुरुषोत्तम,
भूतभावन, भूतेश, देवदेव, जगत्पते ।। १५ ।।

(भूतभावन) हे जगत को उत्पन्न करने वाले ! (भूतेश) हे जगत के ईश्वर! (देवदेव) हे देवों के देव ! (जगत्पते) हे जगत के स्वामी ! (पुरुषोत्तम) हे पुरुषोत्तम ! (त्वम्) आप (स्वयम्) स्वयं (एव) हि (आत्मना) अपने से

(आत्मानम्) आपको (वेत्थ) जानते हो, अर्थात् सबका आत्मा, भेद-ज्ञान का विषय नहीं है किन्तु अपने आपका अनुभव है।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

वक्तुम्, अर्हसि, अशेषण, दिव्याः, हि, आत्मविभूतयः,
याभिः, विभूतिभिः, लोकान्, इमान्, त्वम्, व्याप्य, तिष्ठसि ॥ १६ ॥

(त्वम्) आप (हि) ही (दिव्याः आत्म-विभूतयः) अपनी चमत्कारिक विभूतियों को, (अशेषेण) सम्पूर्णता से (वक्तुम्) कहने के (अर्हसि) योग्य हो, (याभिः) जिन (विभूतिभिः) विभूतियों के द्वारा (इमाम्) इन सब (लोकान्) लोकों को (व्याप्य) व्याप्त करके, आप (तिष्ठसि) स्थित हो, अर्थात् अपने चमत्कारिक विशेष बनावों से जगत रूप हो रहे हो।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

कथम्, विद्याम्, अहम्, योगिन्, त्वाम्, सदा, परिचिन्तयन्,
केषु, केषु, च भावेषु, चिन्त्यः असि, भगवन्, मया ॥ १७ ॥

(योगिन्) हे योगेश्वर! (अहम्) मैं (कथम्) किस प्रकार (सदा) निरन्तर (परिचिन्तयन्) चिन्तन करता हुआ (त्वाम्) आपकी सर्वरूपता को (विद्याम्) जानूं, (च) और (भगवन्) हे भगवान्! (केषु) किन (केषु) किन (भावेषु) भावों में, अर्थात् रूपों में, आप (मया) मेरे द्वारा (चिन्त्यः) चिन्तन करने योग्य (असि) हो।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

विस्तरेण, आत्मनः, योगम्, विभूतिम्, च, जनर्दन,
भूयः, कथय, तृप्तिः, हि, शृण्वतः, न, अस्ति, मे, अमृतम् ॥ १८ ॥

(जनार्दन) हे जनार्दन! (आत्मनः) अपने, (योगम्) अनेकों में एक होने के योग को, (च) और (विभूतिम्) एक में अनेक चमत्कारिक विभूतियों के बनाव के अद्भुत कौशल को, (भूयः) फिर भी (विस्तरेण) विस्तारपूर्वक (कथय) कहिये, (हि) क्योंकि आपके (अमृतम्) अमृतमय वचनों को (शृण्वतः) सुनते हुए (मे) मुझे (तृप्तिः) तृप्ति (न) नहीं (अस्ति) होती है।

संगति—सब की एकता के आत्म-ज्ञान युक्त साम्य-भाव से अपने-अपने कर्तव्य कर्म करने के समत्व-योग के आचरण के लिए, उस आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के एक

साधन रूप, सबके आत्मा=परमात्मा की भक्ति का विधान, भगवान् ने ७वें अध्याय से आरम्भ किया, जिसमे सारे विश्व को अपनी अपरा और परा प्रकृति का बनाव कहकर, अपने आपको उस बनाव मे ओत-प्रोत बताया, और उस अध्याय के ८वें से १२वें श्लोक तक, और ६वें अध्याय के १६वें से १९वें श्लोक तक तथा इस अध्याय के आरम मे अनेक पदार्थों मे अपनी चेतना शक्ति की विशेष अभिव्यक्ति का वर्णन करके अपनी सर्वरूपता का दिग्दर्शन कराया, जिससे अर्जुन के चित्त पर सबकी एकता के ज्ञान का पूरा प्रभाव पड गया। परन्तु सासारिक व्यवहार करते समय वह ज्ञान निरन्तर बना रहे, इसलिए अर्जुन ने भगवान् से अपनी विशेष चमत्कारिक विभूतियो का विस्तार पूर्वक वर्णन करने की प्रार्थना की, ताकि उन विशेष चमत्कारिक विभूतियो को याद करके सबमे एक ही आत्मा की चेतन शक्ति के विशेष विकास का अनुभव निरन्तर होता रहे। अर्जुन की इस प्रार्थना पर भगवान् आगे मुख्य-मुख्य विभूतियो का वर्णन सक्षेप से करते हैं।

श्री भगवान् उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यत कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

हन्त, ते, कथयिष्यामि, दिव्या, हि, आत्मविभूतय,
प्राधान्यत, कुरुश्रेष्ठ, न, अस्ति, अन्त, विस्तरस्य, मे ॥ १९ ॥

श्री भगवान् बोले कि :—

(हन्त) अच्छा, (कुरुश्रेष्ठ) हे कुरुश्रेष्ठ! मैं (ते) तुझे (प्राधान्यत) मुख्य-मुख्य (दिव्या, आत्म-विभूतय) अपनी चमत्कारिक विभूतियो को (कथयिष्यामि) कहूंगा, (हि) क्योकि (मे) मेरे (विस्तरस्य) विस्तार का (अन्त.) कोई अन्त (न) नही (अस्ति) है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित.।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

अहम्, आत्मा, गुडाकेश, सर्वभूताशयस्थित,
अहम्, आदिः, च, मध्यम्, च, भूतानाम्, अन्त, एव, च ॥ २० ॥

(गुडाकेश) हे अर्जुन! (अहम्) मैं (सर्वभूताशयस्थित) सब भौतिक शरीरो के हृदय मे स्थित (आत्मा) सबका अन्तरात्मा हूं; (च) तथा (भूतानाम्) सब भूत-प्राणियो का (आदिः) आदि, (मध्यम्) मध्य (च) और (अन्त.) अन्त (च) भी (अहम्) मैं (एव) ही हूं, अर्थात् सारे विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय मुझ=

आत्मा में ही होते हैं।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

आदित्यानाम्, अहम्, विष्णुः, ज्योतिषाम्, रविः, अंशुमान्,
मरीचिः, मरुताम्, अस्मि, नक्षत्राणाम्, अहम्, शशी ॥ २१ ॥

(**आदित्यानाम्**) आदित्यों में (**विष्णुः**) विष्णु (**अहम्**) मैं हूँ, (**ज्योतिषाम्**) प्रकाशवानों में (**अंशुमान्**) किरणों वाला (**रविः**) सूर्य (**अहम्**) मैं हूँ, (**मरुताम्**) मरुतों में (**मरीचिः**) मरीचि और (**नक्षत्राणाम्**) नक्षत्रों में (**शशी**) चन्द्रमा (**अस्मि**) हूँ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

वेदानाम्, सामवेदः, अस्मि, देवानाम्, अस्मि, वासवः,
इन्द्रियाणाम्, मनः, च, अस्मि, भूतानाम्, अस्मि, चेतना ॥ २२ ॥

(**वेदानाम्**) वेदों में (**सामवेदः**) सामवेद (**अस्मि**) हूँ, (**देवानाम्**) देवों में (**वासवः**) इन्द्र (**अस्मि**) हूँ (**च**) और (**इन्द्रियाणाम्**) इन्द्रियों में (**मनः**) मन (**अस्मि**) हूँ, (**भूतानाम्**) भूत-प्राणियों में (**चेतना**) चेतनता (**अस्मि**) हूँ।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

रुद्राणाम्, शंकरः, च, अस्मि, वित्तेशः, यक्षरक्षसाम्,
वसूनाम्, पावकः, च अस्मि, मेरु, शिखरिणाम्, अहम् ॥ २३ ॥

(**रुद्राणाम्**) रुद्रों में (**शंकरः**) शंकर (**अस्मि**) हूँ, (**च**) और (**यक्षरक्षसाम्**) यक्ष तथा राक्षसों में (**वित्तेशः**) धन का स्वामी, कुबेर (**च**) और (**वसूनाम्**) वसुओं में (**पावकः**) अग्नि तथा (**शिखरिणाम्**) शिखर वाले पर्वतों में (**मेरुः**) सुमेरु पर्वत (**अहम्**) मैं (**अस्मि**) हूँ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

पुरोधसाम् च, मुख्यम्, माम्, विद्धि, पार्थ, बृहस्पतिम्,
सेनानीनाम्, अहम्, स्कन्दः, सरसाम्, अस्मि, सागरः ॥ २४ ॥

(**पुरोधसाम्**) पुरोहितों में (**मुख्यम्**) मुख्य अर्थात् देवताओं का पुरोहित (**बृहस्पतिम्**) बृहस्पति (**माम्**) मेरे को (**विद्धि**) जान (**च**) और (**पार्थ**) हे

अन्त (च) और (मध्यम्) मध्य (अहम्) मैं (एव) ही हूँ। (विद्यानाम्) विद्याओं मे (अध्यात्म-विद्या) अध्यात्म विद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या (च) और (प्रवदताम्) परस्पर मे विवाद करने वालो का (वाद) तत्त्व निर्णय के लिए किया जाने वाला वाद (अहम्) मैं हूँ।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

अक्षराणाम्, अकार, अस्मि, द्वन्द्वः, सामासिकस्य, च,
अहम्, एव, अक्षय, काल, धाता, अहम्, विश्वतोमुखः ॥३३॥

(अक्षराणाम्) अक्षरो मे (अकार) अकार, (च) और (सामासिकस्य) समासो मे (द्वन्द्व) द्वन्द्व नामक समास (अहम्) मैं (अस्मि) हूँ; (अक्षयः) अक्षय (काल) काल, अर्थात् काल का भी महाकाल और (विश्वतोमुखः) विश्वरूप (धाता) सबका धारण पोषण करने वाला (अहम् एव) मैं ही हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

मृत्युः, सर्वहर, च, अहम्, उद्भवः, च, भविष्यताम्,
कीर्ति, श्रीः, वाक्, च, नारीणाम्, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा ॥३४॥

(सर्वहरः) सबका नाश करने वाला (मृत्यु) मृत्यु, (च) और (भविष्यताम्) आगे होने वालो की (उद्भवः) उत्पत्ति (अहम्) मैं हूँ; (च) तथा (नारीणाम्) स्त्रियों मे (कीर्तिः) कीर्ति, (श्री) श्री, (वाक्) वाणी, (स्मृतिः) स्मृति, (मेधा) बुद्धि, (धृति) सहनशीलता (च) और (क्षमा) क्षमा हूँ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

बृहत्साम, तथा, साम्नाम्, गायत्री, छन्दसाम्, अहम्,
मासानाम्, मार्गशीर्षः, अहम्, ऋतूनाम्, कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

(साम्नाम्) सामवेद के मन्त्रो मे (बृहत्साम) बृहत्साम, (छन्दसाम्) छन्दो मे (गायत्री) गायत्री छन्द (अहम) मैं हूँ; (मासानाम्) महीनो मे (मार्गशीर्षः) मगसिर का महीना (तथा) तथा (ऋतूनाम्) ऋतुओ मे (कुसुमाकरः) बसन्त ऋतु (अहम्) मैं (अस्मि) हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

द्यूतम्, छलयताम्, अस्मि, तेजः, तेजस्विनाम् अहम्,
जयः, अस्मि, व्यवसायः, अस्मि, सत्त्वम्, सत्त्ववताम्, अहम् ॥ ३६ ॥

(छलयताम्) छल करने वालों में (द्यूतम्) जुआ, (तेजस्विनाम्) तेजस्वियों का (तेजः) तेज (अहम्) मैं (अस्मि) हूँ; (जयः) विजय (अस्मि) हूँ, (व्यवसायः) व्यवसाय (अस्मि) हूँ, (सत्त्ववताम्) सत्त्ववानों का (सत्त्वम्) सत्त्व (अहम्) मैं हूँ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

वृष्णीनाम्, वासुदेवः, अस्मि, पाण्डवानाम्, धनंजयः,
मुनीनाम्, अपि, अहम्, व्यासः, कवीनाम्, उशना, कविः ॥ ३७ ॥

(वृष्णीनाम) वृष्णिवंशियों यादवों में (वासुदेवः) वसुदेव का पुत्र कृष्ण, (पाण्डवानाम्) पाण्डवों में (धनंजयः) धनंजय अर्जुन (अस्मि) हूँ, (मुनीनाम्) मुनियों में (व्यासः) वेद व्यास, (कवीनाम्) कवियों में (उशना) शुक्राचार्य (कविः) कवि (अपि) भी (अहम्) मैं हूँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

दण्डः, दमयताम्, अस्मि, नीतिः, अस्मि, जिगीषताम्,
मौनम्, च, एव, अस्मि, गुह्यानाम्, ज्ञानम्, ज्ञानवताम्, अहम् ॥ ३८ ॥

(च) और (दमयताम्) दमन करने वालों का (दण्डः) दण्ड (अस्मि) हूँ, (जिगीषताम्) जीतने की इच्छा वालों की (नीतिः) नीति (अस्मि) हूँ, (गुह्यानाम्) गुप्त रखने वालों का (मौनम्) मौन (अस्मि) हूँ तथा (ज्ञानवताम्) ज्ञान वानों का (ज्ञानम्) तत्त्वज्ञान (अहम्) मैं (एव) ही हूँ।

यच्चापिसर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरं ॥३९॥

यत्, च, अपि, सर्वभूतानाम्, बीजम्, तत्, अहम्, अर्जुन,
न, तत्, अस्ति, विना, यत्, स्यात्, मया, भूतम्, चराचरम् ॥३९॥

(च) और (अर्जुन) हे अर्जुन ! (यत्) जो (सर्वभूतानाम् बीजम्) सब भूत प्राणियों की उत्पत्ति का कारण है, (तत्) वह (अपि) भी (अहम्) मैं (एव) ही हूँ; (तत्) ऐसा कोई भी (चराचरम्) चर और अचर (भूतम्) भौतिक पदार्थ (न) नहीं (अस्ति) है, (यत्) जो (मया) मेरे (विना) विना (स्यात्) होवे।

पार्थ ! (अहम्) मैं (सेनानीनाम्) सेनापतियों में (स्कन्द:) स्वामिकार्तिक और (सरसाम्) जलाशयों में (सागर) समुद्र (अस्मि) हूं।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ।। २५ ।।

महर्षीणाम्, भृगु, अहम्, गिराम्, अस्मि, एकम्, अक्षरम्,
यज्ञानाम्, जपयज्ञ:, अस्मि, स्थावराणाम्, हिमालयः ।। २५ ।।

(महर्षीणाम्) महर्षियों में (भृगु:) भृगु, (गिराम्) शब्दों में (एकम्) एक (अक्षरम्) अक्षर, अर्थात् ओंकार (अहम्) मैं (अस्मि) हूं, (यज्ञानाम्) यज्ञों में (जपयज्ञ:) जपयज्ञ और (स्थावराणाम्) स्थिर रहने वालों में (हिमालय:) हिमालय पहाड़ (अस्मि) हूं।

अश्वत्थ:सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गंधर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनि ।। २६ ।।

अश्वत्थ:, सर्ववृक्षाणाम्, देवर्षीणाम्, च, नारद:,
गन्धर्वाणाम्, चित्ररथ:, सिद्धानाम्, कपिल:, मुनि: ।। २६ ।।

(सर्ववृक्षाणाम्) सब वृक्षों में (अश्वत्थ:) पीपल, (देवर्षीणाम्) देव ऋषियों में (नारद:) नारद मुनि, (गन्धर्वाणाम्) गन्धर्वों में (चित्ररथ:) चित्ररथ (च) और (सिद्धानाम्) सिद्धों में (कपिल:) कपिल (मुनि) मुनि हूँ।

उच्चैः श्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ।। २७ ।।

उच्चैः श्रवसम्, अश्वानाम्, विद्धि, माम्, अमृतोद्भवम्,
ऐरावतम् गजेन्द्राणाम् नराणाम्, च, नराधिपम् ।। २७ ।।

(अश्वानाम्) घोड़ों में (अमृतोद्भवम्) अमृत से उत्पन्न होने वाला (उच्चैः श्रवसम्) उच्चै: श्रवा, (गजेन्द्राणाम्) हाथियों में (ऐरावतम्) ऐरावत, (च) और (नराणाम्) मनुष्यों में (नराधिपम्) राजा (माम्) मुझको (विद्धि) जान।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ।। २८ ।।

आयुधानाम्, अहम्, वज्रम्, धेनूनाम्, अस्मि, कामधुक्,
प्रजन:, च, अस्मि, कन्दर्प:, सर्पाणाम्, अस्मि, वासुकि: ।। २९ ।।

(आयुधानाम्) शस्त्रों में (वज्रम्) वज्र, (धेनूनाम्) गौओं में (कामधुक्) कामधेनु (अहम्) मैं (अस्मि) हूं (च) और (प्रजन:) सन्तान की उत्पत्ति करने

वाला (कन्दर्पः) कामदेव (अस्मि) हूँ, (सर्पाणाम्) सर्पों में (वासुकिः) वासुकि (अस्मि) हूँ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

अनन्तः, च, अस्मि, नागानाम्, वरुणः, यादसाम्, अहम्,
पितॄणाम्, अर्यमा, च, अस्मि, यमः, संयमताम्, अहम् ॥ २९ ॥

(नागानाम्) नागों में (अनन्तः) शेषनाग, (च) और (यादसाम्) जलों में (वरुणः) वरुण (अहम्) मैं (अस्मि) हूँ; (च) और (पितॄणाम्) पितरों में (अर्यमा) अर्यमा, (संयमताम्) शासन करने वालों में (यमः) यम (अहम्) मैं (अस्मि) हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

प्रह्लादः, च, अस्मि, दैत्यानाम्, कालः, कलयताम्, अहम्,
मृगाणाम्, च, मृगेन्द्रः, अहम्, वैनतेयः, च, पक्षिणाम् ॥३०॥

(दैत्यानाम्) दैत्यों में (प्रह्लादः) प्रह्लाद, (च) और (कलयताम्) गिनती करने वालों में (कालः) समय (अहम्) मैं (अस्मि) हूँ; (च) और (मृगाणाम्) पशुओं में (मृगेन्द्रः) सिंह, (च) और (पक्षिणाम्) पक्षियों में (वैनतेयः) गरुड़ (अहम्) मैं हूँ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

पवनः, पवताम्, अस्मि, रामः, शस्त्रभृताम्, अहम्,
झषाणाम्, मकरः, च, अस्मि, स्रोतसाम्, अस्मि, जाह्नवी ॥३१॥

(पवताम्) वेगवानों में (पवनः) वायु, (शस्त्रभृताम्) शस्त्र धारियों में (रामः) राम (अस्मि) हूँ, (च) और (झषाणाम्) मछलियों में (मकरः) मगरमच्छ (अहम्) मैं (अस्मि) हूँ, और (स्रोतसाम्) नदियों में (जाह्नवी) गंगा (अस्मि) हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

सर्गाणाम्, आदिः, अन्तः, च, मध्यम्, च, एव, अहम्, अर्जुन,
अध्यात्मविद्या, विद्यानाम्, वादः, प्रवदताम्, अहम् ॥३२॥

(अर्जुन) हे अर्जुन ! (सर्गाणाम्) सृष्टियों का (आदिः) आदि, (अन्तः)

अन्त (च) और (मध्यम्) मध्य (अहम्) मैं (एव) ही हूँ। (विद्यानाम्) विद्याओ मे (अध्यात्म-विद्या) अध्यात्म विद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या (च) और (प्रवदताम्) परस्पर मे विवाद करने वालो का (वाद) तत्त्व निर्णय के लिए किया जाने वाला वाद (अहम्) मैं हूँ।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

अक्षराणाम्, अकार, अस्मि, द्वन्द्वः, सामासिकस्य, च,
अहम्, एव, अक्षय, काल, धाता, अहम्, विश्वतोमुखः ॥३३॥

(अक्षराणाम्) अक्षरो मे (अकार) अकार, (च) और (सामासिकस्य) समासो मे (द्वन्द्व) द्वन्द्व नामक समास (अहम्) मैं (अस्मि) हूँ, (अक्षयः) अक्षय (काल) काल, अर्थात् काल का भी महाकाल और (विश्वतोमुख) विश्वरूप (धाता) सबका धारण पोषण करने वाला (अहम् एव) मैं ही हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्ति श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृति क्षमा ॥३४॥

मृत्युः, सर्वहर, च, अहम्, उद्भवः, च, भविष्यताम्,
कीर्ति, श्री., वाक्, च, नारीणाम्, स्मृतिः, मेधा, धृति, क्षमा ॥३४॥

(सर्वहर.) सबका नाश करने वाला (मृत्युः) मृत्यु, (च) और (भविष्यताम्) आगे होने वालो की (उद्भवः) उत्पत्ति (अहम्) मैं हूँ, (च) तथा (नारीणाम्) स्त्रियो मे (कीर्तिः) कीर्ति, (श्रीः) श्री, (वाक्) वाणी, (स्मृति) स्मृति, (मेधा) बुद्धि, (धृति) सहनशीलता (च) और (क्षमा) क्षमा हूँ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

बृहत्साम, तथा, साम्नाम्, गायत्री, छन्दसाम्, अहम्,
मासानाम्, मार्गशीर्ष, अहम्, ऋतूनाम्, कुसुमाकर. ॥ ३५ ॥

(साम्नाम्) सामवेद के मन्त्रो मे (बृहत्साम्) बृहत्साम, (छन्दसाम्) छन्दो मे (गायत्री) गायत्री छन्द (अहम) मैं हूँ; (मासानाम्) महीनो मे (मार्गशीर्षः) मगसिर का महीना (तथा) तथा (ऋतूनाम्) ऋतुओ मे (कुसुमाकरः) वसन्त ऋतु (अहम्) मैं (अस्मि) हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

द्यूतम्, छलयताम्, अस्मि, तेजः, तेजस्विनाम् अहम्,
जयः, अस्मि, व्यवसायः, अस्मि, सत्त्वम्, सत्त्ववताम्, अहम् ।। ३६ ।।

(छलयताम्) छल करने वालों में (द्यूतम्) जुआ, (तेजस्विनाम्) तेजस्वियों का (तेजः) तेज (अहम्) मैं (अस्मि) हूँ; (जयः) विजय (अस्मि) हूँ, (व्यवसायः) व्यवसाय (अस्मि) हूँ, (सत्त्ववताम्) सत्त्ववानों का (सत्त्वम्) सत्त्व (अहम्) मैं हूँ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ।। ३७ ।।

वृष्णीनाम्, वासुदेवः, अस्मि, पाण्डवानाम्, धनंजयः,
मुनीनाम्, अपि, अहम्, व्यासः, कवीनाम्, उशना, कविः ।। ३७ ।।

(वृष्णीनाम) वृष्णिवंशियों यादवों में (वासुदेवः) वसुदेव का पुत्र कृष्ण, (पाण्डवानाम्) पाण्डवों में (धनंजयः) धनंजय अर्जुन (अस्मि) हूँ, (मुनीनाम्) मुनियों में (व्यासः) वेद व्यास, (कवीनाम्) कवियों में (उशना) शुक्राचार्य (कविः) कवि (अपि) भी (अहम्) मैं हूँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ।। ३८ ।।

दण्डः, दमयताम्, अस्मि, नीतिः, अस्मि, जिगीषताम्,
मौनम्, च, एव, अस्मि, गुह्यानाम्, ज्ञानम्, ज्ञानवताम्, अहम् ।। ३८ ।।

(च) और (दमयताम्) दमन करने वालों का (दण्डः) दण्ड (अस्मि) हूँ, (जिगीषताम्) जीतने की इच्छा वालों की (नीतिः) नीति (अस्मि) हूँ, (गुह्यानाम्) गुप्त रखने वालों का (मौनम्) मौन (अस्मि) हूँ तथा (ज्ञानवताम्) ज्ञानवानों का (ज्ञानम्) तत्त्वज्ञान (अहम्) मैं (एव) ही हूँ।

यच्चापिसर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरं ।।३९।।

यत्, च, अपि, सर्वभूतानाम्, बीजम्, तत्, अहम्, अर्जुन,
न, तत्, अस्ति, विना, यत्, स्यात्, मया, भूतम्, चराचरम् ।।३९।।

(च) और (अर्जुन) हे अर्जुन ! (यत्) जो (सर्वभूतानाम् बीजम्) सब भूत प्राणियों की उत्पत्ति का कारण है, (तत्) वह (अपि) भी (अहम्) मैं (एव) ही हूँ; (तत्) ऐसा कोई भी (चराचरम्) चर और अचर (भूतम्) भौतिक पदार्थ (न) नहीं (अस्ति) है, (यत्) जो (मया) मेरे (विना) विना (स्यात्) होवे।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

न, अन्तः, अस्ति, मम, दिव्यानाम्, विभूतीनाम्, परंतप,
एषः, तु, उद्देशतः, प्रोक्तः, विभूतेः, विस्तरः, मया ॥४०॥

(परंतप) हे अर्जुन ! (मम) मेरी (दिव्यानाम्) चमत्कारिक (विभूतिनाम्) विभूतियों का (अन्तः) कोई अन्त (न) नहीं (अस्ति) है, (एषः) यह (मया) मैंने (विभूते) विभूतियों का (विस्तरः) विस्तार (तु) तो (उद्देशतः) संक्षेप से नमूने के तौर पर (प्रोक्तः) कहा है।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१॥

यत्, यत्, विभूतिमत्, सत्त्वम्, श्रीमत्, ऊर्जितम्, एव, वा,,
तत्, तत्, एव, अवगच्छ, त्वम्, मम, तेजोऽशसंभवम् ॥४१॥

(यत्) जो (यत्) जो (एव) भी (विभूतिमत्) विभूति युक्त, अर्थात् विशेष ऐश्वर्य एवं प्रतिभा सम्पन्न, (श्रीमत्) कान्तियुक्त, (वा) और (ऊर्जितम्) शक्ति युक्त (सत्त्वम्) व्यक्ति, पदार्थ अथवा वस्तु है, (तत्) उस (तत्) उसको (त्वम्) तू (मम) मेरी (तेजोंऽशसम्भवम् एव) सत्ता के तेज के अंश से ही उत्पन्न हुई (अवगच्छ) जान।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

अथवा, बहुना, एतेन, किम्, ज्ञातेन, तव, अर्जुन,,
विष्टभ्य, अहम्, इदम्, कृत्स्नम्, एकांशेन, स्थितः, जगत् ॥४२॥

(अथवा) अथवा (अर्जुन) हे अर्जुन ! (एतेन) इस (बहुना) बहुत (ज्ञातेन) जानने से (तव) तेरा (किम्) क्या प्रयोजन है; (अहम्) मैं (इदम्) इस (कृत्स्नम्) सम्पूर्ण (जगत्) जगत को, अपनी इच्छा रूप योगमाया अथवा प्रकृति के (एकांशेन) एक अंश मात्र से (विष्टभ्य) धारण करके (स्थितः) स्थित हूँ, अर्थात् यह जगत मेरे समष्टि संकल्प का एक दृश्य या खेल मात्र है।

संगति—अर्जुन की प्रार्थना पर अपनी विभूतियों का वर्णन करने के आरम्भ में भगवान ने पहले अपने सर्वात्मभाव का फिर से उल्लेख करके कहा कि यह सारा विश्व मेरे अनन्त कल्पित नामों और रूपों का अस्थायी बनाव है। इसलिए संसार में जो कुछ भी अच्छा-बुरा, श्रेष्ठ-दुष्ट, उत्कृष्ट-निकृष्ट, सौम्य-क्रूर, आदि नामरूप

है, वे सब ही मेरी विभूतियां हैं, यहाँ तक कि यक्षों, राक्षसों, सर्पों, सिंहों, मगरों, लुटेरों, जुवारियों और जड़ पदार्थों के साथ-साथ देवताओं, गन्धर्वों, महर्षियों, देवर्षियों, श्रेष्ठ विद्याओं और विष्णु के अवतार माने जाने वाले राम तथा कृष्ण को भी अपनी विशेष विभूतियों में ही गिनाया। सारांश यह कि उस समय संसार के जो-जो बनाव विशेष प्रभावशाली और चमत्कारिक तथा आश्चर्यजनक माने जाते थे, अथवा जिनकी कल्पना काव्यों में की गई थी, उन सबको अपनी विभूतियों में गिनाया, और फिर यह भी कहा कि मेरी विभूतियों का कोई अन्त नहीं है; ये तो नाम मात्र के लिए संक्षेप से कही हैं। संसार में अनन्त प्रकार के चमत्कारिक बनाव बने हैं, बन रहे हैं और बनेंगे; जिस-जिस बनाव में किसी भी प्रकार की चित्ताकर्षक और प्रभावशाली विशेषता प्रतीत हो, उसमें मेरी=सर्वात्मा की ही चेतना शक्ति का विशेष प्रदर्शन समझ। भगवान् के इस कथन से यह शिक्षा मिलती है कि वर्तमान में भी संसार में जो विशेष प्रभावशाली, प्रतिभा सम्पन्न, अद्भुत व्यक्ति, पदार्थ, आविष्कार अथवा घटनाएँ होती हैं, वे सब, सबके अपने आप आत्मा=परमात्मा की चेतना शक्ति का, विशेष प्रदर्शन समझना चाहिए, और उस प्रदर्शन के अवलम्बन से सबमें एक आत्म-तत्त्व का अभेद ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। परन्तु इन नाशवान विभूतियों के प्रदर्शन में ही आत्मा को सीमाबद्ध मानकर, उनकी उपासना करना और उनमें उलझना नहीं चाहिए। इसी अभिप्राय को लेकर इस अध्याय के अन्त के श्लोक में भगवान् ने अर्जुन को लक्ष्य करके सब को उपदेश दिया है, कि उत्पन्न होने और मिटने वाली नाशवान विभूतियों को जान लेने मात्र से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। इनका वर्णन तो इसलिए किया गया है कि इनके अवलम्बन से, संसार के इस खेल में अनन्त स्वांग धारण करने वाले उस खिलाड़ी को जानना चाहिए, जो सबके अन्दर 'मैं' रूपसे अपना आप सबको व्याप्त कर रहा है और जो अपने एक अंश से सारे ब्रह्माण्ड का बनाव धारण किये हुए है।

॥ दसवां अध्याय समाप्त ॥

●

अथैकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

मदनुग्रहाय, परमम्, गुह्यम्, अध्यात्मसंज्ञितम्,
यत्, त्वया, उक्तम्, वचः, तेन, मोहः, अयम्, विगतः, मम ॥ १ ॥

अर्जुन बोला कि—

(मदनुग्रहाय) मेरे अनुग्रह के लिए (परमम्) परम (गुह्यम्) गहन, अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म (अध्यात्मसंज्ञितम्) अध्यात्म संज्ञा वाला (यत्) जो (वचः) आत्म-ज्ञान का उपदेश (त्वया) आपके द्वारा (उक्तम्) कहा गया, (तेन) उससे (मम) मेरा (अयम्) यह (मोहः) मोह (विगतः) दूर हो गया।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

भवाप्ययौ, हि, भूतानाम्, श्रुतौ, विस्तरशः, मया,
त्वत्तः, कमलपत्राक्ष, माहात्म्यम्, अपि, च, अव्ययम् ॥ २ ॥

(कमलपत्राक्ष) हे कमल नेत्र ! (मया) मैंने (भूतानाम्) जगत की (भवाप्ययौ) उत्पत्ति और प्रलय का रहस्य (त्वत्तः) आपसे (विस्तरशः) विस्तार पूर्वक (हि) अच्छी तरह (श्रुतौ) सुना (च) तथा आपका (अव्ययम्) अविनाशी (माहात्म्यम्) महान आत्म भाव (अपि) भी सुना।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

एवम्, एतत्, यथा, आत्थ, त्वम्, आत्मानम् परमेश्वर,
द्रष्टुम्, इच्छामि, ते, रूपम्, ऐश्वरम्, पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

(परमेश्वर) हे परमेश्वर ! (पुरुषोत्तम) हे पुरुषोत्तम ! (त्वम्) आप (आत्मा-

नम्) अपने को (यथा) जैसा (आत्थ) कहते हो, (एतत्) यह (एवम्) वैसा ही (ते) आपके (ऐश्वरम्) ईश्वरीय (रूपम्) रूपको (द्रष्टुम्) मैं देखना (इच्छामि) चाहता हूँ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

मन्यसे, यदि, तत्, शक्यम्, मया, द्रष्टुम्, इति, प्रभो,
योगेश्वर, ततः, मे, त्वम्, दर्शय, आत्मानम्, अव्ययम् ॥४॥

(प्रभो) हे प्रभो ! (यदि) यदि (मया) मेरे द्वारा आपका (तत्) वह रूप (द्रष्टुम्) देखा जाना (शक्यम्) शक्य है, (इति, मन्यसे) ऐसा आप मानते हो, (ततः) तो (योगेश्वर) हे योगेश्वर ! (त्वम्) आप अपने (अव्ययम्) अविनाशी (आत्मानम्) विश्व रूप को (मे) मुझे (दर्शय) दिखाइए।

संगति—भगवान् श्री कृष्ण अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के साक्षात् मूर्तिमान रूप थे। गीता में उन्होंने उसका केवल सिद्धान्त रूप से ही नहीं, किन्तु उस सिद्धान्त के अनुसार संसार के व्यवहार करने का भी पूर्णरूप से प्रतिपादन किया है; परन्तु संसार के नाना प्रकार के व्यवहारों में सबकी एकता का निश्चय बना रहना अत्यन्त ही कठिन है। इस कठिनाई को मिटाने के लिए भगवान् ने पिछले अध्यायों में अनेक साधनों का विधान किया है। अब इस ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन के प्रार्थना करने पर, मानसिक दिव्य दृष्टि से उसको अपना विश्वरूप दिखाकर सारे विश्व की आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक एकता का प्रत्यक्ष बोध करवाते हैं।

श्री भगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

पश्य, मे, पार्थ, रूपाणि, शतशः, अथ, सहस्रशः,
नानाविधानि, दिव्यानि, नानावर्णाकृतीनि, च ॥५॥

श्री भगवान् बोले कि—

(पार्थ) हे पार्थ ! (मे) मेरे (शतशः) सैकड़ों (अथ) तथा (सहस्रशः) हजारों (नाना विधानि) नाना प्रकार के (च) और (नानावर्णाकृतीनि) नाना वर्णों तथा आकृतियों वाले (दिव्यानि) मनोमय सूक्ष्म (रूपाणि) रूपों को (पश्य) देख।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

पश्य, आदित्यान्, वसून्, रुद्रान्, अश्विनौ, मरुत , तथा,
बहूनि, अदृष्टपूर्वाणि, पश्य, आश्चर्याणि, भारत ॥ ६ ॥

(भारत) हे अर्जुन ! (आदित्यान्) आदित्यो को, (वसून्) वसुओ को, (रुद्रान्) रुद्रो को, (अश्विनौ) अश्विनी कुमारो को, और (मरुत) मरुद्गणो को (पश्य) देख, (तथा) तथा और भी (बहूनि) बहुत से (अदृष्ट-पूर्वाणि) पहले न देखे हुए (आश्चर्याणि) आश्चर्यों को (पश्य) देख ।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

इह, एकस्थम्, जगत्, कृत्स्नम्, पश्य, अद्य, सचराचरम्,
मम, देहे, गुडाकेश, यत्, च, अन्यत्, द्रष्टुम्, इच्छसि ॥ ७ ॥

(गुडाकेश) हे अर्जुन ! (अद्य) अभी (इह) यहीं पर (मम) मेरे (देहे) शरीर मे (एकस्थम्) एकत्व भाव से स्थित हुए (कृत्स्नम्) सम्पूर्ण (सचराचरम्) चराचर (जगत्) जगत को (पश्य) देख, तथा (अन्यत्) और (च) भी (यत्) जो कुछ (द्रष्टुम्) देखना (इच्छसि) चाहता हो, सो अपनी कल्पना मे मानसिक दिव्य दृष्टि से देख ले ।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

न, तु, माम्, शक्यसे, द्रष्टुम्, अनेन, एव, स्वचक्षुषा,
दिव्यम, ददामि, ते, चक्षु, पश्य, मे, योगम्, ऐश्वरम् ॥ ८ ॥

(तु) परन्तु (माम्) मुझ को, अर्थात् मेरे विश्वरूप को (अनेन एव) इन्हीं (स्वचक्षुषा) अपने स्थूल भौतिक आखो से (द्रष्टुम् न शक्यसे) नही देख सकेगा, इसलिए (ते) तुझे (दिव्यम्) मनोयोग की सूक्ष्म दिव्य (चक्षु) दृष्टि (ददामि) मैं देता हूँ, जिससे तू (मे) मेरे (ऐश्वरम्) ईश्वरीय अर्थात् एक मे अनेक और अनेकों में एक होने की (योगम्) योग शक्ति को (पश्य) देख ।

सजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

एवम्, उक्त्वा, ततः, राजन्, महायोगेश्वरः, हरिः,
दर्शयामास, पार्थाय, परमम्, रूपम्, ऐश्वरम् ॥९॥

संजय बोला कि—

(राजन्) हे राजन्! (महायोगेश्वरः) महायोगेश्वर (हरिः) भगवान् ने (ततः) तब (एवम्) ऐसा (उक्त्वा) कहकर, (पार्थाय) अर्जुन को (परमम्) परम (ऐश्वरम्) ईश्वरीय (रूपम्) विश्वरूप, मनोयोग की दिव्य दृष्टि से (दर्शयामास) दिखाया।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेक दिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

अनेकवक्त्रनयनम्, अनेकाद्भुतदर्शनम्,
अनेकदिव्याभरणम्, दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

(दिव्य) मनोमय, कल्पित (अनेकवक्त्र नयनम्) अनेक मुखों और नेत्रों वाले (अनेकाद्भुत दर्शनम्) अनेक अद्भुत दृश्य, (अनेक आभरणम्) बहुत से आभूषणों से युक्त, और (दिव्यानेकोद्यतायुधम्) बहुत से मनोमय कल्पित शस्त्रों को उठाए हुए।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगंधानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

दिव्यमाल्याम्बरधरम्, दिव्यगन्धानुलेपनम्,
सर्वाश्चर्यमयम्, देवम्, अनन्तम्, विश्वतोमुखम् ॥११॥

(दिव्यमाल्याम्बरधरम्) मनोमय कल्पित माला और वस्त्रों को धारण किए हुए, (दिव्यगन्धानुलेपनम्) मनोमय कल्पित गन्धों, केसर-चन्दन आदि का अनुलेपन किए हुए, (सर्वाश्चर्यमयम्) सब प्रकार के आश्चर्यों से युक्त (अनन्तम्) अपार (विश्वतोमुखम्) विश्वस्वरूप धारी (देवम्) परमदेव परमेश्वर को अर्जुन ने देखा।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

दिवि, सूर्यसहस्रस्य, भवेत्, युगपत्, उत्थिता,
यदि, भाः, सदृशी, सा, स्यात्, भासः, तस्य, महात्मनः ॥१२॥

(यदि) यदि (दिवि) आकाश में (सूर्य सहस्रस्य) हजारों सूर्यों की (भाः) ज्योति (युगपत्) एक साथ (उत्थिता) उदय (भवेत्) हो, तो (सा) वह भा

(तस्य) उस (महात्मनः) विश्वरूपधारी परमात्मा के (भास)प्रकाश के (सदृशी) सदृश (स्यात्) शायद ही होवे।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

तत्र, एकस्थम्, जगत्, कृत्स्नम्, प्रविभक्तम, अनेकधा,
अपश्यत्, देवदेवस्य, शरीरे, पाण्डव, तदा ॥१३॥

(अनेकधा) अनेक प्रकार के अलग अलग भावो मे (प्रविभक्तम्) विभाजित हुए (कृत्स्नम्) सारे (जगत्) जगत को, (तदा) उस समय (पाण्डव) अर्जुन ने (तत्र) वहाँ (देवदेवस्य) देवो के देव श्रीकृष्ण के (शरीरे) शरीर मे (एकस्थम्) एकत्र हुए (अपश्यत्) देखा।

ततः सः विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

ततः, स, विस्मयाविष्ट, हृष्टरोमा, धनंजय,
प्रणम्य, सिरसा, देवम्, कृताञ्जलि, अभाषत ॥१४॥

(ततः) तब (स) वह (विस्मयाविष्ट) आश्चर्यचकित, (हृष्टरोमा) हर्ष से रोमाचयुक्त (धनंजय) अर्जुन, (देवम्) विश्वरूपधारी परमात्मा को (शिरसा) सिर से (प्रणम्य) प्रणाम करके (कृताञ्जलिः) हाथ जोडे हुए (अभाषत) बोला।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

पश्यामि, देवान्, तव, देव, देहे, सर्वान्, तथा, भूतविशेषसघान्,
ब्रह्माणम्, ईशम्, कमलासनस्थम्, ऋषीन्, च, सर्वान्, उरगान्, च, दिव्यान् ॥१५॥

अर्जुन बोला कि—

(देव) हे देव! (तव) आपके (देहे) शरीर मे (दिव्यान्) मनोमय सूक्ष्म भाव से (सर्वान्) सब (देवान्) देवो को (तथा) तथा (भूतविशेष सघान्) पच महाभूतो के सम्मिश्रण के विशेष बनावो को, (च) और (कमलासनस्थम्) कमल के आसन पर बैठे हुए (ब्रह्माणम् ईशम्) प्रजापति ब्रह्मा को, (सर्वान्) सब (ऋषीन्) ऋषियो को, (च) तथा (उरगान्) सर्पों को (पश्यामि) देखता हूँ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।१६।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्, पश्यामि, त्वाम्, सर्वतः, अनन्तरूपम्,
न, अन्तम्, न, मध्यम्, न, पुनः, तव, आदिम्, पश्यामि,
विश्वेश्वर, विश्वरूप ॥ १६ ॥

(विश्वेश्वर) हे सम्पूर्ण विश्व के स्वामिन्! (त्वाम्) आपको (अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्) अनेक हाथ, पेट, मुख और नेत्रों से युक्त (सर्वतः) सर्वत्र (अनन्त रूपम्) अनन्त रूपों वाला (पश्यामि) देखता हूँ। (विश्वरूप) हे विश्वरूप! (तव) आपके (न) न (अन्तम्) अन्त को (न) न (मध्यम्) मध्य को (पुनः) और (न आदिम्) न आदि को (पश्यामि) देखता हूँ।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तं।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥१७॥

किरीटिनम्, गदिनम्, चक्रिणम्, च, तेजोराशिम्, सर्वतः,
दीप्तिमन्तम्, पश्यामि, त्वाम्, दुर्निरीक्ष्यम्, समन्तात्,
दीप्तानलार्कद्युतिम्, अप्रमेयम् ॥ १७ ॥

(त्वाम्) आपको (किरीटिनम्) मुकुट, (गदिनम्) गदा (च) और (चक्रिणम्) चक्र धारण किये हुए, (सर्वतः) सब तरफ (दीप्तिमन्तम्) प्रकाशमान (तेजोराशिम्) तेज का पुंज, (दीप्तानलार्कद्युतिम्) प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के सदृश ज्योतियुक्त (दुर्निरीक्ष्यम्) दृष्टि को चकाचौंध करने वाला (अप्रमेयम्) अतुलनीय, अपार (समन्तात्) सर्व रूप (पश्यामि) देखता हूँ।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥१८॥

त्वम्, अक्षरम्, परमम्, वेदितव्यम्, त्वम्, अस्य, विश्वस्य,
परम्, निधानम्, त्वम्, अव्ययः, शाश्वतधर्मगोप्ता, सनातनः,
त्वम्, पुरुषः, मतः, मे ॥ १८ ॥

(त्वम्) आप (परम अक्षरम्) परम अक्षर अर्थात् पूर्ण सत्य, (वेदितव्यम्) जानने योग्य हो; (त्वम्) आप (अस्य) इस (विश्वस्य) जगत के (परम) परम (निधानम्) आश्रय अर्थात् अन्तिम सत्ता हो; (त्वम्) आप (शाश्वत धर्मगोप्ता) सत्य धर्म के रक्षक हो; और (त्वम्) आप ही (अव्ययः) अविनाशी (सनातनः) सनातन (पुरुषः) पुरुष हो; ऐसा (मे) मेरा (मतः) मत है।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामित्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥१९॥

अनादिमध्यान्तम्, अनन्तवीर्यम्, अनन्तबाहुम्, शशिसूर्यनेत्रम्,
पश्यामि, त्वाम्, दीप्तहुताशवक्त्रम्, स्वतेजसा, विश्वम्, इदम् तपन्तम् ॥ १९ ॥

(त्वाम्) आप को (अनादिमध्यान्तम्) आदि, अन्त और मध्य से रहित, (अनन्तवीर्यम्) अनन्त शक्ति सम्पन्न, (अनन्तबाहुम्) अनन्त हाथों वाला, (शशिसूर्यनेत्रम्) चन्द्र-सूर्य रूप नेत्रोंवाला, (दीप्तहुताशवक्त्रम्) प्रज्वलित अग्निरूप मुख वाला, तथा (स्वतेजसा) अपने तेज से (इदम्) इस (विश्वम्) जगत को (तपन्तम्) तपायमान करते हुए (पश्यामि) देखता हूँ।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

द्यावापृथिव्यो, इदम्, अन्तरम्, हि, व्याप्तम्, त्वया, ऐकेन, दिशः, च, सर्वाः,
दृष्ट्वा, अद्भुतम्, रूपम्, उग्रम्, तव, इदम्, लोकत्रयम्, प्रव्यथितम्, महात्मन् ॥२०॥

(महात्मन्) हे महात्मन (इदम्) यह (द्यावापृथिव्यो) आकाश और पृथिवी के (अन्तरम्) बीच का सम्पूर्ण अन्तरिक्ष (च) तथा (सर्वाः) सब (दिशः) दिशाएँ (ऐकेन) एक (त्वया) आप से (हि) ही (व्याप्तम्) परिपूर्ण हैं, (तव) आपके (इदम्) इस (अद्भुतम्) अलौकिक (उग्रम्) भयकर (रूपम्) रूपको (दृष्ट्वा) देखकर (लोकत्रयम्) तीनों लोक अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ससार (प्रव्यथितम्) अतिव्यथित हो रहे हैं, अर्थात् घबड़ा रहे है।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।२१।

अमी, हि, त्वाम्, सुरसघा, विशन्ति, केचित्, भीताः, प्राञ्जलयः, गृणन्ति,
स्वस्ति, इति, उक्त्वा, महर्षिसिद्धसघाः, स्तुवन्ति, त्वाम्, स्तुतिभिः, पुष्कलाभिः ॥२१॥

(अमी) ये (सुरसंघा) देवताओं के समूह (त्वाम्) आपमे (हि) ही (विशन्ति) प्रवेश कर रहे हैं, (केचित्) कई एक (भीताः) भयभीत होकर (प्रांजलयः) हाथ जोड़े हुए (गृणन्ति) प्रार्थना करते हैं; (महर्षिसिद्धसघाः) महर्षि और सिद्धों के समुदाय (स्वस्ति) कल्याण होवे, (इति) ऐसा (उक्त्वा) कहकर (पुष्कलाभिः) उत्तम-उत्तम (स्तुतिभिः) स्तोत्रों द्वारा (त्वाम्) आपकी (स्तुवन्ति) स्तुति करते हैं।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

रुद्रादित्याः, वसवः, ये, च, साध्याः, विश्वे, अश्विनौ, मरुतः, च, ऊष्मपाः, च, गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः, वीक्षन्ते, त्वाम्, विस्मिताः, च, एव, सर्वे ॥ २२ ॥

(रुद्रादित्याः) रुद्र, आदित्य (च) और (वसवः) वसु, (साध्याः) साध्यगण, (विश्वे) विश्वे देव, (अश्विनौ) अश्विनीकुमार, (मरुतः) मरुद्गण, (च) तथा (ऊष्मपाः) पितरों का समुदाय (च) और (ये) जो (गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः) गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धगणों के समुदाय (सर्वे) सब (एव) ही (विस्मिताः) विस्मित हुए (त्वाम्) आप को (वीक्षन्ते) देखते हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्र नेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

रूपम्, महत्, ते, बहुवक्त्रनेत्रम्, महाबाहो, बहुबाहूरुपादम्,
बहुदरम्, बहुदंष्ट्राकरालम्, दृष्ट्वा, लोकाः, प्रव्यथिताः, तथा, अहम् ॥२३॥

(महाबाहो) हे महाबाहो ! (ते) आपके (बहुवक्त्रनेत्रम्) बहुत से मुखों, नेत्रों, (बहुबाहूरुपादम्) बहुत से हाथों, जंघाओं, पैरों, (बहूदरम्) बहुत से उदरों, (बहुदंष्ट्रा-करालम्) बहुत से विकराल दाड़ों वाले, (महत्) महान (रूपम्) रूप को (दृष्ट्वा) देखकर (लोकाः) सब लोक (तथा) तथा (अहम्) मैं भी (प्रव्यथिताः) व्याकुल हो रहे हैं।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

नभःस्पृशम्, दीप्तम्, अनेकवर्णम्, व्यात्ताननम्, दीप्तविशालनेत्रम्,
दृष्ट्वा, हि, त्वाम्, प्रव्यथितान्तरात्मा, धृतिम्, न, विन्दामि, शमम्, च, विष्णो ॥२४

(हि) क्योंकि (दीप्तम् अनेकवर्णम्) अनेक प्रकाशमान वर्णों से युक्त, (नभःस्पृशम्) गगन-स्पर्शी (व्यात्ताननम्) फैलाये हुए मुख, और (दीप्त विशाल-नेत्रम्) देदीप्यमान विशाल नेत्रों वाले (त्वाम्) आपको (दृष्ट्वा) देखता हुआ, (प्रव्यथितान्तरात्मा) मैं व्याकुल होकर (धृतिम्) धीरज (च) और (शमम्) शान्ति को (न) नहीं (विन्दामि) पाता हूँ।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

दंष्ट्राकरालानि, च, ते, मुखानि, दृष्ट्वा, एव, कालानलसन्निभानि,
दिशः, न, जाने, न, लभे, च, शर्म, प्रसीद, देवेश, जगन्निवास ॥ २५ ॥

(च) और (ते) आपके (दंष्ट्राकरालानि) विकराल दाड़ों वाले, (कालानल-

सन्निभानि) प्रलयकाल की अग्नि के समान प्रज्वलित (मुखानि) मुखों को (दृष्ट्वा) देखकर, मैं (दिशः) दिशाओं को (न) नहीं (जाने) जानता हूँ; (च) और (न) न (शर्म) चैन (एव) ही (लभे) पाता हूँ; (देवेश) हे देवेश! (जगन्निवास) हे जगन्निवास! (प्रसीद) आप प्रसन्न होइये।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

अमी, च, त्वाम्, धृतराष्ट्रस्य, पुत्राः, सर्वे, सह, एव, अवनिपालसंघैः,
भीष्मः, द्रोणः, सूतपुत्रः, तथा, असौ, सह, अस्मदीयैः, अपि, योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

(त्वाम्) आपके विश्वरूप में (अवनिपालसंघैः) राजाओं के समुदाय (सह) सहित (अमी) ये (सर्वे) सब (एव) ही (धृतराष्ट्रस्य) धृतराष्ट्र के (पुत्राः) पुत्र (च) और (अस्मदीयैः) हमारे पक्ष के (अपि) भी (योधमुख्यैः) प्रधान योद्धाओं के (सह) सहित (भीष्मः) भीष्मपितामह (द्रोणः) द्रोणाचार्य (तथा) तथा (असौ) वह (सूतपुत्रः) कर्ण,

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

वक्त्राणि, ते, त्वरमाणाः, विशन्ति, दंष्ट्राकरालानि, भयानकानि,
केचित्, विलग्नाः, दशनान्तरेषु, संदृश्यन्ते, चूर्णितैः, उत्तमाङ्गैः ॥२७॥

(त्वरमाणाः) बड़े वेग से (ते) आपके (दंष्ट्राकरालानि) विकराल दाढ़ों वाले (भयानकानि) भयानक (वक्त्राणि) मुखों में (विशन्ति) प्रवेश कर रहे हैं; (केचित्) कई (चूर्णितैः) चकनाचूर हुए (उत्तमाङ्गैः) मस्तकों से आपके (दशनान्तरेषु) दांतों के बीच में (विलग्नाः) फंसे हुए (संदृश्यन्ते) दीखते हैं।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ।२८।

यथा, नदीनाम्, बहवः, अम्बुवेगाः, समुद्रम्, एव, अभिमुखाः, द्रवन्ति,
तथा, तव, अमी, नरलोकवीराः, विशन्ति, वक्त्राणि, अभिविज्वलन्ति ॥२८॥

(यथा) जैसे (नदीनाम्) नदियों के (बहवः) बहुत से (अम्बुवेगाः) जल के प्रवाह (समुद्रम्) समुद्र के (एव) ही (अभिमुखाः) तरफ (द्रवन्ति) दौड़ते हैं, अर्थात् वेग से समुद्र में प्रवेश करते हैं, (तथा) वैसे ही (अमी) ये (नरलोकवीराः) शूरवीर मनुष्यों के समुदाय (तव) आपके (अभिविज्वलन्ति) प्रज्वलित (वक्त्राणि) मुखों में (विशन्ति) धड़ाधड़ प्रवेश कर रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥२९॥

यथा, प्रदीप्तम्, ज्वलनम्, पतङ्गाः, विशन्ति, नाशाय, समृद्धवेगाः,
तथा, एव, नाशाय, विशन्ति, लोकाः, तव, अपि, वक्त्राणि, समृद्धवेगाः ॥२९॥

(**यथा**) जैसे (**पतङ्गाः**) पतंग (**नाशाय**) नष्ट होने के लिए (**प्रदीप्तम्**) प्रज्वलित (**ज्वलनम्**) अग्नि में (**समृद्धवेगाः**) अति वेग से (**विशन्ति**) गिरते हैं, (**तथा**) वैसे (**एव**) ही (**लोकाः**) ये सब लोग (**अपि**) भी (**नाशाय**) अपने नाश के लिए (**तव**) आपके (**वक्त्राणि**) मुखों में (**समृद्धवेगाः**) अति वेग से (**विशन्ति**) गिर रहे हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥३०॥

लेलिह्यसे, ग्रसमानः, समन्तात्, लोकान्,
समग्रान्, वदनैः, ज्वलद्भिः, तेजोभिः, आपूर्य, जगत्,
समग्रम्, भासः, तव, उग्राः, प्रतपन्ति, विष्णो ॥३०॥

(**समग्रान्**) सब (**लोकान्**) लोकों को, (**ज्वलद्भिः**) प्रज्वलित (**वदनैः**) मुखों द्वारा (**ग्रसमानः**) ग्रास करते हुए, आप (**समन्तात्**) खूब अच्छी तरह स्वाद ले लेकर (**लेलिह्यसे**) चाट रहे हो; (**विष्णो**) हे विष्णो! (**तव**) आपका (**उग्राः**) तीव्र (**भासः**) प्रकाश (**समग्रम्**) सम्पूर्ण (**जगत्**) जगत को (**तेजोभिः**) तेज के द्वारा (**आपूर्य**) परिपूर्ण करके (**प्रतपन्ति**) तपायमान कर रहा है।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।३१।

आख्याहि, मे, कः, भवान्, उग्ररूपः, नमः, अस्तु, ते,
देववर, प्रसीद, विज्ञातुम्, इच्छामि, भवन्तम्, आद्यम्,
न, हि, प्रजानामि, तव, प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

(**मे**) मुझे (**आख्याहि**) बताइये कि (**उग्ररूपः**) इस भयानक रूप वाले (**भवान्**) आप (**कः**) कौन हैं? (**देववर**) हे देवों में श्रेष्ठ! (**ते**) आपको (**नमः**) नमस्कार (**अस्तु**) है, आप (**प्रसीद**) प्रसन्न होइये। (**आद्यम्**) आदि पुरुष (**भवन्तम्**) आप को, मैं (**विज्ञातुम्**) जानना (**इच्छामि**) चाहता हूँ; (**हि**) क्योंकि (**तव**) आपकी (**प्रवृत्तिम्**) प्रवृत्ति को, मैं (**न**) नहीं (**प्रजानामि**) जानता, अर्थात् मैं नहीं जानता कि आप इस समय क्या करने के लिए उद्यत हुए हैं।

श्री भगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

कालः, अस्मि, लोकक्षयकृत्, प्रवृद्धः, लोकान्, समाहर्तुम्, इह, प्रवृत्तः, ऋते, अपि, त्वाम्, न, भविष्यन्ति, सर्वे, ये, अवस्थिताः, प्रत्यनीकेषु, योधाः ॥ ३२ ॥

श्री भगवान बोले कि—

(लोकक्षयकृत्) लोकों के क्षयकारी कर्मों से (प्रवृद्धः) बढ़ा हुआ (कालः) काल (अस्मि) मैं हूं, (इह) इस समय इन (लोकान्) लोगों को (समाहर्तुम्) संहार करने के लिए (प्रवृत्तः) उद्यत हूं, (ये) जो (प्रत्यनीकेषु) प्रतिपक्षियों की सेना में (अवस्थिताः) उपस्थित (योधाः) योधा लोग हैं, (सर्वे) वे सब (त्वाम्) तेरे (ऋते) लड़े बिना (अपि) भी (न) जीवित नहीं (भविष्यन्ति) रहेंगे।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

तस्मात्, त्वम्, उत्तिष्ठ, यशः, लभस्व, जित्वा, शत्रून्, भुङ्क्ष्व, राज्यम्, समृद्धम्, मया, एव, एते, निहताः, पूर्वम्, एव, निमित्तमात्रम्, भव, सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

(तस्मात्) इसलिए (त्वम्) तू (उत्तिष्ठ) उठ खड़ा हो; (यशः) यश को (लभस्व) प्राप्त कर; तथा (शत्रून्) दुष्ट शत्रुओं को (जित्वा) जीतकर (समृद्धम्) समृद्धि सम्पन्न (राज्यम्) राज्य को (भुङ्क्ष्व) भोग; (एते) ये सब शूरवीर (पूर्वम्) पहले (एव) ही (मया) मेरे द्वारा (निहताः) मारे हुए हैं, (सव्यसाचिन्) हे सव्यसाचिन् अर्जुन! (निमित्तमात्रम्) तू केवल निमित्त मात्र (एव) ही (भव) हो जा।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

द्रोणम्, च, भीष्मम्, च, जयद्रथम्, च, कर्णम्, तथा, अन्यान्, अपि, योधवीरान्, मया, हतान्, त्वम्, जहि, मा, व्यथिष्ठाः, युध्यस्व, जेतासि, रणे, सपत्नान् ॥ ३४ ॥

(द्रोणम्) द्रोणाचार्य, (च) और (भीष्मम्) भीष्म पितामह, (च) और

(जयद्रथम्) जयद्रथ, (च) और (कर्णम्) कर्ण, (च) तथा (अन्यान्, अपि) दूसरे भी, (मया) मेरे द्वारा (हतान्) मारे हुए, (योधवीरान्) शूरवीर योद्धाओं को (त्वम्) तू (जहि) मार; (मा व्यथिष्ठाः) व्याकुल मत हो; (रणे) युद्ध में (सपत्नान्) वैरियों को (जेतासि) तू निःसन्देह जीतेगा; (युध्यस्व) युद्ध कर।

संगति—भेदवादी लोग इन ३२ से ३४ श्लोकों के आधार पर यह सिद्ध करने का असफल प्रयत्न करते हैं, कि संसार में मनुष्य के किए कुछ नहीं होता; जो ईश्वर कराता हैं, वही होता है; मनुष्य तो केवल उसका निमित्त मात्र हथियार है। परन्तु गीता के पूर्वापर की संगति मिलाने से यह सिद्धान्त टिक नहीं सकता। ईश्वर मनुष्यों के बाहर नहीं है, जो अलग रहता हुआ उनके द्वारा अच्छे-बुरे कर्म करवावे (गीता अ० ५ श्लोक १४-१५); किन्तु ईश्वर सबके हृदय में रहने वाला, मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि के संघात का स्वामी, सबका अपना आप है; जो अपनी स्वतन्त्र इच्छा से शरीरों द्वारा अच्छे-बुरे कर्म करता रहता है (गी० अ० १५ श्लोक ८, अ० १८ श्लोक ६१)। मनुष्य के शरीर में विशेष चेतना और बुद्धि का विकास होने के कारण, वह कर्म करने में स्वतन्त्र है; और अच्छे-बुरे की जाँच करने की भी उसमें योग्यता होती है, अतः वह जैसे कर्म करता है, वैसे ही उसकी प्रतिक्रिया रूप फल भोगता है, और उसके कर्मों के अनुसार, फल भुगताने का माध्यम अथवा निमित्त भी बन जाता है। यह समष्टि प्रकृति का अटल नियम है। महाभारत के युद्ध में एकत्र हुए योद्धाओं की आयु, उनके अपने कर्मों के फलस्वरूप समाप्त हो चुकी थी, और उनके मारे जाने का माध्यम अथवा निमित्त, उनके कर्मों के प्रतिफलस्वरूप, अर्जुन का होना न्यायसंगत एवं आवश्यक था। उसके शरीर में उन आततायियों से लड़कर मारने की स्वाभाविक योग्यता थी; इसलिए यह उसका नियत कर्म था। अपना नियत कर्म करने से हिंसा आदि का पाप नहीं लगता (गी० अ० १८ श्लोक १७); और वैसा करने से जो राज्य भोग अथवा यश प्राप्त हो, उनको भोगने से कोई बन्धन नहीं होता; किन्तु अपने नियत कर्म न करने से पाप लगता है और बन्धन होता है (गी० अ० ४ श्लोक १८ से २४, अ० १८ श्लोक ५८ से ६०)। इन श्लोकों में भगवान ने अर्जुन को यह रहस्य समझाकर अपना कर्तव्य कर्म करने के लिए उत्साहित किया है।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥३५॥

एतत्, श्रुत्वा, वचनम्, केशवस्य, कृताञ्जलिः, वेपमानः,
किरीटी, नमस्कृत्वा, भूयः, एव, आह, कृष्णम्, सगद्गदम्,
भीतभीत , प्रणम्य ॥ ३५ ॥

संजय बोला कि—

(केशवस्य) केशव भगवान के (एतत्) यह (वचनम्) वचन (श्रुत्वा) सुनकर, (किरीटी) मुकुटधारी अर्जुन, (कृताञ्जलि) हाथ जोड़े हुए, (वेपमानः) कांपता हुआ, (नमस्कृत्वा) नमस्कार करके, (भूयः) फिर (एव) भी (भीतभीत.) भयभीत हुआ, (प्रणम्य) प्रणाम करके (कृष्णम्) कृष्ण भगवान के प्रति (सगद्गदम्) गद्गद वाणी से (आह) बोला ।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ ३६॥

स्थाने, हृषीकेश, तव, प्रकीर्त्या, जगत्, प्रहृष्यति, अनुरज्यते,
च, रक्षांसि, भीतानि, दिशः, द्रवन्ति, सर्वे, नमस्यन्ति, च,
सिद्धसघाः ॥ ३६ ॥

अर्जुन बोला कि—

(हृषीकेश) हे अन्तर्यामिन् ! (स्थाने) यह ठीक ही है कि (तव) आपकी (प्रकीर्त्या) महिमा के कीर्तन से (जगत्) ससार के लोग (प्रहृष्यति) अति हर्षित होते हैं; (च) और उसमे (अनुरज्यते) अनुराग रखते हैं, (रक्षांसि) राक्षस लोग (भीतानि) भयभीत हुए (दिशः) दिशाओ मे (द्रवन्ति) भागते हैं, (च) और (सर्वे) सब (सिद्धसघा) सिद्धगणो के समुदाय आपको (नमस्यन्ति) नमस्कार करते हैं ।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७॥

कस्मात्, च, ते, न, नमेरन्, महात्मन्, गरीयसे, ब्रह्मणः,
अपि, आदिकर्त्रे, अनन्त, देवेश, जगन्निवास, त्वम्, अक्षरम्,
सत्, असत्, तत्परम्, यत् ॥ ३७ ॥

(महात्मन्) हे महात्मन् ! (ते) आप को वे (कस्मात्) क्यो (न नमेरन्) नमस्कार नही करें; (ब्रह्मण) आप ब्रह्मा से (अपि) भी (गरीयसे) महान (च) और (आदिकर्त्रे) सबके आदि कारण हो, (अनन्त) हे अनन्त ! (देवेश) हे देवेश ! (जगन्निवास)

हे जगन्निवास! (यत्) जो (सत्) सत्, (असत्) असत् और (तत्परम्) उनसे भी परे (अक्षरम्) अक्षर, अर्थात् पुरुषोत्तम (त्वम्) आप हो।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

त्वम्, आदिदेवः, पुरुषः, पुराणः, त्वम्, अस्य, विश्वस्य, परम्, निधानम्, वेत्ता, असि, वेद्यम्, च, परम्, च, धाम, त्वया, ततम्, विश्वम्, अनन्तरूप ॥ ३८ ॥

(त्वम्) आप (आदिदेवः) आदिदेव, (पुराणः) सनातन (पुरुषः) पुरुष हो; (त्वम्) आप (अस्य) इस (विश्वस्य) विश्व के (परम्) परम (निधानम्) सत्ता स्वरूप आश्रय, (च) और (वेत्ता) जानने वाले हो; (च) तथा (वेद्यम्) जानने योग्य (परम्) परम (धाम) धाम (असि) हो; (अनन्तरूप) हे अनन्तरूप! (त्वया) आप से (विश्वम्) यह सब जगत (ततम्) व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

वायुः, यमः, अग्निः, वरुणः, शशाङ्कः, प्रजापतिः, त्वम्, प्रपितामहः, च, नमः, नमः, ते, अस्तु, सहस्रकृत्वा, पुनः, च, भूयः, अपि, नमः, नमः, ते ॥ ३९ ॥

(वायुः) वायु, (यमः) यम, (अग्निः) अग्नि, (वरुणः) वरुण, (शशाङ्कः) चन्द्रमा, तथा (प्रजापतिः) समष्टि मन रूप प्रजापति ब्रह्मा, (च) और (प्रपितामहः) ब्रह्मा के भी पिता, अर्थात् कारण (त्वम्) आप हो; (ते) आपको (सहस्रकृत्वाः) हजारों वार (नमः) नमस्कार, (नमः) नमस्कार (अस्तु) है; (ते) आपको (भूयः) फिर (अपि) भी (पुनः च) वारंवार (नमः) नमस्कार, (नमः) नमस्कार है।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

नमः, पुरस्तात्, अथ, पृष्ठतः, ते, नमः, अस्तु, ते, सर्वतः, एव, सर्व, अनन्तवीर्य, अमितविक्रमः, त्वम्, सर्वम्, समाप्नोषि, ततः, असि, सर्वः ॥ ४० ॥

(सर्व) हे सर्वात्मन्! (ते) आपको (पुरस्तात्) आगे से, (अथ) और (पृष्ठतः) पीछे से भी (नमः) नमस्कार है; (ते) आपको (सर्वतः) सब ओर से (एव) ही (नमः) नमस्कार (अस्तु) है; (अनन्तवीर्य) हे अनन्तवीर्य! (अमितविक्रमः) अपार विक्रम वाले! (त्वम्) आप (सर्वम्) सब संसार को (समाप्नोषि) व्याप्त किये हुए हो, (ततः) इसलिए आप (सर्वः) सर्व (असि) हो।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

सखा, इति, मत्वा, प्रसभम्, यत्, उक्तम्, हे कृष्ण, यादव, हे सखा, इति,
अजानता, महिमानम्, तव, इदम्, मया, प्रमादात्, प्रणयेन, वा, अपि ॥४१॥

(तव) आपकी (इदम्) इस, सर्वात्मभाव की (महिमानम्) महिमा को (अजानता) न जानते हुए, (सखा) आपको मित्र की (इति) तरह, एक व्यक्ति-विशेष (मत्वा) मानकर, (मया) मेरे द्वारा (प्रणयेन) प्रेम से (वा) अथवा (प्रमादात्) प्रमाद से (अपि) भी, (हे कृष्ण) हे कृष्ण ! (हे यादव) हे यादव ! (हे सखा) हे सखे ! (इति) इस प्रकार के व्यक्ति भाव के सम्बोधन (यत्) जो (प्रसभम्) सहज स्वभाव के वश (उक्तम्) कहे गये हैं;

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

यत्, च, अवहासार्थम्, असत्, कृतः, असि, विहारशय्यासनभोजनेषु,
एकः, अथवा, अपि, अच्युत, तत्समक्षम्, तत्, क्षामये, त्वाम्, अहम्, अप्रमेयम् ॥४२॥

(च) और (अच्युत) हे अच्युत ! (यत्) जो (विहारशय्यासनभोजनेषु) घूमते-फिरते, सोते-बैठते, भोजन करते समय, (एकः) एकान्त में (अथवा) अथवा (तत्समक्षम्) दूसरों के सामने, (अपि) भी, (अवहासार्थम्) हास्य-विनोद के लिए, (असत्कृतः) आपका अपमान हुआ (असि) है, (अप्रमेयम्) हे अप्रमेय, अर्थात् प्रमाण से परे अपार परमात्मन् ! (तत्) वह (त्वाम्) आपसे (अहम्) मैं (क्षामये) क्षमा करवाना चाहता हूँ।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ।४३।

पिता, असि, लोकस्य, चराचरस्य, त्वम्, अस्य, पूज्यः, च, गुरुः, गरीयान्,
न, त्वत्समः, अस्ति, अभ्यधिकः, कुतः, अन्यः, लोकत्रये, अपि, अप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

(त्वम्) आप (अस्य) इस (चराचरस्य) चराचर (लोकस्य) जगत के (पिता) पिता, (पूज्यः) पूज्य, (च) और (गरीयान्) बड़े से भी बड़े (गुरुः) गुरु (असि) हो; (अप्रतिमप्रभाव) हे उपमारहित प्रभाववाले ! (लोकत्रये) तीनों लोकों में, अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक भावों की त्रिलोकी में, (त्वत्समः) आपके समान (अपि) भी (अन्यः) दूसरा कोई (न) नहीं (अस्ति) है, फिर (अभ्यधिकः) आप से अधिक (कुतः) कैसे होवे ।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

तस्मात्, प्रणम्य, प्रणिधाय, कायम्, प्रसादये, त्वाम्, अहम्, ईशम्, ईड्यम्,
पिता, इव, पुत्रस्य, सखा, इव, सख्युः, प्रियः, प्रियायाः, अर्हसि, देव, सोढुम् ॥४४॥

(**तस्मात्**) इसलिए, (**ईड्यम्**) स्तुति करने योग्य (**त्वाम्**) आप (**ईशम्**) ईश्वर को (**प्रसादये**) प्रसन्न करने के लिए, (**अहम्**) मैं (**प्रणिधाय कायम्**) साष्टांग (**प्रणम्य**) प्रणाम करके प्रार्थना करता हूँ कि (**देव**) हे देव ! (**इव**) जैसे (**पिता**) पिता (**पुत्रस्य**) पुत्र के, (**सखा**) मित्र (**सख्युः**) मित्र के, और (**इव**) जैसे (**प्रियः**) पति (**प्रियायाः**) प्रिय पत्नी के अपराध सहन करते हैं; (**सोढुम् अर्हसि**) वैसे ही आप मेरे अपराध सहन करें।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

अदृष्टपूर्वम्, हृषितः, अस्मि, दृष्ट्वा, भयेन, च, प्रव्यथितम्,
मनः, मे, तत्, एव, मे, दर्शय, देव, रूपम्, प्रसीद, देवेश, जगन्निवास ॥४५॥

(**अदृष्टपूर्वम्**) पहले कभी न देखे हुए, आश्चर्यमय आपके इस रूप को (**दृष्ट्वा**) देखकर, मैं (**हृषितः**) हर्षित हो रहा (**अस्मि**) हूँ, और (**मे**) मेरा (**मनः**) मन (**भयेन**) भय से (**प्रव्यथितम् च**) अति व्याकुल भी हो रहा है; (**देव**) हे देव ! (**तत्**) उस (**एव**) ही, चतुर्भुज (**रूपम्**) रूप को (**मे**) मुझे (**दर्शय**) दिखाइये; (**देवेश**) हे देवेश ! (**जगन्निवास**) हे जगन्निवास ! (**प्रसीद**) प्रसन्न होइये।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

किरीटिनम्, गदिनम्, चक्रहस्तम्, इच्छामि, त्वाम्, द्रष्टुम्,
अहम्, तथा, एव, तेन, एव, रूपेण, चतुर्भुजेन, सहस्रबाहो, भव, विश्वमूर्ते ॥४६॥

(**अहम्**) मैं (**त्वाम्**) आपको, (**किरीटिनम्**) मुकुट धारण किये हुए, (**गदिनम् चक्रहस्तम्**) शंख, चक्र गदा और पद्म हाथों में लिए हुए, (**तथा**) वैसे (**एव**) ही (**द्रष्टुम्**) देखना (**इच्छामि**) चाहता हूँ; (**विश्वमूर्ते**) हे विश्वमूर्ते ! (**सहस्रबाहो**) हे सहस्रबाहो ! (**तेन**) उस (**एव**) ही (**चतुर्भुजेन**) चतुर्भुज (**रूपेण**) रूप से आप युक्त (**भव**) होइये।

श्री भगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

मया, प्रसन्नेन, तव, अर्जुन, इदम्, रूपम्, परम्, दर्शितम्, आत्मयोगात्, तेजोमयम्, विश्वम्, अनन्तम्, आद्यम्, यत्, मे, त्वदन्येन, न, दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

श्री भगवान बोले कि—

(अर्जुन) हे अर्जुन ! (मया) मैंने (प्रसन्नेन) प्रसन्नता पूर्वक ही (आत्मयोगात्) अपनी योग शक्ति के प्रभाव से, (इदम्) यह (मे) मेरा (परम्) परम (तेजोमयम्) तेजोमय (आद्यम्) अनादि, (अनन्तम्) अपार (विश्वम्) विश्व (रूपम्) रूप (तव) तुझे (दर्शितम्) दिखाया है, (यत्) जो कि (त्वदन्येन) तेरे सिवाय दूसरे से (न दृष्टपूर्वम्) पहले नहीं देखा गया ।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूप शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

न, वेदयज्ञाध्ययनैः, न, दानैः, न, च, क्रियाभिः, न, तपोभिः, उग्रैः, एवंरूपः, शक्यः, अहम्, नृलोके, द्रष्टुम्, त्वदन्येन, कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

(कुरुप्रवीर) हे अर्जुन ! (नृलोके) मनुष्य लोक मे (अहम्) मैं (एवंरूपः) इस प्रकार विश्वरूप मे (न) न (वेदयज्ञाध्ययनैः) वेदो, यज्ञो और पठन-पाठन से, (न) न (दानैः) दान से, (न) न (क्रियाभिः) कर्म काण्डो से, (च) और (न) न (उग्रैः) उग्र (तपोभिः) तपो से ही (त्वदन्येन) तेरे सिवाय दूसरे से (द्रष्टुम्) देखा (शक्यः) जा सकता हूँ ।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

मा, ते, व्यथा, मा, च, विमूढभावः, दृष्ट्वा, रूपम्, घोरम्, ईदृक्, मम, इदम्, व्यपेतभीः, प्रीतमनाः, पुनः, त्वम्, तत्, एव, मे, रूपम्, इदम्, प्रपश्य ॥ ४९ ॥

(ईदृक्) इस तरह का (मे) मेरा (इदम्) यह (घोरम्) विकराल (रूपम्) रूप (दृष्ट्वा) देखकर (ते) तू (व्यथा) व्याकुल (मा) मत हो, (च) और (विमूढभावः) मूढ भी (मा) मत हो, (पुनः) फिर ((व्यपेतभीः) भय रहित,

(प्रीतमनाः) प्रीति युक्त मन से (त्वम्) तूं (तत् एव) उस ही (मे) मेरे (रूपम्) मुकुट धारण किये हुए, शंख, चक्र, गदा, पद्म सहित चतुर्भुज रूप को (इदम्) यह (प्रपश्य) देख।

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥५०॥

इति, अर्जुनम्, वासुदेवः, तथा, उक्त्वा, स्वकम्, रूपम्
दर्शयामास, भूयः, आश्वासयामास, च, भीतम्, एनम्,
भूत्वा, पुनः, सौम्यवपुः, महात्मा॥ ५०॥

संजय बोला कि—

(वासुदेवः) वासुदेव भगवान ने (अर्जुनम्) अर्जुन को (इति) इस प्रकार (उक्त्वा) कहकर, (तथा) वैसे ही (स्वकम्) अपने (रूपम्) चतुर्भुज रूप को (दर्शयामास) दिखाया; (च) और (पुनः) उसके बाद (महात्मा) महात्मा कृष्ण ने (भूयः) फिर से (सौम्यवपुः) सौम्य मनुष्य रूप (भूत्वा) होकर (एनम्) इस (भीतम्) भयभीत अर्जुन को (आश्वासयामास) आश्वासन दिया।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥ ५१॥

दृष्ट्वा, इदम्, मानुषम्, रूपम्, तव, सौम्यम्, जनार्दन,
इदानीम्, अस्मि, संवृत्तः, सचेताः, प्रकृतिम्, गतः॥ ५१॥

अर्जुन बोला कि—

(जनार्दन) हे जनार्दन! (तव) आपके (इदम्) इस (सौम्यम्) सौम्य (मानुषम्) मनुष्य (रूपम्) रूप को (दृष्ट्वा) देखकर (इदानीम्) अब मेरा (सचेताः) चित्त स्वस्थ (संवृत्तः) हुआ और (प्रकृतिम्) मैं अपनी प्राकृत अवस्था को (गतः) प्राप्त हो गया (अस्मि) हूँ।

श्री भगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥ ५२॥

सुदुर्दर्शम्, इदम्, रूपम्, दृष्टवानसि, यत्, मम,
देवा, अपि, अस्य, रूपस्य, नित्यम्, दर्शनकाङ्क्षिणः॥ ५२॥

श्री भगवान् बोले कि—

(मम) मेरे (यत्) जिस (रूपम्) विश्व रूप को (दृष्टवानसि) तूँने देखा है (इदम्) यह (सुदुर्दर्शम्) दीखना अति दुर्लभ है; (देवा) देवता लोग (अपि) भी (नित्यम्) सदा (अस्य रूपस्य) इस रूप के (दर्शनकाङ्क्षिण.) दर्शन करने की अभिलाषा करते हैं।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ ५३॥

न, अहम्, वेदै॰, न, तपसा, न, दानेन, न, च, इज्यया,
शक्य, एवंविधः, द्रष्टुम्, दृष्टवानसि, माम्, यथा॥ ५३॥

(न) न (वेदैः) वेदो से, (न) न (तपसा) तप से, (न) न (दानेन) दान से, (च) और (न) न (इज्यया) यज्ञ से, (एवंविधः) इस प्रकार (अहम्) मैं (द्रष्टुम्) देखा जा (शक्यः) सकता हूँ, (यथा) जैसे (माम्) मुझको (दृष्टवानसि) तूँने देखा है।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ ५४॥

भक्त्या, तु, अनन्यया, शक्य., अहम्, एवंविध, अर्जुन,
ज्ञातुम्, द्रष्टुम्, च, तत्त्वेन, प्रवेष्टुम्, च, परंतप॥ ५४॥

(तु) परन्तु (अर्जुन) हे अर्जुन! (परंतप) हे परन्तप! (अनन्यया) केवल अनन्य भाव की (भक्त्या) भक्ति से, अर्थात् सारे विश्व की एकता के निश्चय युक्त सबके साथ प्रेम का आचरण करने से, (अहम्) मैं (एवंविध) इस प्रकार (तत्त्वेन) तत्त्व से, अर्थात् आत्मज्ञान की समदृष्टि प्राप्त करके, (ज्ञातुम्) जाना (च) और (द्रष्टुम्) देखा, अर्थात् अनुभव किया, (च) तथा (प्रवेष्टुम्) प्रवेश किया जा (शक्य.) सकता हूँ, अर्थात मेरे सर्वात्मभाव मे समाया जा सकता है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जित॰।
निर्वैरः सर्वभूतेषु य. स मामेति पाण्डव॥ ५५॥

मत्, कर्मकृत्, मत्परम., मद्भक्त॰, सङ्गवर्जितः,
निर्वैरः, सर्वभूतेषु, य., स, माम्, एति, पाण्डव॥ ५५॥

(पाण्डव) हे अर्जुन! (य) जो (मत्कर्मकृत्) मेरे व्यक्त स्वरूप जगत के लिए कर्म करता है, (च) और (मत्परम) मेरे परायण है, अर्थात् मेरे व्यक्त स्वरूप सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करता है; तथा (मद्भक्त) मेरा भक्त है, अर्थात् सबके साथ प्रेम का वर्ताव करता है, (सङ्गवर्जित.) और आसक्ति से रहित (सर्व-

भूतेषु) संपूर्ण भूतप्राणियों में (निर्वैरः) वैर भाव से रहित है; (सः) वह (माम्) मुझको ही (एति) प्राप्त होता है।

संगति—यद्यपि अर्जुन भगवान् श्री कृष्ण को ईश्वर कोटि का महापुरुष मानता था, परन्तु भेदवाद के कर्मकाण्डात्मक वेदादि शास्त्रों का प्रभाव उसके अन्तःकरण पर इतना गहरा जमा हुआ था कि वह उनके, सारे विश्व की आत्मा होने के सर्वात्म भाव के रहस्य को स्थायी रूप से हृदयंगम नहीं कर सका था। अतः उन पर व्यक्ति भाव का आरोप कभी-कभी करता रहता था (अध्याय ४ श्लोक ४)। इस अध्याय में भगवान् का विश्व रूप देखकर उसने अपनी उस भयंकर भूल के लिए पश्चाताप करते हुए, उनसे अपने इस अपराध को क्षमा कराने की प्रार्थना की है (श्लोक ४१ से ४४)।

अर्जुन ने भगवान् कृष्ण के विश्व रूप में अनन्त ब्रह्माण्ड एकत्र देखे; जिनमें त्रिगुणात्मक प्रकृति के अनन्त प्रकार के परस्पर विरोधी जोड़ों (द्वन्द्वों) के अच्छे-बुरे बनाव एक साथ देखे; तब वह हर्ष और विषाद से अत्यन्त ही व्याकुल हो गया। उन दृश्यों का प्रभाव मन से हटाने व शान्ति प्राप्त करने के लिए उसने भगवान् से चतुर्भुज रूप दिखाने की प्रार्थना की; क्योंकि यदि जगत की भिन्नता के कल्पित बनावों का प्रभाव मन पर बना रहे और उनके मूल में सच्ची एकता का अनुभव न किया जाय, तो कभी शान्ति नहीं मिल सकती।

अर्जुन की इस प्रार्थना पर भगवान् ने सिर पर मुकुट, चार हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म लिए हुए रूप को उसी मनोयोग की दिव्य दृष्टि से अर्जुन को दिखाया। इस भावात्मक रूप में सिर पर मुकुट, सबकी एकता के साम्य भाव के अनुभव का प्रतीक है। हाथों में शंख, सब प्रकार की विद्याओं की निपुणता का, चक्र, कार्य कुशलता का तथा गदा, शारीरिक और मानसिक बल का एवं पद्म, अनासक्ति का प्रतीक है। जिस मानव देहधारी शरीर में इन गुणों का समावेश होता है, वह पूरा समत्वयोगी, पूर्ण-पुरुष-परमात्मा ही होता है।

अन्त में भगवान् दो बार जोर देकर कहते हैं कि यह सबकी एकता का अनुभव, भेदवाद के वेदादि शास्त्रों के अध्ययन से, और उनमें विधान किये हुए कर्मकाण्डों की अनेक प्रकार की क्रियाओं से नहीं होता, क्योंकि उनमें अनेकता के भाव भरे हुए हैं; किन्तु सबके साथ अनन्य भाव से, यथायोग्य प्रेम का आचरण करने रूपी मेरी भक्ति से ही प्राप्त होता है, और ऐसा करने वाला समत्वयोगी मेरे उपर्युक्त चतुर्भुज रूप के पूर्ण-पुरुष भाव को प्राप्त होता है।

॥ ग्यारहवां अध्याय समाप्त ॥



अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

एवम्, सततयुक्ता:, ये, भक्ता:, त्वाम्, पर्युपासते,
ये, च, अपि, अक्षरम्, अव्यक्तम्, तेषाम्, के, योगवित्तमा ॥१॥

अर्जुन ने पूछा कि—

(एवम्) इस पूर्वोक्त प्रकार से, अर्थात् ११ वें अध्याय के अन्त में आपके कहे हुए विधान के अनुसार, (सततयुक्ता) निरंतर एकता के साम्य भाव में जुड़े हुए (ये) जो (भक्ता.) अनन्य भाव से उपासना करने वाले भक्त, (त्वाम्) आपके व्यक्त स्वरूप सारे विश्व के साथ प्रेम का बर्ताव करने रूपी (पर्युपासते) आपकी सगुण उपासना करते हैं, (च) और (ये) जो लोग (अक्षरम्) अविनाशी (अपि) तथा (अव्यक्तम्) इंद्रियों के अगोचर निर्गुण को उपासते हैं, (तेषाम्) उनमें (योगवित्तमा) समत्व-योग के उत्तम जानकार (के) कौन है ?

श्री भगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

मयि, आवेश्य, मन, ये, माम्, नित्य, युक्ता, उपासते,
श्रद्धया, परया, उपेता, ते, मे, युक्ततमा, मता ॥२॥

श्री भगवान बोले कि—

(मयि) मुझ, विश्वात्मा में (मन:) मन को (आवेश्य) लगाकर, (नित्ययुक्ता.) सदा सब के साथ एकता के भाव में जुड़े हुए, (ये) जो लोग (परया) परम (श्रद्धया) श्रद्धा से (उपेता.) युक्त होकर, (माम्) मुझ, विश्वरूप धारी सगुण परमात्मा को (उपासते) ११ वें अध्याय में कथित विधि से उपासते हैं, (ते) वे

(मे) मुझे (युक्ततमाः) उत्तम समत्व-योगी (मताः) मान्य हैं, अर्थात् उनको मैं समत्व-योग के श्रेष्ठ साधक मानता हूँ।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ ४॥

ये, तु, अक्षरम्, अनिर्देश्यम्, अव्यक्तम्, पर्युपासते,
सर्वत्रगम्, अचिन्त्यम्, च, कूटस्थम्, अचलम्, ध्रुवम्॥३॥
संनियम्य, इन्द्रियग्रामम्, सर्वत्र, समबुद्धयः,
ते, प्राप्नुवन्ति, माम्, एव, सर्वभूतहिते, रताः॥४॥

(तु) और (ये) जो लोग (इन्द्रियग्रामम्) इंद्रियों के समुदाय को (संनियम्य) पूरी तरह वश में करके, (अचिन्त्यम्) मन-बुद्धि की पहुँच से परे, (सर्वत्रगम्) सर्वव्यापी, (अनिर्देश्यम्) अकथनीय स्वरूप, (च) और (कूटस्थम्) सदा एक रस रहने वाले सबके आधार, (ध्रुवम्) नित्य, (अचलम्) अचल, (अव्यक्तम्) इन्द्रियों के अगोचर निराकार, (अक्षरम्) अविनाशी निर्गुण ब्रह्म को (पर्युपासते) निरन्तर उपासते हैं, (ते) वे (सर्वभूत हिते रताः) सब भूत प्राणियों के हित में लगे हुए (सर्वत्र) सब में (समबुद्धयः) समता की बुद्धि वाले लोग (माम्) मुझको (एव) ही (प्राप्नुवन्ति) प्राप्त होते हैं, अर्थात् मेरे रूप हो जाते हैं।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ ५॥

क्लेशः, अधिकतरः, तेषाम्, अव्यक्तासक्तचेतसाम्,
अव्यक्ता, हि, गतिः, दुःखम्, देहवद्भिः, अवाप्यते॥ ५॥

(तेषाम्) परन्तु उन (अव्यक्तासक्त चेतसाम्) इंद्रियों के अगोचर निराकार में आसक्तचित्त वालों को (क्लेशःअधिकतरः) बहुत अधिक क्लेश होता है, (हि) क्योंकि (देहवद्भिः) अन्तःकरण और इन्द्रियों के समूह सूक्ष्म और स्थूल शरीर धारियों, अर्थात् देहाभिमानियों द्वारा (अव्यक्ता) इन्द्रियों के अगोचर निराकार में (गतिः) गति (दुःखम्) दुःख से (अवाप्यते) प्राप्त होती है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ ६॥

ये, तु, सर्वाणि, कर्माणि, मयि, सन्यस्य, मत्पराः,
अनन्येन, एव, योगेन, माम्, ध्यायन्त, उपासते ॥ ६ ॥

(तु) परन्तु (ये) जो लोग (मत्परा) मेरे परायण हुए अर्थात् मेरे सर्वात्म-भाव में निरतर मन लगाए हुए, (सर्वाणि) सब (कर्माणि) कर्मो को (मयि) मुझ में (सन्यस्य) अर्पण करके, अर्थात् अपने कर्त्तव्य कर्मों को मेरे व्यक्त स्वरूप जगत के हित के लिए करते रहने द्वारा, (माम्) मुझ विश्वरूप धारी परमेश्वर को (एव) ही (अनन्येन) अनन्य भाव के (योगेन) समत्व-योग से (ध्यायन्त) निरतर चिन्तन करते हुए (उपासते) उपासते हैं,

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थं मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

तेषाम्, अहम्, समुद्धर्त्ता, मृत्युससारसागरात्,
भवामि नचिरात्, पार्थ, मयि, आवेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

(पार्थ) हे अर्जुन ! (तेषाम्) उन, (मयि) मुझ सर्वात्मा मे (आवेशितचेतसाम्) चित्त को लगाने वाले समत्व-योगी भक्तो को, (अहम्) मैं सर्वान्तर्यामी (नचिरात्) तुरन्त ही (मृत्युससारसागरात्) मृत्युरूप ससार समुद्र से (समुद्धर्त्ता) उद्धार करने वाला (भवामि) होता हूँ ।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय: ॥ ८ ॥

मयि, एव, मन:, आधत्स्व, मयि, बुद्धिम्, निवेशय,
निवसिष्यसि, मयि, एव, अत, ऊर्ध्वम्, न, सशय ॥ ८ ॥

(मयि) मुझ सर्वात्मा मे (मन:) मन को (आधत्स्व) लगा दे, (मयि) मुझ सर्वात्मा मे (एव) ही (बुद्धिम्) बुद्धि को (निवेशय) समाविष्ट कर दे, अर्थात् बुद्धि मे यह दृढ निश्चय कर ले कि सारा विश्व परमात्मा का ही रूप है; (अत ऊर्ध्वम्) ऐसा करने से तू व्यक्ति जीव भाव से ऊपर उठकर, (मयि) मुझ सर्वात्मा मे (एव) ही (निवसिष्यसि) निवास करेगा, अर्थात् मेरे सर्वात्मभाव मे समा जाएगा, (संशय) इसमें सशय (न) नहीं है ।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

अथ, चित्तम्, समाधातुम्, न, शक्नोषि, मयि, स्थिरम्,
अभ्यासयोगेन, तत, माम्, इच्छ, आप्तुम्, धनजय ॥ ९ ॥

(अथ) अब यदि तूं (चित्तम्) मन को (मयि) मुझ सर्वात्मा में (स्थिरम्) स्थिरता पूर्वक (समाधातुम्) स्थापन करने के लिए (न शक्नोषि) समर्थ नहीं है, (ततः) तो (धनंजय) हे अर्जुन ! (अभ्यासयोगेन) बार बार अभ्यास करने के योग में लगे रहकर, (माम्) मुझ सर्वात्मा को (आप्तुम्) प्राप्त होने की (इच्छ) इच्छा कर, अर्थात् मेरे सर्वात्म भाव में स्थित होने के दृढ़ संकल्प का बार-बार अभ्यास कर।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अभ्यासे, अपि, असमर्थः, असि, मत्कर्मपरमः, भव,
मदर्थम्, अपि, कर्माणि, कुर्वन्, सिद्धिम्, अवाप्स्यसि ॥ १० ॥

(अभ्यासे) यदि ऊपर कहे हुए अभ्यास करने में (अपि) भी तूं (असमर्थः) असमर्थ (असि) है, तो (मत्कर्मपरमः भव) मेरे लिए कर्म करने के ही परायण हो; (मदर्थम्) मेरे, अर्थात् मेरे व्यक्त स्वरूप जगत के हित के लिए अपने कर्तव्य (कर्माणि) कर्मो को (कुर्वन्) करता हुआ (अपि) भी (सिद्धिम्) मेरे सर्वात्म भाव की स्थिति रूप सिद्धि को (अवाप्स्यसि) प्राप्त होगा।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

अथ, एतत्, अपि, अशक्तः, असि, कर्तुम्, मद्योगम्, आश्रित,:
सर्वकर्मफलत्यागम्, ततः कुरु, यतात्मवान् ॥ ११ ॥

(अथ) और यदि तूं (एतत्) इसको (अपि) भी (कर्तुम्) करने के लिए (अशक्तः) असमर्थ (असि) है, (ततः) तो (यतात्मवान्) मन को वश में करके (मद्योगम्) मेरी एकता स्वरूप समत्व-योग के (आश्रितः) अवलम्बन-पूर्वक (सर्वकर्मफलत्यागम्) सब कर्मों के फल का त्याग (कुरु) कर, अर्थात् अपने कर्तव्य कर्म करने में व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके स्वार्थों में जोड़ दें।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

श्रेयः, हि, ज्ञानम्, अभ्यासात्, ज्ञानात्, ध्यानम्, विशिष्यते,
ध्यानात्, कर्मफलत्यागः, त्यागात्, शान्तिः, अनन्तरम् ॥ १२ ॥

(हि) क्योंकि (अभ्यासात्) अभ्यास से (ज्ञानम्) मेरी सर्वरूपता का ज्ञान (श्रेयः) श्रेष्ठ है; (ज्ञानात्) कोरे ज्ञान की अपेक्षा (ध्यानम्) कर्म करते हुए,

मेरे सर्वात्म भाव का निरन्तर ध्यान रखना (विशिष्यते) श्रेष्ठ है, तथा (ध्यानात्) ध्यान से भी (कर्मफल त्याग) कर्म फल का त्याग, अर्थात् अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके स्वार्थों, मे जोड देना श्रेष्ठ है; (त्यागात्) इस तरह कर्म फल त्याग से (अनन्तरम्) तत्काल ही (शान्ति) परम शान्ति प्राप्त होती है।

संगति—११ वें अध्याय मे भगवान ने अपने विराट रूप मे सारे विश्व की एकता बताकर उसके अन्त के ५४ और ५५ वें श्लोको मे भक्ति या उपासना का सच्चा स्वरूप सूत्र रूप से यह बताया था कि मेरे व्यक्त स्वरूप इस ससार के लिए, व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति से रहित होकर, सब भूत प्राणियो के साथ प्रेमयुक्त अपने कर्तव्य कर्म करने वाला भक्त मुझे प्राप्त होता है। उन्ही श्लोको की व्याख्या अर्जुन के पूछने पर भगवान ने इस १२ वें अध्याय मे की है।

इन १२ श्लोको मे, सबके हित मे लगे रहने, अर्थात् सारे विश्व को भगवान का व्यक्त स्वरूप समझते हुए अपने कर्तव्य कर्म करना और उनके फल मे अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके स्वार्थों मे मिला देना, इस तरह कर्म फल त्याग को ही भक्ति या उपासना का सच्चा रूप बताया। अभ्यास, ज्ञान, ध्यान आदि सबकी अपेक्षा इस तरह से कर्मफल त्याग को श्रेष्ठ कहा। आगे १३ वें से २० वें श्लोक तक भी इसी तरह की भक्ति या उपासना करनेवालो को अपना प्यारा भक्त कहा है। परमात्मा को किसी देश विशेष या काल विशेष मे रहनेवाला या किसी व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष मे परिमित, विशेष गुणो, विशेष नामो या विशेष रूपोवाला मानकर, नाना विधियो से यजन, पूजन, जप, तप, अनुष्ठान, धर्म, ध्यान आदि से उसकी उपासना करने, अथवा जगत से अलग निर्गुण निराकार ब्रह्म में ध्यान लगाने आदि की भेद उपासना को यथार्थ भक्ति या उपासना नही बताया है।

भक्ति या उपासना का लक्ष्य, सब प्रकार के भेद मिटाकर सर्वत्र एकता का अनुभव करने का होना चाहिए, यहाँ तक कि भक्त और भगवान अथवा उपासक और उपास्य मे भी भेद नही रहना चाहिए, किन्तु भक्त को स्वय भगवान अथवा उपासक को स्वय उपास्य होने का अनुभव प्राप्त होना चाहिए। इसीलिए गीता में अनन्य भाव की पराभक्ति का ही विधान भगवान ने किया है और उस अनन्य भाव की भक्ति से "मुझको प्राप्त होता है", "मुझ मे प्रवेश करता है", "मेरे भाव मे आ मिलता है" आदि वाक्य स्थान-स्थान पर कहे हैं। तात्पर्य यह कि अनन्यभाव की अभेद भक्ति से ही भक्त स्वय भगवान हो जाता है, भेदभक्ति से नही होता क्योकि उसमे सदा पृथकता का भाव बना रहता है। यदि गहरा विचार किय जाय तो अनन्यभाव की पराभक्ति और आत्मज्ञान मे कोई अन्तर नहीं है। परन्त आत्मज्ञान बहुत सूक्ष्म विचार का विषय है, स्थूल बुद्धि उसको ग्रहण नही क

सकती। भक्ति या उपासना का साधन उसकी अपेक्षा सरल है, इसलिए गीता में इसका विशेष रूप से विधान किया है; परन्तु भक्ति या उपासना ऊपर कहे अनुसार अनन्यभाव की होनी चाहिए, भेदभाव की नहीं।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः सम दुःख सुखः क्षमी ॥१३॥

उद्वेष्टा, सर्वभूतानाम्, मैत्रः, करुणः, एव, च,
निर्ममः, निरहंकारः, सम, दुःख, सुख, क्षमी ॥१३॥

(सर्वभूतानाम्) सब भूतों में (अद्वेष्टा) द्वेषभाव से रहित, अर्थात् सबके साथ यथायोग्य प्रेम करनेवाला, (मैत्रः) सुखी लोगों के साथ मित्रता के, (करुणः) दुखियों पर दया के, (च) और (एव) श्रेष्ठ जनों के साथ मुदिता के, तथा दुष्टों के प्रति उपेक्षा के भाव रखनेवाला; (निर्ममः) ममता से रहित; (निरहंकारः) अहंकार से रहित; (सम दुःख-सुख) सुख-दुःखों की प्राप्ति में एक समान रहने वाला, (क्षमी) क्षमावान्;

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़ निश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

संतुष्टः, सततम्, योगी, यतात्मा, दृढ़, निश्चयः,
मयि, अर्पितमनोबुद्धिः, यः, मद्भक्तः, सः, मे, प्रियः ॥१४॥

(संतुष्टः) अपने कर्तव्य कर्म करने से जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसमें संतुष्ट रहनेवाला; (सततम्) निरन्तर (योगी) समता के भाव में जुड़ा हुआ; (यतात्मा) अन्तःकरण को वश करके, (दृढ़ निश्चयः) परमात्मा के एकत्व भाव में दृढ निश्चय वाला; (मयि) मुझ सर्वात्मा में (अर्पित मनोबुद्धिः) अर्पण किए हुए, अर्थात् पूर्णतया लगाये हुए मनबुद्धि वाला (यः) जो (मद्भक्तः) मेरा भक्त है; (सः) वह (मे) मुझको (प्रियः) प्यारा है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

यस्मात्, न, उद्विजते, लोकः, लोकात् न, उद्विजते, च, यः,
हर्षामर्षभयोद्वेगैः, मुक्तः, यः, सः, च, मे, प्रियः ॥ १५ ॥

(यस्मात्) जिससे (लोकः) लोगों को (न उद्विजते) उद्वेग अथवा क्षोभ नहीं होते; (च) और (यः) जो स्वयम् भी (लोकात्) लोगों से (न उद्विजते) उद्विग्न अथवा क्षुभित नहीं होता; (यः) जो (हर्ष) हर्ष, (अमर्ष) क्रोध (च) और

(भय) भय के (उद्वेगैः) उद्वेगों से (मुक्त) रहित है, (सः) वह भक्त (मे) मुझे (प्रिय) प्यारा है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

अनपेक्ष, शुचि., दक्ष., उदासीन, गतव्यथ,
सर्वारम्भपरित्यागी, यः, मद्भक्त, सः, मे, प्रियः ॥ १६ ॥

(अनपेक्षः) दूसरों पर निर्भर नहीं रहने वाला, अर्थात् स्वावलम्बी; (शुचिः) बाहर भीतर से शुद्ध, (दक्ष) अपने कर्त्तव्य कर्मों में कुशल; (उदासीनः) पक्षपात से रहित, (गतव्यथ) चिन्ता से रहित और (सर्वारम्भपरित्यागी) सब आडंबरों से अलग रहने वाला (य.) जो (मद्भक्त) मेरा भक्त है, (स) वह (मे) मुझे (प्रिय) प्यारा है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

यः, न, हृष्यति, न, द्वेष्टि, न, शोचति, न, काङ्क्षति,
शुभाशुभपरित्यागी, भक्तिमान्, य, स, मे, प्रिय. ॥ १७ ॥

(य) जो (न) न तो अनुकूलता की प्राप्ति में (हृष्यति) हर्षित होता है, (न) न प्रतिकूलता की प्राप्ति में (द्वेष्टि) द्वेष करता है, (न) न (शोचति) शोक करता है, (न) न (काङ्क्षति) चाह रखता है; तथा (य.) जो (शुभाशुभ-परित्यागी) शुभ और अशुभ भावों के प्रभाव से सर्वथा रहित है, (सः) वह (भक्तिमान्) भक्तियुक्त व्यक्ति (मे) मुझ सर्वात्मा को (प्रिय.) प्यारा है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्ण सुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

सम, शत्रौ, च, मित्रे, च, तथा, मानापमानयो.,
शीतोष्णसुखदुःखेषु, समः, सङ्ग, विवर्जित. ॥ १८ ॥

(शत्रौ) जो शत्रु में तथा (मित्रे) मित्र में (च) और (मानापमानयोः) मान-अपमान में (सम) सम बना रहता है, (तथा) तथा (शीतोष्णसुख दुःखेषु) सर्दी, गर्मी और सुख-दुःखादिक द्वन्द्वों में (सम.) सम बना रहता है; (च) और (सङ्ग विवर्जित.) आसक्ति से रहित है;

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिः, मौनी, संतुष्टः, येन, केनचित्,
अनिकेतः, स्थिरमतिः, भक्तिमान्, मे, प्रियः, नरः ॥ १९ ॥

(तुल्यनिन्दास्तुतिः) निन्दा-स्तुति को समान समझने वाला; (मौनी) मननशील; (येन केनचित्) जिस किसी भी स्थिति में (संतुष्टः) संतुष्ट; (अनिकेतः) किसी भी रहने के स्थान में ममता न रखने वाला; और (स्थिरमतिः) अपने साथ सबकी एकता के निश्चय में स्थिर बुद्धिवाला (भक्तिमान्) भक्तिमान् (नरः) पुरुष (मे) मुझ सर्वात्मा को (प्रियः) प्यारा है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

ये, तु, धर्म्यामृतम्, इदम्, यथा, उक्तम्, पर्युपासते,
श्रद्दधानाः, मत्परमाः, भक्ताः, ते, अतीव, मे, प्रियाः ॥ २० ॥

(ये) जो लोग (श्रद्दधानाः) श्रद्धापूर्वक (मत्परमा) मेरे सर्वात्मभाव के परायण हुए (इदम्) इस (धर्म्यामृतम्) अमृत रूप धर्म का (यथा उक्तम्) जैसा ऊपर कहा है, उसी तरह (तु) पूर्णतया (पर्युपासते) आचरण करते हैं, (ते) वे (भक्ताः) भक्त (मे) मुझ सर्वात्मा को (अतीव) अत्यन्त ही (प्रियाः) प्यारे हैं।

संगति—१३वें श्लोक में 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' से लेकर १९वें श्लोक में 'स्थिरमति' तक भगवान् ने अपने प्यारे भक्तों के स्वाभाविक आचरणों का जो वर्णन किया है, ये अनन्यभाव की सच्ची अभेद भक्ति के लक्षण हैं। गीता में इन सदाचारों को ही यथार्थ भक्ति माना है। परन्तु ये आचरण भी सब भूत प्राणियों को भगवान् का व्यक्त रूप समझते हुए, सबकी एकता के निश्चय युक्त, दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थों की आसक्ति से रहित होकर किये जावें, तभी इनका सदुपयोग होकर, ये सदाचार होते हैं। यदि ये ही आचरण अपने अलग व्यक्तित्व के अहंकार से, या व्यक्ति विशेष अथवा पदार्थ विशेष में ममता की आसक्ति से किये जाएँ, तो इनका दुरुपयोग होकर, वे दुराचार में परिणत हो जाते हैं। इसी तथ्य को 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम् मैत्रः करुण एव च' के साथ-ही-साथ 'निर्ममो निरहंकारः' और 'मय्यर्पित मनोबुद्धि' वाक्यों से स्पष्ट कर दिया है, और २०वें श्लोक में इस अमृत रूप धर्म का 'यथोक्तं पर्युपासते' अर्थात् जैसा कहा है, उसी तरह आचरण करने पर जोर दिया है।

॥ बारहवां अध्याय समाप्त ॥

अथ त्रयोदशोऽध्याय.

श्री भगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहु. क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

इदम्, शरीरम्, कौन्तेय, क्षेत्रम्, इति, अभिधीयते,
एतत्, य., वेत्ति, तम्, प्राहुः, क्षेत्रज्ञ', इति, तद्विद' ॥ १ ॥

श्री भगवान बोले कि—

(कौन्तेय) हे अर्जुन ! (इदम्) यह (शरीरम्) शरीर (क्षेत्रम्) क्षेत्र है, (इति) ऐसे (अभिधीयते) कहा जाता है; (एतत्) इसको (य) जो (वेत्ति) जानता है, (तम्) उसको (क्षेत्रज्ञः) क्षेत्रज्ञ, जीवात्मा, (इति) ऐसा (तद्विद) उसके तत्त्व को जानने वाले ज्ञानीजन (प्राहु') कहते हैं।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

क्षेत्रज्ञम्, च, अपि, माम्, विद्धि, सर्वक्षेत्रेषु, भारत,
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयो, ज्ञानम्, यत्, तत्, ज्ञानम्, मतम्, मम ॥ २ ॥

(च) और (भारत) हे अर्जुन ! (सर्वक्षेत्रेषु) सब क्षेत्रों अर्थात् शरीरो मे (क्षेत्रज्ञम्) क्षेत्रज्ञ-जीवात्मा (अपि) भी (माम्) मुझे ही (विद्धि) जान, अर्थात् सब क्षेत्र अथवा शरीर, मेरे कल्पित जड़ भाव की परिवर्तनशील एवं अनित्य अपरा प्रकृति के अनन्त प्रकार के बनाव हैं, और क्षेत्रज्ञ, मेरा व्यष्टि चेतन भाव जीवात्मा, मेरी विकार रहित, नित्य. एवं अद्वितीय परा प्रकृति है; वस्तुतः सब कुछ मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न कुछ भी नही है। (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयो') क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अभेद को (यत्) जो (ज्ञानम्) इस तरह तत्त्व से जानना है, (तत्) वही (ज्ञानम्) यथार्थ ज्ञान है, (मम) यह मेरा (मतम्) मत है ।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

तत्, क्षेत्रम्, यत्, च, यादृक्, च, यद्विकारि, यतः, च, यत्,
सः, च, यः, यत्प्रभावः, च, तत् समासेन, मे, शृणु ॥ ३ ॥

(तत्) वह (क्षेत्रम्) क्षेत्र (यत्) जो है, (च) और (यादृक्) जैसा है, (च) तथा (यद्विकारि) जिन विकारों वाला है, (च) और (यतः) जिससे (यत्) जो कुछ है; (च) तथा (सः) वह क्षेत्रज्ञ (च) भी (यः) जो है, और (यत्प्रभावः) जिस प्रभाव वाला है, (तत्) वह (समासेन) संक्षेप से (मे) मुझसे (शृणु) सुन ।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

ऋषिभिः, बहुधा, गीतम्, छन्दोभिः, विविधैः, पृथक्,
ब्रह्मसूत्रपदैः, च, एव, हेतुमद्भिः, विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

(ऋषिभिः) क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का यह विज्ञान सहित ज्ञान, ऋषियों द्वारा (बहुधा गीतम्) बहुत प्रकार से कहा गया है; (विविधैः) नाना प्रकार के (छन्दोभिः) वेद मन्त्रों द्वारा (पृथक्) अलग-अलग रीति से, (च) और (ब्रह्मसूत्रपदैः) ब्रह्म सूत्र के पदों द्वारा (एव) भी (हेतुमद्भिः) युक्ति युक्त रूप से (विनिश्चितैः) अच्छी प्रकार निश्चय करके कहा गया है ।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

महाभूतानि, अहंकारः, बुद्धिः, अव्यक्तम्, एव, च,
इन्द्रियाणि, दश, एकम्, च, पंच, च, इन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

(महाभूतानि) पञ्च महाभूत, अर्थात् आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी, (अहंकारः) अहंकार, (बुद्धिः) बुद्धि, (च) और (अव्यक्तम्) चित्तरूप मूल प्रकृति, (च) तथा (एव) इसी तरह (दश) दस (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ, अर्थात् आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा, हाथ, पाँव, वाणी और दो मल द्वार, (एकम्) एक मन, (च) और (पञ्च) पाँच (इन्द्रियगोचराः) इन्द्रियों के विषय, अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध;

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

इच्छा, द्वेष, सुखम्, दुःखम्, संघातः, चेतना, धृतिः,
एतत्, क्षेत्रम्, समासेन, सविकारम्, उदाहृतम्, ॥ ६ ॥

(इच्छा) इच्छा, (द्वेषः) द्वेष, (सुखम्) सुख, (दुःखम्) दुःख, (चेतना) चेतनता, (धृतिः) धारणाशक्ति, (संघातः) इन सबका संघात; (एतत्) यह (क्षेत्रम्) क्षेत्र, अर्थात् शरीर (सविकारम्) विकारों सहित (समासेन) संक्षेप से (उदाहृतम्) कहा गया है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

अमानित्वम्, अदम्भित्वम्, अहिंसा, क्षान्तिः, आर्जवम्,
आचार्योपासनम्, शौचम्, स्थैर्यम्, आत्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

(अमानित्वम्) अभिमान न करना, (अदम्भित्वम्) पाखण्ड और छल, कपट न करना, (अहिंसा) किसी को पीड़ा न देना; (क्षान्तिः) क्षमाशीलता; (आर्जवम्) सरलता, (आचार्योपासनम्) सद्गुरु का आदर-सत्कार करना; (शौचम्) बाहर भीतर की शुद्धि; (स्थैर्यम्) दृढ निश्चय, (आत्मविनिग्रहः) मन को वश में रखना,

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इन्द्रियार्थेषु, वैराग्यम्, अनहंकारः, एव, च,
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

(इन्द्रियार्थेषु) इन्द्रियों के विषयों में (वैराग्यम्) आसक्ति न रखना; (च) और (अनहंकार) व्यक्तित्व का अहंकार न होना; (एव) इसी तरह (जन्म) जन्म (मृत्यु) मृत्यु, (जरा) बुढ़ापा और (व्याधि) रोग आदि व्याधियों के (दुःख) दुःखों और (दोष) दोषों को (अनुदर्शनम्) सदा याद रखना;

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

असक्तिः, अनभिष्वङ्गः, पुत्रदारगृहादिषु,
नित्यम्, च, समचित्तत्वम्, इष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

(पुत्रदारगृहादिषु) पुत्र, स्त्री, घर आदि में (अनभिष्वङ्ग) सीमित क्षेत्र तक ही ममता की (असक्तिः) आसक्ति न रखना; (च) तथा (इष्टानिष्टोपपत्तिषु) अनुकूलता और प्रतिकूलता की प्राप्ति में (नित्यम्) सदा ही (समचित्तत्वम्)

चित्त को सम रखना, अर्थात् अन्तःकरण का सन्तुलन बनाये रखना।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

मयि, च, अनन्ययोगेन, भक्तिः, अव्यभिचारिणी,
विविक्तदेशसेवित्वम्, अरतिः जनसंसदि ॥ १० ॥

(**मयि**) मुझ सर्वात्मा में (**अनन्ययोगेन**) अनन्य भाव से जुड़ कर (**अव्यभिचारिणी**) अटल (**भक्तिः**) भक्ति रखना; (**च**) तथा (**विविक्तदेश**) निरूपाधिक शुद्ध देश में रहने का (**सेवित्वम्**) स्वभाव; (**जनसंसदि**) रजोगुणी, तमोगुणी मनुष्यों के समुदाय में (**अरतिः**) प्रीति न रखना;

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्, तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्,
एतत्, ज्ञानम्, इति, प्रोक्तम्, अज्ञानम्, यत्, अतः, अन्यथा ॥ ११ ॥

(**अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्**) अध्यात्मज्ञान की नित्यता और (**तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्**) तत्त्वज्ञान के अर्थ को समझना; (**एतत्**) यह सब (**ज्ञानम्**) ज्ञान है, (**इति**) ऐसे (**प्रोक्तम्**) कहा गया है, (**यत्**) जो (**अतः**) इससे (**अन्यथा**) विपरीत है, वह (**अज्ञानम्**) अज्ञान है।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

ज्ञेयम्, यत्, तत्, प्रवक्ष्यामि, यत्, ज्ञात्वा, अमृतम्, अश्नुते,
अनादिमत्, परम्, ब्रह्म, न, सत्, तत्, न, असत्, उच्यते ॥ १२ ॥

(**यत्**) जो अपना आप = आत्मा (**ज्ञेयम्**) जानने योग्य है, (**तत्**) वह (**प्रवक्ष्यामि**) कहता हूँ; (**यत्**) जिसको (**ज्ञात्वा**) जान लेने से (**अमृतम्**) अपने परमानन्द परमात्मा-स्वरूप का (**अश्नुते**) अनुभव होता है। (**तत्**) वह ज्ञेय, अर्थात् अपना आप = आत्मा (**अनादिमत्**) आदि रहित, (**परम्**) परम (**ब्रह्म**) ब्रह्म, सब कुछ होने के कारण (**न**) न (**सत्**) सत् (**न**) न (**असत्**) असत् ही (**उच्यते**) कहा जाता है।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

सर्वतः, पाणिपादम्, तत्, सर्वतः, अक्षिशिरोमुखम्,
सर्वतः, श्रुतिमत्, लोके, सर्वम्, आवृत्य, तिष्ठति ॥ १३ ॥

(तत्) वह ज्ञेय, अर्थात् सबका अपना आप = आत्मा (सर्वतः) सर्वत्र (पाणिपादम्) हाथ, पैर वाला; (सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्) सर्वत्र नेत्र, सिर और मुखवाला, (सर्वतः) सर्वत्र (श्रुतिमत्) कानों वाला, (लोके) संसार में (सर्वम्) सबको (आवृत्य) व्याप्त करके (तिष्ठति) स्थित है, अर्थात् सबका अन्तरात्मा, अद्वितीय, सब कुछ है।

सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुण भोक्तृ च ॥१४॥

सर्वेन्द्रिय गुणाभासम्, सर्वेन्द्रिय, विवर्जितम्,
असक्तम्, सर्वभृत्, च, एव, निर्गुणम्, गुणभोक्तृ, च ॥ १४ ॥

(सर्वेन्द्रियगुणाभासम्) सब इन्द्रियों के विषयों का प्रकाशक, अर्थात् बोध कराने वाला होते हुए भी, (सर्वेन्द्रियविवर्जितम्) सब इन्द्रियों से रहित है; (च) और (असक्तम्) आसक्ति, अर्थात् सब सम्बन्धों से रहित (सर्वभृत्) सबकी सत्ता स्वरूप आधार है, (च) और (निर्गुणम्) निर्गुण होता हुआ (एव) भी (गुणभोक्तृ) गुणों को भोगने वाला है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

बहिः, अन्तः, च, भूतानाम्, अचरम्, चरम्, एव, च,
सूक्ष्मत्वात्, तत्, अविज्ञेयम्, दूरस्थम्, च, अन्तिके, च, तत् ॥ १५ ॥

(भूतानाम्) सब भूत प्राणियों, अर्थात् चराचर जगत के (बहिः) बाहर (च) और (अन्तः) भीतर (एव) भी है, (चरम्) चर अर्थात् जंगम (च) और (अचरम्) अचर अर्थात् स्थावर है। (तत्) वह (सूक्ष्मत्वात्) सूक्ष्म होने के कारण (अविज्ञेयम्) मन और वाणी की पहुँच से परे है, (च) तथा (तत्) वह (दूरस्थम्) अज्ञानावस्था में दूर से भी दूर (च) और (अन्तिके) अपने आपका अनुभव होने पर, निकट से भी निकट है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

अविभक्तम्, च, भूतेषु, विभक्तम्, इव, च, स्थितम्,
भूतभर्तृ, च, तत्, ज्ञेयम्, ग्रसिष्णु, प्रभविष्णु, च, ॥ १६ ॥

(च) और (अविभक्तम्) विभाग रहित, अखण्ड होता हुआ (च) भी,

(भूतेषु) चराचर जुदे-जुदे भूत प्राणियों में (विभक्तम्) विभाजित हुआ (इव) सा (स्थितम्) स्थित दीखता है; (तत्) वह (ज्ञेयम्) जानने योग्य अपना आप आत्मा, (भूतभर्तृ) अपनी सत्ता से जगत को धारण करने वाला (च) और (ग्रसिष्णु) संहार, (च) तथा (प्रभविष्णु) उत्पन्न करने वाला है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ १७॥

ज्योतिषाम्, अपि, तत्, ज्योतिः, तमसः, परम्, उच्यते,
ज्ञानम्, ज्ञेयम्, ज्ञानगम्यम्, हृदि, सर्वस्य, विष्ठितम्॥ १७॥

(तत्) वह सबका अपना आप=आत्मा (ज्योतिषाम्) प्रकाशवानों का (अपि) भी (ज्योतिः) प्रकाश है; (तमसः) अन्धकार से (परम्) परे (उच्यते) कहा जाता है; (ज्ञानम्) बोध स्वरूप, (ज्ञेयम्) जानने योग्य एवं (ज्ञानगम्यम्) तत्त्व ज्ञान से अनुभव होने वाला, (सर्वस्य) सबके (हृदि) हृदय में अपने आप के अनुभव रूप से (विष्ठितम्) स्थित है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ १८॥

इति, क्षेत्रम्, तथा, ज्ञानम्, ज्ञेयम्, च, उक्तम्, समासतः,
मद्भक्तः, एतत्, विज्ञाय, मद्भावाय, उपपद्यते॥ १८॥

(इति) इस प्रकार (क्षेत्रम्) क्षेत्र, (तथा) तथा (ज्ञानम्) ज्ञान, (च) और (ज्ञेयम्) जानने योग्य अपने आप=आत्मा का (समासतः) संक्षेप से (उक्तम्) वर्णन किया गया है; (एतत्) इसको (विज्ञाय) तत्त्व से जान लेने पर, (मद्भक्तः) मेरा भक्त (मद्भावाय) मेरे भाव को (उपपद्यते) प्राप्त होता है, अर्थात् मुझसे अभिन्न, मेरा रूप हो जाता है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥ १९॥

प्रकृतिम्, पुरुषम्, च, एव, विद्धि, अनादी, उभौ, अपि,
विकारान्, च, गुणान्, च, एव, विद्धि, प्रकृतिसंभवान्॥ १९॥

(प्रकृतिम्) प्रकृति (च) और (पुरुषम्) पुरुष, अर्थात् जीवात्मा अथवा क्षेत्रज्ञ, (उभौ) इन दोनों को (एव अपि) ही (अनादी) अनादि (विद्धि) जान; (च) और (विकारान्) उत्पत्ति-नाश, वृद्धि-ह्रास, सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि विकारों, (तथा) तथा (गुणान्) तीनों गुणों को, (प्रकृतिसंभवान् एव) प्रकृति से ही उत्पन्न हुए (विद्धि) जान।

कार्यकारण कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुख दुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।। २० ।।

कार्यकारणकर्तृत्वे, हेतु, प्रकृति, उच्यते,
पुरुष, सुखदुःखानाम, भोक्तृत्वे, हेतु उच्यते ।। २० ।।

(कार्यकारणकर्तृत्वे) कार्य और कारण के कर्तापन मे (हेतुः) हेतु (प्रकृति) प्रकृति (उच्यते) कही जाती है, अर्थात् कार्य और कारण भाव की परपरा प्रकृति से उत्पन्न होती है, और (पुरुष) जीवात्मा (सुख-दुःखानाम्) सुख-दुःखों के (भोक्तृत्वे) भोक्तापन मे, अर्थात् भोगने मे (हेतुः) हेतु (उच्यते) कहा जाता है, अर्थात् जीवात्मा की चेतनता से सुख-दुःख का अनुभव होता है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुण सङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।।२१।।

पुरुष, प्रकृतिस्थ, हि, भुङ्क्ते, प्रकृतिजान्, गुणान्,
कारणम्, गुण, सङ्ग, अस्य, सदसद्योनिजन्मसु ।। २१ ।

(पुरुष) जीवात्मा (प्रकृतिस्थः हि) प्रकृति मे स्थित होकर, अर्थात् प्रकृति के साथ तादात्म्य करके ही, (प्रकृतिजान्) प्रकृति से उत्पन्न हुए (गुणान्) तीनो गुणों के विकारो को (भुङ्क्ते) भोगता है, (गुणसङ्गः) इन गुणो का सग ही (अस्य) इस जीवात्मा के (सदसद्योनिजन्मसु) अच्छी-बुरी योनियो मे जन्म लेने का (कारणम्) कारण है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ।। २२ ।।

उपद्रष्टा, अनुमन्ता, च, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर,
परमात्मा, इति, च, अपि, उक्त, देहे, अस्मिन्, पुरुष, पर ।।२२।।

(उपद्रष्टा) मन, बुद्धि चित्त, अहकार, प्राण तथा इन्द्रियो आदि के समूह = शारीरिक व्यापारो का जानने वाला, अर्थात् ज्ञाता अथवा साक्षी, (अनुमन्ता) इन सब व्यापारो को अनुमति देने वाला अथवा स्वीकार करने वाला, (भर्ता) इन सब व्यापारो को सत्ता देने और चेतना युक्त करने वाला, (भोक्ता) मन रूप से विषयो को भोगने वाला, (च) और (महेश्वर) पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड सबका, अर्थात् प्रकृति का स्वामी व शासक (पुरुष) आत्मा, (अस्मिन्) इस (देहे) देह मे स्थित होते हुए (अपि) भी (परः) उससे परे है, अर्थात् देह के अभाव मे भी उसका अस्तित्व बना रहता है और वह देह के विकारों से निर्लिप्त है, (च) और (परमात्मा

वह सबका अन्तरात्मा=परमात्मा (इति) ऐसा (उक्तः) कहा जाता है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।। २३ ।।

यः, एवम्, वेत्ति, पुरुषम्, प्रकृतिम्, च, गुणैः, सह,
सर्वथा, वर्तमानः, अपि, न, सः, भूयः, अभिजायते ।। २३ ।।

(यः) जो (पुरुषम्) पुरुष को, (च) और (गुणैः) गुणों (सह) सहित (प्रकृतिम्) प्रकृति को (एवम्) इस तरह (वेत्ति) तत्त्व से जानता है, (सः) वह (सर्वथा) सब प्रकार से (वर्तमानः) वर्तता हुआ, अर्थात् सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करता हुआ (अपि) भी, (भूयः) फिर (न अभिजायते) परवशता से जन्म नहीं लेता, अर्थात् प्रकृति के वश होकर जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आता।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।। २४ ।।

ध्यानेन, आत्मनि, पश्यन्ति, केचित्, आत्मानम्, आत्मना,
अन्ये, सांख्येन, योगेन, कर्मयोगेन, च, अपरे ।। २४ ।।

(केचित्) कई लोग (ध्यानेन) ध्यान योग से, (अन्ये) दूसरे लोग (सांख्येन) ज्ञान (योगेन) योग से, (च) और (अपरे) दूसरे लोग (कर्मयोगेन) निष्काम कर्म योग से, (आत्मानम्) अपने आप=आत्मा को, (आत्मना) आप से (आत्मनि) आप में (पश्यन्ति) देखते हैं, अर्थात् अपने आप का अनुभव करते हैं।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।। २५ ।।

अन्ये, तु, एवम्, अजानन्तः, श्रुत्वा, अन्येभ्यः, उपासते,
ते, अपि, च, अतितरन्ति, एव, मृत्युम्, श्रुतिपरायणा ।। २५ ।।

(तु) परन्तु (अन्ये) दूसरे लोग, (एवम्) इस तरह (अजानन्तः) न जानते हुए, (अन्येभ्यः) दूसरों से (श्रुत्वा) सुनकर, मनन और निदिध्यासन द्वारा, अनन्य भाव से (उपासते) आत्मोपासना करते हैं; (च) और (ते) वे (श्रुतिपरायणा) श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा, अनन्य भाव से आत्मोपासना में लगे हुए लोग (अपि) भी (मृत्युम्) मरण धर्मी संसार सागर से (अतितरन्ति एव) अवश्य ही तर जाते हैं।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ।। २६ ।।

यावत्, सजायते, किंचित्, सत्त्वम्, स्थावरजङ्गमम्,
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसयोगात्, तत्, विद्धि, भरतर्षभ ॥ २६ ॥

(भरतर्षभ) हे अर्जुन ! (यावत् किंचित्) जो कुछ भी (स्थावर जङ्गमम्) अचल और चल (सत्त्वम्) शरीर, वस्तु, पदार्थ अथवा द्रव्य (सजायते) उत्पन्न होते है, (तत्) उन सबको (क्षेत्रक्षेत्रज्ञ सयोगात्) क्षेत्र रूप प्रकृति और क्षेत्रज्ञ रूप पुरुष के सयोग से उत्पन्न हुई (विद्धि) जान, अर्थात् प्रकृति और पुरुष के परस्पर सयोग से ही चर और अचर जगत की उत्पत्ति होती है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

समम्, सर्वेषु, भूतेषु, तिष्ठन्तम्, परमेश्वरम्,
विनश्यत्सु, अविनश्यन्तम्, य:, पश्यति, स., पश्यति ॥ २७ ॥

(यः) जो (विनश्यत्सु) नाशवान् (सर्वेषु) सब (भूतेषु) चराचर जगत मे, (अविनश्यन्तम्) अविनाशी और (समम्) सम, अर्थात् सदा एक समान बना रहने वाले (परमेश्वरम्) परमेश्वर, अर्थात् सबके अन्तरात्मा को (तिष्ठन्तम्) ओतप्रोत भरा हुआ स्थित (पश्यति) देखता है, अर्थात् अनुभव करता है, (स) वही (पश्यति) वास्तव मे देखता है।

इस श्लोक मे श्लेष की भाषा मे जिस भावात्मक पक्ष का प्रतिपादन किया गया है, उसके साथ ही उसका अभावात्मक पक्ष भी स्पष्टतया स्वत' ही प्रतिध्वनित होता है, कि जो लोग सब शरीरो और जगत् मे मौलिक एकता, समता और नित्यता का अनुभव नही करते, वे भौतिक नेत्रो के होते हुए भी ज्ञान चक्षु से रहित होने के कारण वस्तुत अन्धे है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

समम्, पश्यन्, हि, सर्वत्र, समवस्थितम्, ईश्वरम्, न,
हिनस्ति, आत्मना, आत्मानम्, तत , याति, पराम्, गतिम् ॥२८॥

(सर्वत्र) सर्वत्र (समवस्थितम्) सम भाव से स्थित, (ईश्वरम्) सब शरीरो के स्वामी, अन्तरात्मा परमेश्वर को (समम्) सदा एक समान (पश्यन्) देखने वाला, अर्थात् अनुभव करने वाला (हि) ही (आत्मना) अपने (आत्मानम्) आपको (न हिनस्ति) हत्या नही करता, अर्थात् वह अपने आपको अविनाशी परमात्मा से अभिन्न अनुभव करता है, (तत) इससे (पराम्) परम (गतिम्) गति को (याति) प्राप्त होता है।

२७ वें श्लोक की तरह इस २८ वें श्लोक में भी भावात्मक पक्ष के साथ ही उसका अभावात्मक पक्ष स्वतः प्रतिध्वनित होता है कि, जो लोग सब शरीरों और जगत में एक समान व्यापक, इनके स्वामी अन्तरात्मा की समता का अनुभव नहीं करते हैं, वे लोग अपने आप=आत्मा को खो देने के भ्रम के कारण आत्म हत्यारे होते हैं। उनका मनुष्य जन्म अपने आप=आत्मा का यथार्थ अनुभव प्राप्त किये बिना वृथा ही नष्ट हो जाता है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।। २९ ।।

प्रकृत्या, एव च कर्माणि, क्रियमाणानि, सर्वशः,
यः, पश्यति, तथा, आत्मानम्, अकर्तारम्, सः, पश्यति ।।२९।।

(**च**) और (**यः**) जो पुरुष, (**कर्माणि**) सम्पूर्ण कर्मों को (**सर्वशः**) सब प्रकार से, (**प्रकृत्या**) विकारवान् प्रकृति द्वारा (**एव**) ही (**क्रियमाणानि**) किये हुए, (**तथा**) तथा (**आत्मानम्**) अपने आप=आत्मा को अनादि और अविकारी होने के कारण (**अकर्तारम्**) अकर्ता (**पश्यति**) देखता है, अर्थात् अनुभव करता है, (**सः**) वही (**पश्यति**) वास्तव में देखता है।

अच्छे और बुरे सब कर्म, प्रकृति के कार्य सूक्ष्म और स्थूल, विकारवान् एवं अनित्य शरीरों द्वारा, उनके अलग-अलग स्वभाव के अनुसार होते हैं। उनको सत्ता-युक्त करने वाला सब का अन्तरात्मा, सब का अपना आप, सब में एक समान, नित्य और निर्विकार होने के कारण वस्तुतः अकर्ता और निर्लिप्त ही बना रहता है। जो ऐसा अनुभव करता है, वही यथार्थ दर्शी आत्मज्ञानी है; परन्तु जो लोग ऐसा अनुभव नहीं करते, शरीरों के विकारों का आत्मा में आरोप करके आत्मा को कर्ता—भोक्ता मानते हैं, वे विचारहीन लोग वस्तुतः अन्धे हैं।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ।। ३० ।।

यदा, भूतपृथग्भावम्, एकस्थम्, अनुपश्यति,
ततः, एव, च, विस्तारम्, ब्रह्म, संपद्यते, तदा ।। ३० ।।

(**यदा**) जब आत्मज्ञानी (**भूतपृथग्भावम्**) जगत के न्यारे-न्यारे भावों को (**एकस्थम्**) एक ही आत्मा=परमात्मा में स्थित, (**च**) तथा (**ततः**) उस परमात्मा से (**एव**) ही (**विस्तारम्**) सारे जगत का विस्तार (**अनुपश्यति**) देखता है, (**तदा**) तब (**ब्रह्म**) ब्रह्म भाव को (**संपद्यते**) प्राप्त होता है, अर्थात् ब्रह्म रूप हो जाता है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

अनादित्वात्, निर्गुणत्वात्, परमात्मा, अयम्, अव्ययः,
शरीरस्थः, अपि, कौन्तेय, न करोति, न, लिप्यते ॥ ३१ ॥

(कौन्तेय) हे अर्जुन ! (अनादित्वात्) अनादि होने के कारण और (निर्गुणत्वात्) निर्गुण होने के कारण, (अयम्) यह (अव्ययः) अविकारी (परमात्मा) सबका अपना आप=परमात्मा, (शरीरस्थः) शरीर मे स्थित हुआ (अपि) भी, वास्तव मे (न) न (करोति) कुछ करता है (न) और न (लिप्यते) लिपायमान होता है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

यथा, सर्वगतम्, सौक्ष्म्यात्, आकाशम्, न, उपलिप्यते,
सर्वत्र, अवस्थितः, देहे, तथा, आत्मा, न, उपलिप्यते ॥ ३२ ॥

(यथा) जिस प्रकार (सर्वगतम्) सर्व-व्यापक (आकाशम्) आकाश, (सौक्ष्म्यात्) सूक्ष्म होने के कारण (न उपलिप्यते) लिपायमान नही होता, (तथा) वैसे ही (सर्वत्र) सब (देहे) शरीरो मे (अवस्थितः) स्थित हुआ (आत्मा) आत्मा, (न उपलिप्यते) लिपायमान नही होता।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

यथा, प्रकाशयति, एकः कृत्स्नम्, लोकम्, इमम्, रविः,
क्षेत्रम्, क्षेत्री, तथा, कृत्स्नम्, प्रकाशयति, भारत ॥ ३३ ॥

(भारत) हे भारत ! (यथा) जिस प्रकार (एकः) एक ही (रविः) सूर्य (इमम्) इस (कृत्स्नम्) सम्पूर्ण (लोकम्) ब्रह्माण्ड को (प्रकाशयति) प्रकाशित करता है, (तथा) उसी प्रकार (क्षेत्री) एक ही आत्मा (कृत्स्नम्) सब (क्षेत्रम्) शरीरों को अपनी चित् शक्ति से (प्रकाशयति) प्रकाशित करता है, अर्थात् चेतना और बोध युक्त करता है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः, एवम्, अन्तरम्, ज्ञानचक्षुषा,
भूतप्रकृतिमोक्षम्, च, ये, विदुः, यान्ति, ते, परम् ॥ ३४ ॥

(एवम्) इस प्रकार (क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोः) शरीर और जीवात्मा के (अन्तरम्) कल्पित भेद और वास्तविक अभेद को, (च) तथा (भूत प्रकृति मोक्षम्) भौतिक जड़ प्रकृति से मुक्त होने के रहस्य को, (ये) जो लोग (ज्ञानचक्षुषा) ज्ञानरूपी नेत्रों द्वारा (विदु) तत्त्व से जानते हैं, (ते) वे तत्त्व ज्ञानी पुरुष (परम्) परब्रह्म परमात्मा को (यान्ति) प्राप्त होते हैं।

संगति—इस तेरहवें अध्याय में अद्वैत वेदान्त सिद्धान्तानुसार सबकी एकता के आत्मज्ञान का विशेष रूप से निरूपण किया गया है। आत्मा संसार का खेल करने की इच्छा करके, अनेक व्यष्टि जीव भाव होकर, अपनी इच्छा रूप प्रकृति से उत्पन्न तीन गुणों को, पहले अपने से अलग मानकर, और फिर उनके साथ तादात्म्य करके उनमें उलझ जाता है और अपने वास्तविक स्वरूप को विसारकर अनन्त प्रकार की योनियों के शरीर धारण करके जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि परस्पर विरोधी द्वन्द्वों की अनुकूल-प्रतिकूल वेदनाओं का अनुभव करता है; परन्तु जब इस खेल को समेटने की इच्छा करता है तब पीछा ही अपने असली सच्चिदानन्द स्वरूप को याद करके, प्रकृति के गुणों की उलझन से परे, द्वन्द्वातीत,अपने वास्तविक आपके विशुद्ध सर्वात्मभाव में पुनः स्थिति कर लेता है, और सारे संसार को अपने ही संकल्प का खेल समझ कर, सबको अपना ही कल्पित रूप अनुभव करता हुआ, सब द्वन्द्वों और विकारों से अलिप्त एवं निर्विकार रहता है। इस तत्त्व ज्ञान के निरूपण करने में सबसे पहले पिण्ड अथवा शरीर और ब्रह्माण्ड अथवा जगत को, उत्पत्ति-नाश और वृद्धि-ह्रास आदि परिवर्तनों के नाना प्रकार के विकारों वाली, आत्मा की इच्छा रूप त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव अथवा दृश्य बताया, जिसे क्षेत्र संज्ञा दी गई है; और इस क्षेत्र को जानने वाला तथा इन सबको सत्ता एवं चेतना युक्त करने वाला जीवात्मा, जिसको यहाँ क्षेत्रज्ञ और पुरुष संज्ञा भी दी गई है, उसको समष्टि आत्मा-परमात्मा का व्यष्टि भाव बताकर कहा है कि वास्तव में वह समष्टि आत्मा-परमात्मा से अभिन्न है, जो जगत के उत्पत्ति, नाश, बढ़ने, घटने आदि द्वन्द्वों और परिवर्तनों के विकारों से रहित, सदा एक समान रहने वाला सम, नित्य, सत्य, स्वयं प्रकाश और आनन्द स्वरूप होते हुए भी, अपनी ही मर्जी से, अपनी स्वतन्त्र कल्पना शक्ति द्वारा, अपने आमोद के लिए, अनेक व्यष्टिभाव, और नाना नामरूपात्मक द्वन्द्वों, परिवर्तनों और विकारों के बनाव बनाकर खेल या लीला करता है, और उनमें लवलीन होकर अपने को बंधा हुआ व्यष्टिजीव मानता है। अपने असली समष्टि आत्मा-परमात्माभाव से वह पिण्ड अर्थात् शरीरों और ब्रह्माण्ड अर्थात् जगत में ओत-प्रोत है; यानी प्रकृति की सारी रचना उसी के संकल्प में नाना

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

अनादित्वात्, निर्गुणत्वात्, परमात्मा, अयम्, अव्ययः,
शरीरस्थः, अपि, कौन्तेय, न करोति, न, लिप्यते ॥ ३१ ॥

(कौन्तेय) हे अर्जुन ! (अनादित्वात्) अनादि होने के कारण और (निर्गुणत्वात्) निर्गुण होने के कारण, (अयम्) यह (अव्ययः) अविकारी (परमात्मा) सबका अपना आप=परमात्मा, (शरीरस्थः) शरीर में स्थित हुआ (अपि) भी, वास्तव में (न) न (करोति) कुछ करता है (न) और न (लिप्यते) लिपायमान होता है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

यथा, सर्वगतम्, सौक्ष्म्यात्, आकाशम्, न, उपलिप्यते,
सर्वत्र, अवस्थितः, देहे, तथा, आत्मा, न, उपलिप्यते ॥ ३२ ॥

(यथा) जिस प्रकार (सर्वगतम्) सर्व-व्यापक (आकाशम्) आकाश, (सौक्ष्म्यात्) सूक्ष्म होने के कारण (न उपलिप्यते) लिपायमान नहीं होता, (तथा) वैसे ही (सर्वत्र) सब (देहे) शरीरों में (अवस्थितः) स्थित हुआ (आत्मा) आत्मा, (न उपलिप्यते) लिपायमान नहीं होता।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

यथा, प्रकाशयति, एकः, कृत्स्नम्, लोकम्, इमम्, रविः,
क्षेत्रम्, क्षेत्री, तथा, कृत्स्नम्, प्रकाशयति, भारत ॥ ३३ ॥

(भारत) हे भारत ! (यथा) जिस प्रकार (एकः) एक ही (रविः) सूर्य (इमम्) इस (कृत्स्नम्) सम्पूर्ण (लोकम्) ब्रह्माण्ड को (प्रकाशयति) प्रकाशित करता है, (तथा) उसी प्रकार (क्षेत्री) एक ही आत्मा (कृत्स्नम्) सब (क्षेत्रम्) शरीरों को अपनी चित् शक्ति से (प्रकाशयति) प्रकाशित करता है, अर्थात् चेतना और बोध युक्त करता है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः, एवम्, अन्तरम्, ज्ञानचक्षुषा,
भूतप्रकृतिमोक्षम्, च, ये, विदुः, यान्ति, ते, परम् ॥ ३४ ॥

(एवम्) इस प्रकार (क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोः) शरीर और जीवात्मा के (अन्तरम्) कल्पित भेद और वास्तविक अभेद को, (च) तथा (भूत प्रकृति मोक्षम्) भौतिक जड़ प्रकृति से मुक्त होने के रहस्य को, (ये) जो लोग (ज्ञानचक्षुषा) ज्ञानरूपी नेत्रों द्वारा (विदु) तत्त्व से जानते हैं, (ते) वे तत्त्व ज्ञानी पुरुष (परम्) परब्रह्म परमात्मा को (यान्ति) प्राप्त होते हैं।

संगति—इस तेरहवें अध्याय में अद्वैत वेदान्त सिद्धान्तानुसार सबकी एकता के आत्मज्ञान का विशेष रूप से निरूपण किया गया है। आत्मा संसार का खेल करने की इच्छा करके, अनेक व्यष्टि जीव भाव होकर, अपनी इच्छा रूप प्रकृति से उत्पन्न तीन गुणों को, पहले अपने से अलग मानकर, और फिर उनके साथ तादात्म्य करके उनमें उलझ जाता है और अपने वास्तविक स्वरूप को विसारकर अनन्त प्रकार की योनियों के शरीर धारण करके जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि परस्पर विरोधी द्वन्द्वों की अनुकूल-प्रतिकूल वेदनाओं का अनुभव करता है; परन्तु जब इस खेल को समेटने की इच्छा करता है तब पीछा ही अपने असली सच्चिदानन्द स्वरूप को याद करके, प्रकृति के गुणों की उलझन से परे, द्वन्द्वातीत, अपने वास्तविक आपके विशुद्ध सर्वात्मभाव में पुनः स्थिति कर लेता है, और सारे संसार को अपने ही संकल्प का खेल समझ कर, सबको अपना ही कल्पित रूप अनुभव करता हुआ, सब द्वन्द्वों और विकारों से अलिप्त एवं निर्विकार रहता है। इस तत्त्व ज्ञान के निरूपण करने में सबसे पहले पिण्ड अथवा शरीर और ब्रह्माण्ड अथवा जगत को, उत्पत्ति-नाश और वृद्धि-ह्रास आदि परिवर्तनों के नाना प्रकार के विकारों वाली, आत्मा की इच्छा रूप त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव अथवा दृश्य बताया, जिसे क्षेत्र संज्ञा दी गई है; और इस क्षेत्र को जानने वाला तथा इन सबको सत्ता एवं चेतना युक्त करने वाला जीवात्मा, जिसको यहाँ क्षेत्रज्ञ और पुरुष संज्ञा भी दी गई है, उसको समष्टि आत्मा-परमात्मा का व्यष्टि भाव बताकर कहा है कि वास्तव में वह समष्टि आत्मा-परमात्मा से अभिन्न है, जो जगत के उत्पत्ति, नाश, बढ़ने, घटने आदि द्वन्द्वों और परिवर्तनों के विकारों से रहित, सदा एक समान रहने वाला सम, नित्य, सत्य, स्वयं प्रकाश और आनन्द स्वरूप होते हुए भी, अपनी ही मर्जी से, अपनी स्वतन्त्र कल्पना शक्ति द्वारा, अपने आमोद के लिए, अनेक व्यष्टिभाव, और नाना नामरूपात्मक द्वन्द्वों, परिवर्तनों और विकारों के बनाव बनाकर खेल या लीला करता है, और उनमें लवलीन होकर अपने को बंधा हुआ व्यष्टिजीव मानता है। अपने असली समष्टि आत्मा-परमात्माभाव से वह पिण्ड अर्थात् शरीरों और ब्रह्माण्ड अर्थात् जगत में ओत-प्रोत हैं; यानी प्रकृति की सारी रचना उसी के संकल्प में नाना

नामों और नाना रूपों का बनाव है। कर्ता-कर्म और भोक्ता-भोग्य आदि द्वन्द्व सब कुछ वह आप ही है। उसमें कारण-कार्य भाव का भेद नहीं है। कारण-कार्य भाव प्रकृति तक ही सीमित रहते हैं। वह तो असीम है। इसलिए वह प्रकृति से परे कहा जाता है। वह आत्मा सबका अपना आप है, ऐसा अनुभव करके, प्रकृति के अनेक परिवर्तनशील नाशवान् एवं विषम बनावों को झूठा, और उन अनेकों में एकता रूप अविनाशी एवं सम अपने आप=आत्मा की सत्यता के तत्त्व-ज्ञान को अच्छी तरह समझकर, अनासक्ति पूर्वक संसार के खेल में अपने शरीर की योग्यता के व्यवहार करने वाला आत्म-ज्ञानी समत्व-योगी सदा मुक्त और परमात्म-भाव में स्थित रहता है।

॥ तेरहवाँ अध्याय समाप्त ॥



अथ चतुर्दशोऽध्यायः

श्री भगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

परम्, भूयः, प्रवक्ष्यामि, ज्ञानानाम्, ज्ञानम्, उत्तमम्,
यत्, ज्ञात्वा, मुनयः, सर्वे, पराम्, सिद्धिम्, इतः, गताः ॥ १ ॥

श्री भगवान् बोले—

(**भूयः**) फिर भी, (**ज्ञानानाम्**) ज्ञानों में (**परम्**) परम (**उत्तमम्**) उत्तम (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**प्रवक्ष्यामि**) कहता हूँ, (**यत्**) जिसको (**ज्ञात्वा**) जानकर (**सर्वे**) सब (**मुनयः**) मुनिजन (**इतः**) इस देह भाव से मुक्त होकर (**पराम्**) परम (**सिद्धिम्**) सिद्धि, अर्थात् परमात्म भाव को (**गताः**) प्राप्त हो गए।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इदम्, ज्ञानम्, उपाश्रित्य, मम, साधर्म्यम्, आगताः,
सर्गे, अपि, न, उपजायन्ते, प्रलये, न, व्यथन्ति, च ॥ २ ॥

(**इदम्**) इस (**ज्ञानम्**) ज्ञान का (**उपाश्रित्य**) अवलम्बन करके, अर्थात् इसको हृदयंगम करके, (**मम**) मेरे (**साधर्म्यम्**) साथ एकत्व भाव को (**आगताः**) प्राप्त होकर, (**सर्गे**) सृष्टि के आदि में (**न उपजायन्ते**) पुनः उत्पन्न नहीं होते, (**च**) और (**प्रलये**) प्रलय काल में (**अपि न व्यथन्ति**) व्याकुल भी नहीं होते, अर्थात् जन्म-मरण के क्लेश नहीं भोगते।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

मम, योनिः, महत्, ब्रह्म, तस्मिन्, गर्भम्, दधामि, अहम्,
संभवः, सर्वभूतानाम्, ततः, भवति, भारत ॥ ३ ॥

(भारत) हे अर्जुन ! (मम) मेरे (महत्ब्रह्म) अनेक भावो मे व्यक्त होने के समष्टि सकल्प रूप स्वभाव, अथवा मूल प्रकृति (योनि) सारे विश्व की योनि है, अर्थात् कारण रूप मे सबको अपने गर्भ मे धारण करती है, (अहम्) और मैं सबका आत्मा, अपनी सत्ता और चेतना से जीव भाव होकर, (तस्मिन्) उस मे (गर्भम्) जीवन शक्ति रूप बीज (दधामि) डालता हूँ, (तत.) उससे (सर्वभूतानाम्) सब चराचर जगत की (सभव) उत्पत्ति (भवति) होती है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रद पिता ॥ ४ ॥

सर्वयोनिषु, कौन्तेय, मूर्तयः, सभवन्ति, या,
तासाम्, ब्रह्म, महत्, योनि, अहम्, बीजप्रद, पिता ॥ ४ ॥

(कौन्तेय) हे अर्जुन ! (सर्वयोनिषु) नाना प्रकार की सब योनियो में, (याः) जितनी (मूर्तय.) मूर्तियाँ अर्थात् शरीर (सभवन्ति) उत्पन्न होते हैं, (तासाम्) उन सबको (योनि) गर्भ मे धारण करने वाली माता, (महत् ब्रह्म) मेरे समष्टि सकल्प रूप मूल प्रकृति है, (अहम्) और मैं सबका आत्मा (बीजप्रदः) जीवन शक्ति रूप बीज डालने वाला (पिता) पिता हूँ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

सत्त्वम्, रज, तम, इति, गुणा, प्रकृतिसभवाः,
निबध्नन्ति महाबाहो, देहे, देहिनम्, अव्ययम् ॥ ५ ॥

(महाबाहो) हे अर्जुन ! (सत्त्वम्) सत्त्व गुण, (रज) रजोगुण, (तम) और तमोगुण, (इति) ये (प्रकृति संभवा) मेरी समष्टि प्रकृति से उत्पन्न हुए (गुणा.) तीनो गुण, (अव्ययम्) मेरे व्यष्टि भाव, अविकारी (देहिनम्) जीवात्मा को (देहे) शरीर में (निबध्नन्ति) बाँधते हैं।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

तत्र, सत्त्वम्, निर्मलत्वात्, प्रकाशकम्, अनामयम्,
सुखसङ्गेन, बध्नाति, ज्ञानसङ्गेन, च, अनघ ॥ ६ ॥

(अनघ) हे निष्पाप ! (तत्र) उन तीनो गुणों में से, (सत्त्वम्) सत्त्वगुण (प्रकाशकम्) प्रकाश करने वाला, (अनामयम्) सुखरूप, (निर्मलत्वात्) स्वच्छ होने के कारण, (सुख सङ्गेन) सुख की आसक्ति से (च) और (ज्ञान सङ्गेन) ज्ञान की

आसक्ति से (बध्नाति) बांधता है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७॥

रजः, रागात्मकम्, विद्धि, तृष्णासङ्गसमुद्भवम्,
तत्, निबध्नाति, कौन्तेय, कर्मसङ्गेन, देहिनम्॥ ७॥

(कौन्तेय) हे अर्जुन! (रागात्मकम्) राग धर्मी (रजः) रजो गुण को (तृष्णासङ्गसमुद्भवम्) तृष्णा और आसक्ति उत्पन्न करने वाला (विद्धि) जान; (तत्) वह (देहिनम्) जीवात्मा को (कर्म सङ्गेन) कर्म और उनके फल की आसक्ति से (निबध्नाति) बाँधता है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ ८॥

तमः, तु, अज्ञानजम्, विद्धि, मोहनम्, सर्वदेहिनाम्,
प्रमादालस्यनिद्राभिः, तत्, निबध्नाति, भारत॥ ८॥

(तु) परन्तु (भारत) हे अर्जुन! (सर्वदेहिनाम्) सब देहधारियों को (मोहनम्) मोहने वाले (तमः) तमोगुण को (अज्ञानजम्) अज्ञान उत्पन्न करने वाला (विद्धि) जान; (तत्) वह (प्रमादालस्यनिद्राभिः) मूढता, आलस्य और नींद के द्वारा (निबध्नाति) बाँधता है।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥ ९॥

सत्त्वम्, सुखे, संजयति, रजः, कर्मणि, भारत,
ज्ञानम, आवृत्य, तु, तमः, प्रमादे, संजयति, उत॥ ९॥

(भारत) हे अर्जुन! (सत्त्वम्) सत्त्वगुण (सुखे) सुख में, (रजः) और रजो गुण (कर्मणि) कर्म में (संजयति) लगाता है; (तु) परन्तु (तमः) तमोगुण, (ज्ञानम्) ज्ञान को (आवृत्य) आच्छादन करके अर्थात् ढक के (प्रमादे) मूढता में (उत) ही (संजयति) लगाता है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ १०॥

रजः, तमः, च, अभिभूय, सत्त्वम्, भवति, भारत,
रजः, सत्त्वम्, तमः, च, एव, तमः, सत्त्वम्, रजः, तथा॥ १०॥

(च) और (भारत) हे अर्जुन ! (रज) रजोगुण और (तम) तमोगुण को (अभिभूय) दबाकर (सत्त्वम्) सत्त्वगुण (भवति) बढ़ता है, अर्थात् सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, (च) तथा (रज.) रजोगुण और (सत्त्वम्) सत्त्वगुण को दबाकर (तमः) तमोगुण, (तथा) वैसे (एव) ही (तम) तमोगुण और (सत्त्वम्) सत्त्वगुण को दबाकर (रज) रजोगुण बढ़ता है, अर्थात् इनकी प्रधानता होती है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

सर्वद्वारेषु, देहे, अस्मिन्, प्रकाश, उपजायते,
ज्ञानम्, यदा, तदा, विद्यात्, विवृद्धम्, सत्त्वम्, इति, उत ॥ ११ ॥

(यदा) जिस समय (अस्मिन्) इस (देहे) देह मे, (सर्वद्वारेषु) अन्त.करण और इन्द्रिया मे, (ज्ञानम्) ज्ञान रूप (प्रकाश) प्रकाश (उपजायते) उत्पन्न होता है, अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और सब इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों का स्पष्ट और यथार्थ ज्ञान होता है, (तदा) तब (इति) ऐसा (विद्यात्) समझना चाहिए (उत) कि अब (सत्त्वम्) सत्त्वगुण (विवृद्धम्) बढ़ा हुआ है।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

लोभ, प्रवृत्ति., आरम्भ., कर्मणाम्, अशम, स्पृहा,
रजसि, एतानि, जायन्ते विवृद्धे, भरतर्षभ ॥ १२ ॥

(भरतर्षभ) हे अर्जुन ! (रजसि) रजोगुण के (विवृद्धे) बढ़ने पर (लोभ.) लोभ, (प्रवृत्ति.) क्रियाशीलता, (आरभ) आरभ, अर्थात् आडम्बर रचने के संकल्प, (कर्मणाम्) कर्मों के करने मे (अशम) सन्तोष न होना, (स्पृहा) चाहना अथवा लालसा बनी रहना, (एतानि) यह सब (जायन्ते) उत्पन्न होते है।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

अप्रकाश, अप्रवृत्ति, च, प्रमाद, मोह, एव, च,
तमसि, एतानि, जायन्ते, विवृद्धे, कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

(कुरुनन्दन) हे अर्जुन ! (तमसि) तमोगुण के (विवृद्धे) बढ़ने पर (अप्रकाश) अज्ञान, (अप्रवृत्ति) अकर्मण्यता, (च) और (प्रमाद.) मूढ़ता, (च) और (मोह) मोह (एव) आदि, (एतानि) ये सब (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ।। १४ ।।

यदा, सत्त्वे, प्रवृद्धे, तु, प्रलयम्, याति, देहभृत्,
तदा, उत्तमविदाम्, लोकान्, अमलान्, प्रतिपद्यते ।। १४ ।।

(देहभृत्) इस देहधारी जीवात्मा का सूक्ष्म शरीर (यदा) जब (सत्त्वे) सत्त्वगुण की (प्रवृद्धे) वृद्धि में (प्रलयम् याति) स्थूल शरीर छोड़ता है, (तदा) तब (तु) तो (अमलान्) श्रेष्ठाचारी (उत्तम विदाम्) उत्तम ज्ञानवानों के (लोकान्) समाज को (प्रतिपद्यते) प्राप्त होता है ।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।। १५ ।।

रजसि, प्रलयम्, गत्वा, कर्मसंगिषु, जायते,
तथा, प्रलीनः, तमसि, मूढयोनिषु, जायते ।। १५ ।।

(रजसि) रजोगुण बढ़ने के समय (प्रलयम् गत्वा) स्थूल शरीर छोड़ने वाला, सूक्ष्म शरीर, (कर्मसंगिषु) काम्य कर्मों में आसक्ति रखने वाले मनुष्यों के समाज में (जायते) जन्म लेता है । (तथा) तथा (तमसि) तमोगुण बढ़ने पर (प्रलीनः) स्थूल शरीर को छोड़ने वाला सूक्ष्म शरीर (मूढयो-निषु) कीट, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदि मूढयोनियों में (जायते) उत्पन्न होता है ।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।। १६ ।।

कर्मणः, सुकृतस्य, आहुः, सात्त्विकम्, निर्मलम्, फलम्,
रजसः, तु, फलम्, दुःखम्, अज्ञानम्, तमसः, फलम् ।। १६ ।।

(सात्त्विकम्) सात्त्विक, (सुकृतस्य) लोक हित के सुकृत (कर्मणः) कर्म का (फलम्) फल (तु) तो (निर्मलम्) निर्मल, सुख रूप, (रजसः) राजस कर्म का (फलम्) फल (दुःखम्) दुःख, (तमसः) एवं तामस कर्म का (फलम्) फल (अज्ञानम्) अज्ञान (आहुः) कहा गया है ।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।। १७ ।।

सत्त्वात्, संजायते, ज्ञानम्, रजसः, लोभ, एव, च,
प्रमादमोहौ, तमसः, भवतः, अज्ञानम्, एव, च ।। १७ ।।

(च) और (भारत) हे अर्जुन! (रजः) रजोगुण और (तमः) तमोगुण को (अभिभूय) दबाकर (सत्त्वम्) सत्त्वगुण (भवति) बढ़ता है, अर्थात् सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, (च) तथा (रजः) रजोगुण और (सत्त्वम्) सत्त्वगुण को दबाकर (तमः) तमोगुण, (तथा) वैसे (एव) ही (तमः) तमोगुण और (सत्त्वम्) सत्त्वगुण को दबाकर (रजः) रजोगुण बढ़ता है, अर्थात् इनकी प्रधानता होती है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ ११॥

सर्वद्वारेषु, देहे, अस्मिन्, प्रकाशः, उपजायते,
ज्ञानम्, यदा, तदा, विद्यात्, विवृद्धम्, सत्त्वम्, इति, उत॥ ११॥

(यदा) जिस समय (अस्मिन्) इस (देहे) देह में, (सर्वद्वारेषु) अन्तःकरण और इन्द्रियों में, (ज्ञानम्) ज्ञान रूप (प्रकाशः) प्रकाश (उपजायते) उत्पन्न होता है, अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और सब इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों का स्पष्ट और यथार्थ ज्ञान होता है, (तदा) तब (इति) ऐसा (विद्यात्) समझना चाहिए (उत) कि अब (सत्त्वम्) सत्त्वगुण (विवृद्धम्) बढ़ा हुआ है।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ १२॥

लोभः, प्रवृत्तिः, आरम्भः, कर्मणाम्, अशमः, स्पृहा,
रजसि, एतानि, जायन्ते, विवृद्धे, भरतर्षभ॥ १२॥

(भरतर्षभ) हे अर्जुन! (रजसि) रजोगुण के (विवृद्धे) बढ़ने पर (लोभः) लोभ, (प्रवृत्तिः) क्रियाशीलता, (आरम्भः) आरम्भ, अर्थात् आडम्बर रचने के सङ्कल्प, (कर्मणाम्) कर्मों के करने में (अशमः) सन्तोष न होना, (स्पृहा) चाहना अथवा लालसा बनी रहना, (एतानि) यह सब (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ १३॥

अप्रकाशः, अप्रवृत्तिः, च, प्रमादः, मोहः, एव, च,
तमसि, एतानि, जायन्ते, विवृद्धे, कुरुनन्दन॥ १३॥

(कुरुनन्दन) हे अर्जुन! (तमसि) तमोगुण के (विवृद्धे) बढ़ने पर (अप्रकाशः) अज्ञान, (अप्रवृत्तिः) अकर्मण्यता, (च) और (प्रमादः) मूढ़ता, (च) और (मोहः) मोह (एव) आदि, (एतानि) ये सब (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ।। १४ ।।

यदा, सत्त्वे, प्रवृद्धे, तु, प्रलयम्, याति, देहभृत्,
तदा, उत्तमविदाम्, लोकान्, अमलान्, प्रतिपद्यते ।। १४ ।।

(देहभृत्) इस देहधारी जीवात्मा का सूक्ष्म शरीर (यदा) जब (सत्त्वे) सत्त्वगुण की (प्रवृद्धे) वृद्धि में (प्रलयम् याति) स्थूल शरीर छोड़ता है, (तदा) तब (तु) तो (अमलान्) श्रेष्ठाचारी (उत्तम विदाम्) उत्तम ज्ञानवानों के (लोकान्) समाज को (प्रतिपद्यते) प्राप्त होता है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।। १५ ।।

रजसि, प्रलयम्, गत्वा, कर्मसंगिषु, जायते,
तथा, प्रलीनः, तमसि, मूढयोनिषु, जायते ।। १५ ।।

(रजसि) रजोगुण बढ़ने के समय (प्रलयम् गत्वा) स्थूल शरीर छोड़ने वाला, सूक्ष्म शरीर, (कर्मसंगिषु) काम्य कर्मों में आसक्ति रखने वाले मनुष्यों के समाज में (जायते) जन्म लेता है। (तथा) तथा (तमसि) तमोगुण बढ़ने पर (प्रलीनः) स्थूल शरीर को छोड़ने वाला सूक्ष्म शरीर (मूढयो-निषु) कीट, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदि मूढयोनियों में (जायते) उत्पन्न होता है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।। १६ ।।

कर्मणः, सुकृतस्य, आहुः, सात्त्विकम्, निर्मलम्, फलम्,
रजसः, तु, फलम्, दुःखम्, अज्ञानम्, तमसः, फलम् ।। १६ ।।

(सात्त्विकम्) सात्त्विक, (सुकृतस्य) लोक हित के सुकृत (कर्मणः) कर्म का (फलम्) फल (तु) तो (निर्मलम्) निर्मल, सुख रूप, (रजसः) राजस कर्म का (फलम्) फल (दुःखम्) दुःख, (तमसः) एवं तामस कर्म का (फलम्) फल (अज्ञानम्) अज्ञान (आहुः) कहा गया है।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।। १७ ।।

सत्त्वात्, संजायते, ज्ञानम्, रजसः, लोभ, एव, च,
प्रमादमोहौ, तमसः, भवतः, अज्ञानम्, एव, च ।। १७ ।।

(च) और (भारत) हे अर्जुन ! (रजः) रजोगुण और (तमः) तमोगुण को (अभिभूय) दबाकर (सत्त्वम्) सत्त्वगुण (भवति) बढ़ता है, अर्थात् सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, (च) तथा (रजः) रजोगुण और (सत्त्वम्) सत्त्वगुण को दबाकर (तमः) तमोगुण, (तथा) वैसे (एव) ही (तमः) तमोगुण और (सत्त्वम्) सत्त्व-गुण को दबाकर (रजः) रजोगुण बढ़ता है, अर्थात् इनकी प्रधानता होती है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

सर्वद्वारेषु, देहे, अस्मिन्, प्रकाशः, उपजायते,
ज्ञानम्, यदा, तदा, विद्यात्, विवृद्धम्, सत्त्वम्, इति, उत ॥ ११ ॥

(यदा) जिस समय (अस्मिन्) इस (देहे) देह में, (सर्वद्वारेषु) अन्तःकरण और इन्द्रियों में, (ज्ञानम्) ज्ञान रूप (प्रकाशः) प्रकाश (उपजायते) उत्पन्न होता है, अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और सब इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों का स्पष्ट और यथार्थ ज्ञान होता है, (तदा) तब (इति) ऐसा (विद्यात्) समझना चाहिए (उत) कि अब (सत्त्वम्) सत्त्वगुण (विवृद्धम्) बढ़ा हुआ है।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

लोभः, प्रवृत्तिः, आरम्भः, कर्मणाम्, अशमः, स्पृहा,
रजसि, एतानि, जायन्ते, विवृद्धे, भरतर्षभ ॥ १२ ॥

(भरतर्षभ) हे अर्जुन ! (रजसि) रजोगुण के (विवृद्धे) बढ़ने पर (लोभः) लोभ, (प्रवृत्तिः) क्रियाशीलता, (आरम्भः) आरम्भ, अर्थात् आडम्बर रचने के संकल्प, (कर्मणाम्) कर्मों के करने में (अशमः) सन्तोष न होना, (स्पृहा) चाहना अथवा लालसा बनी रहना, (एतानि) यह सब (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

अप्रकाशः, अप्रवृत्तिः, च, प्रमादः, मोहः, एव, च,
तमसि, एतानि, जायन्ते, विवृद्धे, कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

(कुरुनन्दन) हे अर्जुन ! (तमसि) तमोगुण के (विवृद्धे) बढ़ने पर (अप्रकाशः) अज्ञान, (अप्रवृत्तिः) अकर्मण्यता, (च) और (प्रमादः) मूढ़ता, (च) और (मोहः) मोह (एव) आदि, (एतानि) ये सब (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं।

अनुभव करके (जन्ममृत्यु-जरा दुःखैः) जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था आदि सब प्रकार के दुःखों से (विमुक्तः) मुक्त होकर (अमृतम्) परमानन्द को (अश्नुते) प्राप्त होता है।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

कैः, लिङ्गैः, त्रीन्, गुणान्, एतान्, अतीतः, भवति, प्रभो,
किमाचारः, कथम्, च, एतान्, त्रीन्, गुणान्, अतिवर्तते ॥ २१ ॥

अर्जुन ने पूछा कि—

(एतान्) इन (त्रीन्) तीनों (गुणान्) गुणों से (अतीतः) परे हुआ पुरुष (कैः) किन किन (लिंगैः) लक्षणों से युक्त (च) और (किमाचारः) किस प्रकार के आचरणों वाला (भवति) होता है, तथा (प्रभो) हे प्रभो! (कथम्) वह किस तरह (एतान्) इन (त्रीन्) तीनों (गुणान्) गुणों को (अतिवर्तते) अतिक्रमण करके वर्तता है, अर्थात् तीनों गुणों से परे होकर वह शरीर के व्यवहार किस तरह करता है।

श्री भगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥

प्रकाशम्, च, प्रवृत्तिम्, च, मोहम्, एव, च, पाण्डव,
न, द्वेष्टि, संप्रवृत्तानि, न, निवृत्तानि, कांक्षति ॥ २२ ॥

श्री भगवान बोले कि—

(सत्त्वात्) सत्त्वगुण से (ज्ञानम्) ज्ञान (सञ्जायते) उत्पन्न होता है, (च) और (रजस) रजोगुण से (लोभ एव) लोभ आदि, (च) तथा (तमस.) तमोगुण से (प्रमादमोहौ) मूढता, मोह, (अज्ञानम् एव) अज्ञान आदि (भवत) उत्पन्न होते है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुण वृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा ॥१८॥

ऊर्ध्वम्, गच्छन्ति, सत्त्वस्था, मध्ये, तिष्ठन्ति, राजसा,
जघन्यगुणवृत्तिस्था, अध, गच्छन्ति, तामसा. ॥ १८ ॥

(सत्त्वस्था) सत्त्वगुण मे स्थित हुए लोग (ऊर्ध्वम्) ऊपर को (गच्छन्ति) जाते है, अर्थात् उन्नत होते है, (राजसा) रजोगुण में स्थित, राजस लोग (मध्ये) बीच की स्थिति मे (तिष्ठन्ति) रहते हैं, और (जघन्यगुणवृत्तिस्था) निकृष्ट गुण की वृत्ति वाले (तामसा) तामस लोग (अध) नीचे को (गच्छन्ति) जाते हैं, अर्थात् उनका अध पतन होता है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

न, अन्यम्, गुणेभ्य, कर्तारम्, यदा, द्रष्टा, अनुपश्यति,
गुणेभ्य, च, परम्, वेत्ति, मद्भावम्, स., अधिगच्छति ॥ १९ ॥

(यदा) जब (द्रष्टा) आत्मज्ञानी पुरुष, (गुणेभ्य.) तीनों गुणो के सिवाय (अन्यम्) अन्य किसी को (कर्तारम्) कर्ता (न) नहीं (अनुपश्यति) जानता है, अर्थात् गुण ही गुणो मे बर्तते हैं, ऐसा समझता है; (च) और (गुणेभ्य) अपने आप = आत्मा को तीनो गुणो से (परम्) परे, अर्थात् इनके विकारो से रहित, इनका स्वामी (वेत्ति) अनुभव करता है, (सः) वह पुरुष (मद्भावम्) मेरे सर्वात्म भाव को (अधिगच्छति) प्राप्त होता है, अर्थात् मेरा स्वरूप हो जाता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्म मृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

गुणान्, एतान्, अतीत्य, त्रीन्, देही, देहसमुद्भवान्,
जन्ममृत्युजरादु खै., विमुक्त., अमृतम्, अश्नुते ॥ २० ॥

(देही) देहधारी आत्मज्ञानी पुरुष, (देहसमुद्भवान्) शरीर को उत्पत्ति करने वाले (एतान्) इन (त्रीन्) तीनो (गुणान्) गुणो को (अतीत्य) उल्लंघन करके, अर्थात् अपने आप = आत्मा को इनकी उलझन से परे, इनका स्वामी और शासक

अनुभव करके (जन्ममृत्यु-जरा दुःखैः) जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था आदि सब प्रकार के दुःखों से (विमुक्तः) मुक्त होकर (अमृतम्) परमानन्द को (अश्नुते) प्राप्त होता है।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

कैः, लिङ्गैः, त्रीन्, गुणान्, एतान्, अतीतः, भवति, प्रभो,
किमाचारः, कथम्, च, एतान्, त्रीन्, गुणान्, अतिवर्तते ॥ २१ ॥

अर्जुन ने पूछा कि—

(एतान्) इन (त्रीन्) तीनों (गुणान्) गुणों से (अतीतः) परे हुआ पुरुष (कैः) किन किन (लिंगैः) लक्षणों से युक्त (च) और (किमाचारः) किस प्रकार के आचरणों वाला (भवति) होता है, तथा (प्रभो) हे प्रभो! (कथम्) वह किस तरह (एतान्) इन (त्रीन्) तीनों (गुणान्) गुणों को (अतिवर्तते) अतिक्रमण करके वर्तता है, अर्थात् तीनों गुणों से परे होकर वह शरीर के व्यवहार किस तरह करता है।

श्री भगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥

प्रकाशम्, च, प्रवृत्तिम्, च, मोहम्, एव, च, पाण्डव,
न, द्वेष्टि, संप्रवृत्तानि, न, निवृत्तानि, कांक्षति ॥ २२ ॥

श्री भगवान बोले कि—

(पाण्डव) हे अर्जुन! (प्रकाशम्) गुणातीत समत्व-योगी, प्रकाश रूप सत्त्व गुण के (च) और (प्रवृत्तिम्) प्रवृत्ति रूप रजोगुण के (च) तथा (मोहम्) मोह रूप तमोगुण के (संप्रवृत्तानि) प्रवृत्त होने पर (न द्वेष्टि) द्वेष नहीं करता, अर्थात् उनके बढ़ने पर उनसे द्वेष नहीं करता, किन्तु उनको अपने आधीन रखकर उनका यथायोग्य उपयोग करता है; (च) और (निवृत्तानि) निवृत्त होने पर, अर्थात् घटने पर (न काङ्क्षति) उनकी इच्छा नहीं करता, अर्थात् उनमें राग द्वेष नहीं रखता। तात्पर्य यह कि गुणातीत समत्व-योगी गुणों से सर्वथा रहित अथवा शून्य-निर्गुण होकर शरीर नहीं त्याग देता, किन्तु उनका यथायोग्य उपयोग करके संसार के सब प्रकार के व्यवहार करता हुआ भी उनमें नहीं उलझता, अलिप्त रहता है।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

उदासीनवत्, आसीन, गुणै, यः, न, विचाल्यते,
गुणा, वर्तन्ते, इति, एव, य, अवतिष्ठति, न, इङ्गते ॥ २३ ॥

(य) जो (उदासीनवत्) उदासीन की तरह (आसीन) स्थित हुआ, अर्थात् अनासक्ति पूर्वक ससार के व्यवहार करता हुआ, (गुणै) गुणो के द्वारा (न विचाल्यते) समत्व-योग से विचलित नही किया जा सकता, (य) जो (इति) यह समझकर कि (गुणा. एव) गुण ही गुणो मे (वर्तन्ते) वर्तते हैं, (अवतिष्ठति) अपने साम्य भाव मे निर्विकार रूप से स्थित रहता है, (न इ गते) उस स्थिति मे चलायमान नही होता,

समदुःखसुख· स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

समदु खसुख, स्वस्थ, समलोष्टाश्मकाञ्चन,
तुल्यप्रियाप्रिय·, धीर., तुल्यनिन्दात्मसस्तुति. ॥ २४ ॥

(स्वस्थ) निरन्तर अपने आत्मभाव मे स्थित होकर, (सम दु खसुख) दु ख-सुख को समान समझने वाला, (सम लोष्टाश्मकाञ्चन) मिट्टी, पत्थर और सोने को यथायोग्य उपयोग की दृष्टि मे एक समान आवश्यक समझने वाला, (धीर) धैर्यवान्, (तुल्य प्रियाप्रिय) प्रिय और अप्रिय को समान समझता है, अर्थात् अनुकूलता और प्रतिकूलता मे जिसके अन्त करण का सन्तुलन एक-सा बना रहता है, और (तुल्य निन्दात्मसस्तुति) अपनी निन्दा-स्तुति मे भी सम रहता है,

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

मानापमानयो, तुल्य, तुल्य, मित्रारिपक्षयो,
सर्वारम्भपरित्यागी, गुणातीत, स, उच्यते ॥ २५ ॥

(मानापमानयो) मान और अपमान मे (तुल्य) सम है एव (मित्रारिपक्षयो) मित्र और वैरी के पक्ष मे भी (तुल्य) सम है; अर्थात् परस्पर विरोधी सभी भावो मे यथायोग्य वर्तता हुआ, एक समान निर्विकार बना रहता है, (स) वह (सर्वारम्भ परित्यागी) सम्पूर्ण आरम्भो, अर्थात् रजोगुणी आडम्बरो का सर्वथा त्याग करने वाला, आत्मज्ञानी समत्व-योगी (गुणातीत) गुणातीत (उच्यते) कहा जाता है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। २६ ।।

माम्, च, यः, अव्यभिचारेण, भक्तियोगेन, सेवते,
सः, गुणान्, समतीत्य, एतान्, ब्रह्मभूयाय, कल्पते ।। २६ ।।

(**च**) और (**यः**) जो समत्व-योगी (**अव्यभिचारेण**) सबकी एकता के निश्चय से अनन्य भाव के अटल (**भक्ति योगेन**) भक्ति-योग द्वारा, (**माम्**) विश्व रूपधारी मुझको (**सेवते**) सेवता है, अर्थात् सारे विश्व को मेरा ही रूप समझकर, एकता के प्रेम युक्त लोक सेवा के काम करता है, (**सः**) वह (**एतान्**) इन तीनों (**गुणान्**) गुणों को (**समतीत्य**) सर्वथा उल्लंघन करके, अर्थात् इनके प्रभाव से रहित होकर (**ब्रह्मभूयाय**) ब्रह्म रूप होने के (**कल्पते**) योग्य होता है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।। २७ ।।

ब्रह्मणः, हि, प्रतिष्ठा, अहम्, अमृतस्य, अव्ययस्य, च,
शाश्वतस्य, च, धर्मस्य, सुखस्य, ऐकान्तिकस्य, च ।। २७ ।।

(**अहम्**) मैं, सबका अपना आप—आत्मा (**हि**) ही (**अमृतस्य**) अविनाशी (**च**) और (**अव्ययस्य**) अविकारी (**ब्रह्मणः**) परब्रह्म का; (**च**) तथा (**शाश्वतस्य**) नित्य, सदा एकसा रहने वाले (**धर्मस्य**) धर्म का, (**च**) और (**ऐकान्तिकस्य**) अखण्ड, एक रस (**सुखस्य**) आनन्द का (**प्रतिष्ठा**) आश्रय हूँ, अर्थात् ये सब मेरे संकल्प में स्थित हैं।

संगति—तेरहवें अध्याय में कहा गया है कि जीवात्मा प्रकृति के गुणों में आसक्ति करके बंधता है। अब इस चौदहवें अध्याय में पहले आत्मा को विश्व के पिता और प्रकृति को माता का रूपक देकर समझाया गया है कि आत्मा के एक से अनेक भावों में व्यक्त होने के स्वभाव ही का नाम प्रकृति है, वह आत्मा की सत्ता और चेतना से ही सारे विश्व को प्रसव करती है। फिर प्रकृति से उत्पन्न सत्व, रज और तम गुणों के अलग-अलग स्वभाव, और उनके जो-जो प्रभाव जीवात्मा पर होते हैं, और वह जिस प्रकार इनमें तादात्म्य संबंध की आसक्ति करके बंधता तथा ऊंची-नीची योनियों में जन्म लेता है, इसका स्पष्टीकरण करके, आत्मज्ञानी गुणातीत महापुरुष जिस तरह, तीन गुणों के स्वामी भाव से उनका यथायोग्य उपयोग करता हुआ समत्व-योग के आचरण द्वारा अनुकूलता-प्रतिकूलता में सम रहता है, उसका रहस्य समझाया गया है।

।। चौदहवाँ अध्याय समाप्त ।।

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

श्री भगवान् उवाच

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

ऊर्ध्वमूलम्, अधः, शाखम, अश्वत्थम्, प्राहुः, अव्ययम्,
छन्दांसि, यस्य, पर्णानि, यः, तम्, वेद, सः, वेदवित् ॥ १ ॥

श्री भगवान् बोले कि—

(ऊर्ध्व मूलम्) ऊपर मूल, अर्थात् ऊपर की तरफ जड़ वाले, (अधःशाखम्) नीचे शाखा, अर्थात् नीचे की तरफ डालो वाले, (अश्वत्थम्) समष्टि संकल्प से उत्पन्न, कल्पित संसार रूपी अस्थायी पीपल के वृक्ष को, (अव्ययम्) प्रवाह रूप से, अविनाशी (प्राहुः) कहते हैं। (छन्दांसि) कर्मकाण्डात्मक वेद के मन्त्र (यस्य) जिसके (पर्णानि) पत्ते है, (तम्) उस, कल्पित संसार वृक्ष को, (यः) जो पुरुष, इस तरह (वेद) जानता है (सः) वह (वेदवित्) वेद के तात्पर्य को जानने वाला है, अर्थात् सच्चा ज्ञानी है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

अधः, च, ऊर्ध्वम्, प्रसृताः, तस्य, शाखाः, गुणप्रवृद्धाः, विषयप्रवालाः,
अधः, च, मूलानि, अनुसंततानि, कर्मानुबन्धीनि, मनुष्यलोके ॥ २ ॥

(तस्य) उस संसार वृक्ष की (शाखाः) शाखाएँ (गुणप्रवृद्धाः) तीन गुणों से बढ़ती हुई, (अधः) नीचे (च) और (ऊर्ध्वम्) ऊपर सर्वत्र (प्रसृताः) फैली हुई हैं, (विषयप्रवालाः) जिनमे विषय भोग रूप अंकुर निकल रहे हैं, (मनुष्यलोके) मनुष्य योनि मे (कर्मानुबन्धीनि) कर्मों के अनुसार बाँधने वाली, (मूलानि) अहंता, ममता और वासना रूप जड़ें (अधः) नीचे (च) भी (अनुसंततानि) गहरी चली गई हैं।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥३॥

न, रूपम्, अस्य, इह, तथा उपलभ्यते, न, अन्तः, न, च, आदिः, न, च,
संप्रतिष्ठा, अश्वत्थम् एनम्, सुविरूढमूलम्, असंगशस्त्रेण, दृढेन, छित्वा ॥ ३ ॥

(इह) यहाँ (न) न तो (अस्य) इस संसार वृक्ष के (रूपम्) स्वरूप का, (तथा) तथा (न) न (आदिः) आदि का, (च) और (न) न (अन्तः) अन्त का, (च) तथा (न) न (सप्रतिष्ठा) इसकी स्थिति का (उपलभ्यते) कुछ पता लगता है; (सुविरूढमूलम्) अहंता, ममता और वासना रूप अत्यन्त गहरी जमी हुई जड़ों वाले (एनम्) इस (अश्वत्थम्) संसार रूपी अस्थाई पीपल के वृक्ष को (दृढेन्) दृढ़ (असंगशस्त्रेण) अनासक्ति रूप शस्त्र द्वारा (छित्वा) काट कर;

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

ततः, पदम्, तत्, परिमार्गितव्यम्, यस्मिन्, गताः, न, निवर्तन्ति, भूयः,
तम्, एव, च, आद्यम्, पुरुषम्, प्रपद्ये, यतः, प्रवृत्तिः, प्रसृता, पुराणी ॥ ४ ॥

(ततः) फिर, (तत्) उस (पदम्) परमपद की (परिमार्गितव्यम्) अच्छी तरह खोज करनी चाहिए, (यस्मिन्) जिसमें (गताः) गये हुए मनुष्य (भूयः) फिर (न निवर्तन्ति) पीछे नहीं आते; (च) और ऐसी भावना करनी चाहिए कि (यतः) जिस आदि पुरुष से (पुराणी) इस पुरातन (प्रवृत्तः) संसार वृक्ष की प्रवृत्ति (प्रसृता) विस्तृत हो रही है, (तम्) उस (एव) ही (आद्यम्) आदि (पुरुषम्) पुरुष=परमात्मा को, मैं (प्रपद्ये) प्राप्त हो रहा हूँ, अर्थात् आत्मा परमात्मा की एकता का आत्मानुभव करना चाहिए।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुख दुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

निर्मानमोहाः, जितसंगदोषा, अध्यात्मनित्या, विनिवृत्तकामाः,
द्वन्द्वैः, विमुक्ताः, सुखदुःखसंज्ञैः, गच्छन्ति, अमूढाः, पदम्, अव्ययम्, तत् ॥ ५ ॥

(निर्मानमोहाः) जो मान और मोह से रहित हैं; (जितसंगदोषा) जिनने आसक्ति के दोष जीत लिए हैं; (अध्यात्मनित्या) जिनकी अध्यात्म ज्ञान में निरन्तर स्थिति रहती है; (विनिवृत्तकामाः) जिनकी सब कामनाएँ निवृत्त हो गई हैं; (सुखदुःखसंज्ञैः) और जो सुख-दुःख रूप (द्वन्द्वैः) द्वन्द्वों के प्रभाव से (विमुक्ताः) मुक्त हैं; (अमूढाः) ऐसे ज्ञानी जन (तत्) उस (अव्ययम्) अवि-

नाशी (पदम्) परमपद को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं, अर्थात् आत्मानुभव के परमात्मभाव मे स्थित होते हैं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

न, तत्, भासयते, सूर्यः, न, शशाङ्कः, न, पावकः,
यत्, गत्वा, न, निवर्तन्ते, तत्, धाम, परमम्, मम ॥ ६ ॥

(तत्) उस, स्वय प्रकाशमय परम पद को, (न) न तो (सूर्य) सूर्य, (न) न (शशाङ्क) चन्द्रमा, (न) न (पावकः) अग्नि ही (भासयते) प्रकाशित कर सकता है, (यत्) जिस परम पद को (गत्वा) प्राप्त होकर मनुष्य (न निवर्तन्ते) पीछे नही आते, (तत्) वही (मम) मेरा (परमम्) परम (धाम) धाम है, अर्थात् परमात्म भाव की स्थिति है।

सगति—इस छठे श्लोक का भावार्थ यह है कि पाँचवें श्लोक मे वर्णित गुणो वाले आत्मज्ञानी पुरुष, उपरोक्त कल्पित असत् ससार मे आसक्ति नही रखकर, उस परम पद मे स्थित होते हैं, जिसको सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि, सासारिक पदार्थों को प्रकाशित करने वाली शक्तियाँ प्रकाशित नही कर सकती; क्योंकि ये प्रकाशवान् शक्तियाँ भी सबके अपने आप=आत्मा-परमात्मा के सकल्प से रचित, कल्पित असत् ससार के अन्तर्गत ही है, उनमे जो प्रकाश है, वह स्वय प्रकाश आत्मा का ही है, और वह परम पद सबके अपने आप, सबके आत्मा=परमात्मा के आत्मानुभव की स्थिति है। यथार्थ आत्मानुभव होने पर फिर वे आत्मज्ञानी पुरुष उस स्थिति से नही डिगते और परवशता से जन्म-मरण के चक्कर मे नही आते।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

मम, एव, अंश, जीवलोके, जीवभूतः, सनातनः,
मन षष्ठानि, इन्द्रियाणि, प्रकृतिस्थानि, कर्षति ॥ ७ ॥

(मम) मेरा, अर्थात् समष्टि आत्मा परमात्मा का (एव) ही (सनातन) सनातन (अंश) अंश (जीवभूत) जीवभाव धारण करके (प्रकृति स्थानि) प्रकृति मे, अर्थात् अपने स्वभाव मे समष्टि भाव से रहने वाली (मन षष्ठानि) मन सहित, आँख, नाक, कान, जीभ, और त्वचा, इन छ (इन्द्रियाणि) ज्ञानेन्द्रियो के समूह=सूक्ष्म शरीर को (जीवलोके) प्राणियो के स्थूल शरीर मे (कर्षति) आकर्षित करता है, अर्थात् सूक्ष्म शरीर से स्थूल भौतिक शरीर धारण करता है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

शरीरम्, यत्, अवाप्नोति, यत्, च, अपि, उत्क्रामति, ईश्वरः,
गृहीत्वा, एतानि, संयाति, वायुः, गंधान्, इव, आशयात् ॥ ८ ॥

(ईश्वरः) सब शरीरों का स्वामी, ईश्वर रूप जीवात्मा (यत्) जिस (शरीरम्) शरीर को (अवाप्नोति) प्राप्त होता है, अर्थात् जिस शरीर का रूप धारण करता है, (च) और (यत्) जिस शरीर के साथ (उत्क्रामति) तादात्म्य सम्बन्ध छोड़ता (अपि) भी है, (आशयात्) जैसे गंध वाले पदार्थों से (वायुः) वायु (गन्धान्) गन्ध को अपने साथ ले जाता है, (इव) उसी तरह (एतानि) इन मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियों के समूह=सूक्ष्म शरीर को (गृहीत्वा) अपने साथ लेकर (संयाति) जाता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

श्रोत्रम्, चक्षुः, स्पर्शनम्, च, रसनम्, घ्राणम्, एव, च,
अधिष्ठाय, मनः, च, अयम्, विषयान्, उपसेवते ॥ ९ ॥

(अयम्) यह जीवात्मा, (श्रोत्रम्) कान, (चक्षुः) आँख (च) और (स्पर्शनम्) त्वचा, (रसनम्) रसना (च) तथा (घ्राणम्) नाक (च) और (मनः) मन (एव) इन सबमें (अधिष्ठाय) स्थित होकर, अर्थात् इनके द्वारा (विषयान्) विषयों को (उपसेवते) भोगता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

उत्क्रामन्तम्, स्थितम्, वा, अपि, भुंजानम्, वा, गुणान्वितम्,
विमूढ़ाः, न, अनुपश्यन्ति, पश्यन्ति, ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

(उत्क्रामन्तम्) शरीर से तादात्म्य सम्बन्ध छोड़ते हुए को (वा) अथवा (स्थितम्) शरीर में रहते हुए को, (भुंजानम्) विषयों को भोगते हुए को (वा) अथवा (गुणान्वितम्) तीनों गुणों से युक्त हुए को (अपि) भी (विमूढ़ाः) अज्ञानी लोग (न) नहीं (अनुपश्यन्ति) पहचानते; (ज्ञानचक्षुषः) ज्ञान रूपी नेत्रों वाले (पश्यन्ति) ज्ञानी जन ही तत्त्व से जानते हैं।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

यतन्त, योगिन, च, एनम्, पश्यन्ति, आत्मनि, अवस्थितम्,
यतन्त, अपि, अकृतात्मान, न, एनम्, पश्यन्ति, अचेतस ॥ ११ ॥

(योगिन) आत्मज्ञानी समत्व-योगी लोग (यतन्त) यत्न करते हुए (एनम्) इस आत्मा को (आत्मनि) अपने आप में (अवस्थितम्) अभेद रूप से स्थित (पश्यन्ति) देखते है, अर्थात् अनुभव करते है (च) परन्तु (अकृतात्मान) अशुद्ध अन्तःकरण वाले भेदवादी (अचेतस) बेसमझ लोग (यतन्त) यत्न करते हुए (अपि) भी (एनम्) इस आत्मा को (न) नही (पश्यन्ति) पहचानते।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

यत्, आदित्यगतम्, तेज, जगत्, भासयते, अखिलम्,
यत्, चन्द्रमसि, यत्, च, अग्नौ, तत्, तेज, विद्धि, मामकम् ॥ १२ ॥

(यत्) जो (आदित्य गतम्) सूर्य में व्याप्त, (यत्) जो (चन्द्रमसि) चन्द्रमा में व्याप्त (च) तथा (यत्) जो (अग्नौ) अग्नि मे व्याप्त (तेज) तेज (अखिलम्) सम्पूर्ण (जगत्) जगत को (भासयते) प्रकाशित करता है, (तत्) उसको (मामकम्) मेरा, अर्थात् सर्वात्मा का ही (तेज) तेज (विद्धि) जान।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

गाम्, आविश्य, च, भूतानि, धारयामि, अहम्, ओजसा,
पुष्णामि, च, औषधी, सर्वा, सोम, भूत्वा, रसात्मक ॥ १३ ॥

(च) और (अहम्) मैं सबका आत्मा ही (गाम्) पृथ्वी मे (आविश्य) व्याप्त हुआ, अर्थात् पृथ्वी रूप होकर (ओजसा) अपनी सत्ता से (भूतानि) सब भूतों को, अर्थात् भौतिक जगत को (धारयामि) धारण करता हूँ, (च) और (रसात्मक) रसमय (सोम) चन्द्रमा (भूत्वा) होकर (सर्वा) सम्पूर्ण (औषधी) औषधियों को, अर्थात् खाद्य पदार्थों को (पुष्णामि) पोषण करता हूँ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

अहम्, वैश्वानर, भूत्वा, प्राणिनाम्, देहम्, आश्रित,
प्राणापानसमायुक्त, पचामि, अन्नम् चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

(अहम्) मैं, सब का आत्मा ही, (प्राणिनाम्) सब प्राणियो के (देहम्) शरीरों मे (आश्रित) रहता हुआ, (वैश्वानर) जठराग्नि रूप (भूत्वा) होकर,

(प्राणापानसमायुक्तः) प्राण और अपान वायु द्वारा (चतुर्विधम्) चार प्रकार के, अर्थात् खाये जाने, पीये जाने, चाटे जाने और चूसे जाने वाले (अन्नम्) अन्न को, अर्थात् खाद्य पदार्थों को (पचामि) पचाता हूँ।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

सर्वस्य, च, अहम्, हृदि, संनिविष्टः, मत्तः, स्मृतिः, ज्ञानम्, अपोहनम्, च,
वेदैः, च, सर्वैः, अहम्, एव, वेद्यः, वेदान्तकृत्, वेदवित्, एव, च, अहम् ॥१५॥

(च) और (अहम्) मैं, सब का आत्मा ही, (सर्वस्य) सब प्राणियों के (हृदि) हृदय में (संनिविष्टः) अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ; (मत्तः) मुझ आत्मा से ही (स्मृतिः) स्मृति, (ज्ञानम्) ज्ञान, (च) और (अपोहनम्) भूलना होता है; (च) और (सर्वैः) सब (वेदैः) वेदों द्वारा (अहम्) मैं सर्वात्मा (एव) ही (वेद्यः) जानने योग्य हूँ, तथा (वेदान्तकृत्) वेदान्त का कर्ता (च) और (वेदवित्) वेदों का जानने वाला (अहम्) मैं सर्वात्मा (एव) ही हूँ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

द्वौ, इमौ, पुरुषौ, लोके, क्षरः, च, अक्षरः, एव, च,
क्षरः, सर्वाणि, भूतानि, कूटस्थः, अक्षरः, उच्यते ॥१६॥

(लोके) संसार में (क्षरः) नाशवान्, (च) और (अक्षरः) अविनाशी, (इमौ) यह (एव) ही (द्वौ) दो (पुरुषौ) पुरुष हैं; (सर्वाणि) सम्पूर्ण (भूतानि) भौतिक जड़ सृष्टि (क्षरः) नाशवान्, (च) और (कूटस्थः) उसका आधार चेतन जीवात्मा (अक्षरः) अविनाशी (उच्यते) कहा जाता है, अर्थात् सब शरीर और इनका समूह, यह नाशवान् संसार, जड़ और चेतन के कल्पित संगठन का बनाव है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

उत्तमः, पुरुषः, तु, अन्यः, परमात्मा, इति, उदाहृतः,
यः, लोकत्रयम्, आविश्य, बिभर्ति, अव्ययः, ईश्वरः ॥१७॥

(तु) परन्तु (उत्तमः) उत्तम (पुरुषः) पुरुष, अर्थात् उत्तम पुरुष वाचक 'मैं' रूप से सबको अनुभव होने वाला अपना आप (अन्यः) अन्य है, अर्थात् इनका आधार है, और इनका संगठन न रहने पर भी वह बना रहता है, इसलिए वह इनसे परे कहा जाता है; (यः) जो (लोकत्रयम्) तीनों लोकों में, अर्थात् आधि-

भौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों सृष्टियों मे (आविश्य) व्याप्त हुआ (बिभर्ति) सब मे ओत-प्रोत भरा रहता है, (अव्ययः) यह अविकारी (ईश्वरः) परमेश्वर, (परमात्मा) "परमात्मा" (इति) ऐसे (उदाहृतः) कहा जाता है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मिलोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

यस्मात्, क्षरम्, अतीतः, अहम्, अक्षरात्, अपि, च, उत्तमः,
अतः, अस्मि, लोके, वेदे, च, प्रथितः, पुरुषोत्तमः ॥१८॥

(यस्मात्) क्योंकि (अहम्) मैं, सब का अपना आप=सब का आत्मा, (क्षरम्) नाशवान् भौतिक जड सृष्टि से (अतीतः) परे हूँ, अर्थात् उसका नाश होने पर भी मैं ज्यों का त्यों बना रहता हूँ, (च) और (अक्षरात्) अविनाशी चेतन जीवात्मा से (अपि) भी (उत्तमः) उत्तम हूँ, अर्थात् जीवात्मा, परमात्मा का ही व्यष्टि भाव होता हुआ भी व्यक्ति भाव की उपाधि मे उलझा रहता है, परन्तु मुझ सर्वात्मा मे यह उपाधि न होने के कारण, मैं उससे उत्तम हूँ; (अतः) इसलिए (लोके) लोक मे (च) और (वेदे) वेद मे (पुरुषोत्तमः) पुरुषोत्तम नाम से (प्रथितः) प्रसिद्ध (अस्मि) हूँ।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

यः, माम्, एवम्, असमूढः, जानाति, पुरुषोत्तमम्,
सः, सर्ववित्, भजति, माम्, सर्वभावेन, भारत ॥१९॥

(भारत) हे भारत! (यः) जो (असमूढः) ज्ञानी पुरुष (माम्) मुझ सर्वात्मा को (एवम्) इस प्रकार, (पुरुषोत्तमम्) "मैं" रूप से सबको अनुभव होने वाला, उत्तम पुरुष वाचक अपना आप=पुरुषोत्तम (जानाति) जानता है, अर्थात् आत्मा=परमात्मा के अभेद का अनुभव करता है; (सः) वह (सर्ववित्) सर्वज्ञ पुरुष, (सर्वभावेन) सब प्रकार से निरन्तर (माम्) मुझ, सब के अपने आप=सर्वात्मा को ही (भजति) भजता है, अर्थात् सारे ससार को परमात्मा का व्यक्त रूप समझकर, सबके साथ एकता के भाव से यथायोग्य प्रेम का आचरण करता है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

इति, गुह्यतमम्, शास्त्रम्, इदम्, उक्तम्, मया, अनघ,
एतत्, बुद्ध्वा, बुद्धिमान्, स्यात्, कृतकृत्यः, च, भारत ॥२०

(अनघ) हे निष्पाप (भारत) अर्जुन! (इति) इस तरह (इदम्) यह (गुह्यतमम्) अत्यन्त सूक्ष्म एवं गहन (शास्त्रम्) शास्त्र, (मया) मेरे द्वारा (उक्तम्) कहा गया है; (एतत्) इसके रहस्य को (बुद्ध्वा) अच्छी तरह तत्त्व से समझकर, (बुद्धिमान्) मनुष्य, समता की बुद्धि युक्त पूर्ण आत्मज्ञानी (च) और (कृतकृत्यः) सब कर्मों में पारंगत अर्थात् कुशल (स्यात्) हो जाता है।

संगति—इस अध्याय में भगवान ने सारे ब्रह्माण्ड के अनन्त बनावों को, कल्पित, अस्थायी पीपल के वृक्ष का रूपक देकर, अपने ही समष्टि संकल्प रूप अपरा और परा भेदों वाली प्रकृति के विविध भावों और रूपों का विस्तार बताया है। श्लोक ७ से ११ तक एक से अनेक भावों में व्यक्त होने के अपने स्वभाव अथवा परा प्रकृति रूप क्षेत्रज्ञ, अर्थात् व्यष्टि भाव जीवात्मा को अपना ही सनातन अंश कहकर, वह जिस तरह सूक्ष्म और स्थूल शरीरों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध करके, उनको धारण करता है, तथा उनसे सम्बन्ध विच्छेद करता है, उसका रहस्य समझाया गया है। फिर श्लोक १२ से १५ तक में उत्तम पुरुष वाचक 'मैं' शब्द से सबको अनुभव होने वाले सबके अपने आप ही को सारा जगत्, जीवात्मा, परमात्मा, प्रकाश करने वाला, प्रकाशित होने वाला, धारण करने वाला, धारण किया जाने वाला, खाने वाला, खाया जाने वाला, भोगने वाला, भोगा जाने वाला, सब कुछ जानने वाला और जाना जाने वाला तथा भूलने वाला, ज्ञानी और अज्ञानी बताकर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सब की एकता एवं अपनी सर्वरूपता का स्पष्टीकरण किया। इस तरह अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त को साक्षात् व्यवहारिक रूप से समझाया गया है। १६ से १९ श्लोकों में भी उसी उत्तम पुरुष वाचक 'मैं' अर्थात् पुरुषोत्तम भाव में, नाशवान् भौतिकता और अविनाशी आध्यात्मिकता का समावेश करके, उसी सबके अपने आप, पुरुषोत्तम=परमात्मा को सबका आधार बताया। अपने आप से ही दूसरे सब की सिद्धि होती है। आत्मा, परमात्मा, जीवात्मा, ईश्वर, ब्रह्म और जगत् आदि सब अन्य पुरुष वाचक हैं। इन सबको जानने और मानने वाला उत्तम पुरुष वाचक 'मैं' अथवा अपना आप ही होता है; यही अटल सत्य है। उसी उत्तम पुरुष वाचक अपने आपका अनुभव करना ही अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त है। अन्त के श्लोक में अपने उस पुरुषोत्तम भाव को दृढ़ता के साथ हृदयंगम करके, अपरोक्ष आत्म-ज्ञान पूर्वक संसार के व्यवहार, स्वामी भाव से करने के समत्व-योग के विधान पर फिर से जोर दिया गया है और इसी व्यावहारिक वेदान्त के विधान को शास्त्र संज्ञा दी गई है।

॥ पन्द्रहवां अध्याय समाप्त ॥

अथ षोडशोऽध्याय

श्री भगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

अभयम्, सत्त्वसंशुद्धि, ज्ञानयोगव्यवस्थिति,
दानम्, दम, च, यज्ञ, च, स्वाध्याय, तप, आर्जवम् ॥ १ ॥

श्री भगवान् बोले कि—

(अभयम्) निडर होना (सत्त्वसंशुद्धि) अन्तःकरण को द्वैत भाव की मलिनता से शुद्ध रखना (ज्ञान योगव्यवस्थिति) बुद्धि को सबकी एकता के साम्य भाव में स्थित रखकर संसार के व्यवहार करने की व्यवस्था (दानम्) सात्त्विक दान देने की प्रवृत्ति, (दम) इन्द्रियों को अपने वश में रखना, (च) और (यज्ञ) अपनी योग्यता के नियत कर्म, लोक संग्रह के लिए करना, (स्वाध्याय) विद्याध्ययन करना, (तप) आगे सत्रहवें अध्याय में वर्णित शरीर, वाणी और मन के सात्त्विक तप, अर्थात् शिष्टाचार, (च) तथा (आर्जवम्) सरलता,

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

अहिंसा, सत्यम्, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुनम्,
दया, भूतेषु, अलोलुप्त्वम्, मार्दवम्, ह्री, अचापलम् ॥ २ ॥

(अहिंसा) मन, वाणी और शरीर से किसी को पीडा न देना, (सत्यम्) सच बोलना और सच्चाई का व्यवहार करना, (अक्रोध) क्रोध न करना, (त्याग) आगे अठारहवें अध्याय में वर्णित सात्त्विक त्याग, (शान्ति) मन में उद्वेग से रहित सदा शान्ति और शीतलता बनी रहना, (अपैशुनम्) किसी की पीठ के पीछे चुगली न करना, (भूतेषु) सब प्राणियों के प्रति (दया) दया रखना, (अलोलुप्त्वम्) लोभ न करना, (मार्दवम्) मधुरता, (ह्री) बुरे काम करने में लज्जा रखना; (अचापलम्) व्यर्थ चेष्टा न करना,

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तेजः, क्षमा, धृतिः, शौचम्, अद्रोहः, नातिमानिता,
भवन्ति, संपदम्, दैवीम्, अभिजातस्य, भारत ॥ ३ ॥

(तेजः) प्रभावशालीपन; (क्षमा) सहनशीलता; (धृतिः) धीरज; (शौचम्) बाहर भीतर की शुद्धि; (अद्रोहः) किसी से भी वैर न रखना; (नातिमानिता) अपने बड़प्पन का अभिमान न रखना; (भारत) हे अर्जुन! (दैवीम्) दैवी (संपदम्) सम्पद् को (अभिजातस्य) प्राप्त हुए मनुष्य के ये लक्षण (भवन्ति) हैं, अर्थात् दैवी प्रकृति के मनुष्यों में ये गुण होते हैं।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

दम्भः, दर्पः, अभिमानः, च, क्रोधः, पारुष्यम्, एव, च,
अज्ञानम्, च, अभिजातस्य, पार्थ, संपदम्, आसुरीम् ॥ ४ ॥

(पार्थ) हे पार्थ! (दम्भः) पाखण्ड अथवा छल-कपट; (दर्पः) घमण्ड; (अभिमानः) अपने व्यक्तित्व का अहंकार (च) और (क्रोधः) क्रोध (च) तथा ((पारुष्यम्) रूखापन अथवा अकड़न (च) एवं (अज्ञानम्) अज्ञान; (एव) ये सब (आसुरीम्) आसुरी (सम्पदम्) संपद् को (अभिजातस्य) प्राप्त हुए मनुष्य के लक्षण हैं, अर्थात् आसुरी प्रकृति के मनुष्यों में ये अवगुण होते हैं।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

दैवी, संपत्, विमोक्षाय, निबन्धाय, आसुरी, मता,
मा, शुचः, संपदम्, दैवीम्, अभिजातः, असि, पाण्डव ॥ ५ ॥

(दैवी संपत्) दैवी संपद् (विमोक्षाय) मुक्ति के लिए, और (आसुरी) आसुरी संपद् (निबन्धाय मता) बन्धनों के लिए मानी गई है, अर्थात् दैवी संपद् के गुणों वाले मनुष्य मुक्त होते हैं और आसुरी सम्पद् वाले बन्धनों में जकड़े रहते हैं। (पाण्डव) हे अर्जुन! तू तो (दैवीम्) दैवी (संपदम्) संपद् को (अभिजातः) प्राप्त हुआ (असि) है, अर्थात् तुझ में दैवी संपद् के गुण हैं; (मा शुचः) इसलिए शोक मत कर।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

द्वौ, भूतसर्गौ, लोके, अस्मिन्, दैवः, आसुरः, एव, च,
दैवः, विस्तरशः, प्रोक्तः, आसुरम्, पार्थ, मे, शृणु ॥ ६ ॥

(पार्थ) हे अर्जुन ! (अस्मिन्) इस (लोके) लोक में, अर्थात् मनुष्य समाज में (एव) ही (दैव) दैवी प्रकृति के (च) और (आसुरः) आसुरी प्रकृति के, (द्वौ) दो प्रकार के (भूतसर्गौ) लोग होते है, (दैव) उनमें से दैवी प्रकृतिवालो का (विस्तरशः) विस्तार पूर्वक वर्णन (प्रोक्त) पहले कर दिया गया, (आसुरम्) अब आसुरी प्रकृति वालो का (मे) मुझ से (शृणु) सुन ।

संगति—पिछले अध्यायों मे भगवान ने आत्मज्ञान का और उसमे मन को स्थित करने के अनेक उपायो का वर्णन करके, उसके आधार पर सांसारिक व्यवहार करने के समाज-विज्ञान और इस तरह के व्यवहार करनेवाले आत्मज्ञानी, जीवनमुक्त, समत्व-योगियो के लक्षणो का प्रसंगानुसार अनेक स्थलो पर भिन्न-भिन्न शैली मे वर्णन किया । अब इस सोलहवें अध्याय मे, इस तरह आचरण करनेवाले दैवी प्रकृति के सज्जनो और इसके विपरीत समाज-विरोधी आचरण करनेवाले भेदवादी आसुरी प्रकृति के लोगो के गुणो का विस्तार से वर्णन करके, यह निश्चित निर्णय देते हैं कि दैवी संपद् का आचरण करनेवाले उन्नति करते हैं, मुक्त होते हैं और आसुरी संपद् का आचरण करनेवाले अनेक प्रकार के बन्धनो मे बँधकर दुख उठाते हैं और अपना पतन करते है ।

आचरणो की श्रेष्ठता का मूलाधार सबकी एकता का आत्मज्ञान है । इस आत्मज्ञान से युक्त जो भी आचरण किया जाय, वह यथार्थ रूप से दैवी संपद् का आचरण होता है । इसके विपरीत यदि भेदभाव के आधार पर, व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए किये जायें तो वे ही आचरण आसुरी संपद् के हो जाते है ।

सबकी एकता का ज्ञान, सत्त्वगुण को बढाकर, सत्त्वप्रधान प्रकृति होने से होता है । रजोगुण और तमोगुण प्रधान प्रकृति के लोगो को वह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता । इसलिए मनुष्य को सत्त्वगुण बढाने के प्रयत्न मे सदा लगे रहना चाहिए । मनुष्य के जन्म के साथ जो उसकी प्रकृति होती है, वही सदा बनी रहे, यह अनिवार्य नियम नहीं है; किन्तु मनुष्य अपने सत्पुरुषार्थ, सत्संग, सुशिक्षा आदि से राजसी-तामसी प्रकृति को बदल कर सात्त्विकी बना सकता है । इसलिए आगे १७वे और १८वें अध्यायो मे प्रकृति के तीनो गुणो के अलग-अलग प्रभेदो का तुलनात्मक

वर्णन करके मनुष्यों को सत्वगुण वढ़ाने का मार्ग दिखाया गया है।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।। ७ ।।

प्रवृत्तिम्, च, निवृत्तिम्, च, जनाः, न, विदुः, आसुराः,
न, शौचम्, न, अपि, च, आचारः, न, सत्यम्, तेषु, विद्यते ।। ७ ।।

(आसुराः) आसुरी प्रकृति के (जनाः) लोग (प्रवृत्तिम्) कर्म रूप प्रवृत्ति (च) और (निवृत्तिम्) अकर्मरूप निवृत्ति के यथार्थ स्वरूप को (न विदुः) नहीं जानते, अर्थात् वे लोग इस रहस्य को नहीं समझ सकते कि व्यक्तित्व के अहंकार से और व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए कर्म करना अथवा त्यागना दोनों ही बन्धन कारक प्रवृत्ति है, तथा व्यक्तिगत अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति के बिना, अपने नियत कर्म लोक-संग्रह के लिए करना वास्तव में निर्बन्धन रूप निवृत्ति है; (तेषु) उनमें (न) न तो (शौचम्) शुद्धता (च) और (न) आचारः) श्रेष्ठाचार (च) तथा (न) न (सत्यम्) सत्यता (अपि) ही (विद्यते) होती है।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ।। ८ ।।

असत्यम्, अप्रतिष्ठम्, ते, जगत्, आहुः, अनीश्वरम्,
अपरस्परसंभूतम्, किम्, अन्यत्, कामहैतुकम् ।। ८ ।।

(ते) वे, आसुरी प्रकृति के लोग (आहुः) कहते हैं कि (जगत्) जगत् (अप्रतिष्ठम्) आधार रहित, (असत्यम्) सर्वथा झूठा एवं (अनीश्वरम्) बिना ईश्वर के, (कामहैतुकम) काम वासना के कारण (अपरस्परसंभूतम्) अपने आप, नरमादा के संयोग से उत्पन हुआ है (अन्यत्) इसके सिवाय और (किम्) क्या कारण हो सकता है।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माण क्षयाय जगतोऽहिताः ।। ९ ।।

एताम्, दृष्टिम्, अवष्टभ्य, नष्टात्मानः, अल्पबुद्धयः,
प्रभवन्ति, उग्रकर्माण, क्षयाय, जगतः, अहिताः ।। ९ ।।

(एताम्) इस (दृष्टिम्) विपरीत मान्यता का (अवष्टभ्य) अवलम्बन करके (नष्टात्मानः) वे विवेकहीन, (उग्रकर्माणः) उग्र कर्म करने वाले (अल्पबुद्धयः) तुच्छ बुद्धि के (अहिताः) समाजद्रोही लोग, (जगतः) समाज का (क्षयाय) विध्वंस करने के लिए ही (प्रभवन्ति) होते हैं, अर्थात् वे आसुरी प्रकृति के नास्तिक लोग

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

द्वौ, भूतसर्गौ, लोके, अस्मिन्, दैवः, आसुरः, एव, च,
दैवः, विस्तरशः, प्रोक्तः, आसुरम्, पार्थ, मे, शृणु ॥ ६ ॥

(पार्थ) हे अर्जुन ! (अस्मिन्) इस (लोके) लोक मे, अर्थात् मनुष्य समाज मे (एव) ही (दैव) दैवी प्रकृति के (च) और (आसुर) आसुरी प्रकृति के, (द्वौ) दो प्रकार के (भूतसर्गौ) लोग होते है; (दैव) उनमे से दैवी प्रकृतिवालो का (विस्तरश) विस्तार पूर्वक वर्णन (प्रोक्त) पहले कर दिया गया, (आसुरम्) अब आसुरी प्रकृति वालों का (मे) मुझ से (शृणु) सुन ।

सगति—पिछले अध्यायो मे भगवान ने आत्मज्ञान का और उसमे मन को स्थित करने के अनेक उपायो का वर्णन करके, उसके आधार पर सासारिक व्यवहार करने के समाज-विज्ञान और इस तरह के व्यवहार करनेवाले आत्मज्ञानी, जीवनमुक्त, समत्व-योगियो के लक्षणो का प्रसगानुसार अनेक स्थलो पर भिन्न-भिन्न शैली मे वर्णन किया । अब इस सोलहवें अध्याय मे, इस तरह आचरण करनेवाले दैवी प्रकृति के सज्जनो और इसके विपरीत समाज-विरोधी आचरण करनेवाले भेदवादी आसुरी प्रकृति के लोगो के गुणो का विस्तार से वर्णन करके, यह निश्चित निर्णय देते हैं कि दैवी सपद् का आचरण करनेवाले उन्नति करते हैं, मुक्त होते हैं और आसुरी सपद् का आचरण करनेवाले अनेक प्रकार के बन्धनो मे बंधकर दुख उठाते हैं और अपना पतन करते हैं ।

आचरणो की श्रेष्ठता का मूलाधार सबकी एकता का आत्मज्ञान है । इस आत्मज्ञान से युक्त जो भी आचरण किया जाय, वह यथार्थ रूप से दैवी सपद् का आचरण होता है । इसके विपरीत यदि भेदभाव के आधार पर, व्यक्तित्व के अह-कार और व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए किये जायँ तो वे ही आचरण आसुरी सपद् के हो जाते हैं ।

सबकी एकता का ज्ञान, सत्त्वगुण को बढाकर, सत्त्वप्रधान प्रकृति होने से होता है । रजोगुण और तमोगुण प्रधान प्रकृति के लोगो को वह ज्ञान प्राप्त नही हो सकता । इसलिए मनुष्य को सत्त्वगुण बढाने के प्रयत्न मे सदा लगे रहना चाहिए । मनुष्य के जन्म के साथ जो उसकी प्रकृति होती है, वही सदा बनी रहे, यह अनि-वार्य नियम नही है; किन्तु मनुष्य अपने सत्पुरुषार्थ, सत्सग, सुशिक्षा आदि से राजसी-तामसी प्रकृति को बदल कर सात्त्विकी बना सकता है । इसलिए आगे १७वें और १८वें अध्यायो मे प्रकृति के तीनों गुणो के अलग-अलग प्रभेदो का तुलनात्मक

वर्णन करके मनुष्यों को सत्त्वगुण बढ़ाने का मार्ग दिखाया गया है।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

प्रवृत्तिम्, च, निवृत्तिम्, च, जनाः, न, विदुः, आसुराः,
न, शौचम्, न, अपि, च, आचारः, न, सत्यम्, तेषु, विद्यते ॥ ७ ॥

(आसुराः) आसुरी प्रकृति के (जनाः) लोग (प्रवृत्तिम्) कर्म रूप प्रवृत्ति (च) और (निवृत्तिम्) अकर्मरूप निवृत्ति के यथार्थ स्वरूप को (न विदुः) नहीं जानते, अर्थात् वे लोग इस रहस्य को नहीं समझ सकते कि व्यक्तित्व के अहंकार से और व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए कर्म करना अथवा त्यागना दोनों ही बन्धन कारक प्रवृत्ति है, तथा व्यक्तिगत अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति के बिना, अपने नियत कर्म लोक-संग्रह के लिए करना वास्तव में निर्बन्धन रूप निवृत्ति है; (तेषु) उनमें (न) न तो (शौचम्) शुद्धता (च) और (न) आचारः) श्रेष्ठाचार (च) तथा (न) न (सत्यम्) सत्यता (अपि) ही (विद्यते) होती है।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

असत्यम्, अप्रतिष्ठम्, ते, जगत्, आहुः, अनीश्वरम्,
अपरस्परसंभूतम्, किम्, अन्यत्, कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

(ते) वे, आसुरी प्रकृति के लोग (आहुः) कहते हैं कि (जगत्) जगत् (अप्रतिष्ठम्) आधार रहित, (असत्यम्) सर्वथा झूठा एवं (अनीश्वरम्) बिना ईश्वर के, (कामहैतुकम) काम वासना के कारण (अपरस्परसंभूतम्) अपने आप, नरमादा के संयोग से उत्पन हुआ है (अन्यत्) इसके सिवाय और (किम्) क्या कारण हो सकता है।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माण क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

एताम्, दृष्टिम्, अवष्टभ्य, नष्टात्मानः, अल्पबुद्धयः,
प्रभवन्ति, उग्रकर्माण, क्षयाय, जगतः, अहिताः ॥ ९ ॥

(एताम्) इस (दृष्टिम्) विपरीत मान्यता का (अवष्टभ्य) अवलम्बन करके (नष्टात्मानः) वे विवेकहीन, (उग्रकर्माणः) उग्र कर्म करने वाले (अल्पबुद्धयः) तुच्छ बुद्धि के (अहिताः) समाजद्रोही लोग, (जगतः) समाज का (क्षयाय) विध्वंस करने के लिए ही (प्रभवन्ति) होते हैं, अर्थात् वे आसुरी प्रकृति के नास्तिक लोग

उच्छृंखलता से चोरी, ठगी, छल, कपट, धोखेबाजी, लूट-खसोट, बलात्कार, व्यवसायिक जालसाजी, भ्रष्टाचार और फरेब आदि कुकर्मों से जनता पर निर्दयता पूर्वक घोर अत्याचार करते है, अथवा अनेक प्रकार के पाखण्डो से मुफ्तखोर और निठल्ले बने हुए जनता पर बोझ रूप होकर उसका शोषण करते है। इस तरह वे समाज की व्यवस्था बिगाड़कर उसको अस्त-व्यस्त करते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

काममम्, आश्रित्य, दुष्पूरम्, दम्भमानमदान्विता,
मोहात्, गृहीत्वा, असद्ग्राहान्, प्रवर्तन्ते, अशुचिव्रता ॥ १० ॥

(**दम्भमानमदान्विता**) पाखण्ड, अभिमान और मद से ग्रस्त हुए, (**दुष्पूरम्**) कभी पूर्ति न होने वाली (**कामम्**) कामनाओ के (**आश्रित्य**) आधीन होकर, (**मोहात्**) मूढता, अर्थात् अन्धविश्वासो से, (**असत्**) कपोल कल्पित झूठे (**ग्राहान्**) सिद्धान्तो को (**गृहीत्वा**) पकड़ कर (**अशुचिव्रता**) भ्रष्टाचार के मलिन कर्मकाण्ड आदि व्रतो एव अनुष्ठानो मे लगे हुए, (**प्रवर्तन्ते**) ससार मे बर्तते हैं।

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि आसुरी प्रकृति के आस्तिक लोग १७ वे अध्याय मे वर्णित राजसी श्रद्धा से, धन प्राप्ति के लिए धनवान यक्षो, तथा अत्याचार करने के लिए शक्तिशाली राक्षसों का यजन-पूजन करते हैं, और तामसी श्रद्धा से भरे हुए पितरो के निमित्त श्राद्ध आदि प्रेतकर्म एव भौतिक बनाओ का यजन-पूजन करते हैं, अथवा तामसी तप करके जटाजूट बढाने, अग पर भस्म लगाने आदि द्वारा मैले-कुचैले रहते है और शरीरो को पीडा देकर अन्तरात्मा को क्लेश देते हैं, अथवा वाम मार्ग जैसे भ्रष्टाचारी और अघोर पन्थो के अनुयायी होकर, जीवो का बलिदान करके अभक्ष पदार्थ खाते हैं, श्मशानो मे भैरव-भूत योगिनी आदि का मैले मन्त्रो द्वारा पूजन करके, उन पर मदिरामास आदि चढाते है और उनको महाप्रसाद कहकर खाते हैं, तथा यज्ञो के नाम से पशुओ को निर्दयता पूर्वक अग्नि मे होमते हैं। इस तरह धर्म के नाम से अगणित प्रकार के अमानुषी अत्याचारो का पाखण्ड करते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

चिन्ताम्, अपरिमेयाम्, च, प्रलयान्ताम्, उपाश्रिता,
कामोपभोगपरमा, एतावत्, इति, निश्चिता ॥ ११ ॥

(**प्रलयान्ताम्**) मरण पर्यन्त रहने वाली (**अपरिमेयाम्**) अपार (**चिन्ताम्**)

चिन्ताओं को (उपाश्रिताः) अपनाये हुए, (च) और (कामोपभोग परमा) अनेक प्रकार की कामनाओं और विषय भोगों में ही निरन्तर लगे हुए, (एतावत्) यही सब कुछ परम साध्य है, (इति) ऐसा (निश्चिताः) निश्चय रखते हैं।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

आशापाशशतैः, बद्धाः, कामक्रोधपरायणाः,
ईहन्ते, कामभोगार्थम्, अन्यायेन, अर्थसंचयान् ॥ १२ ॥

(आशापाशशतैः) आशाओं की सैकड़ों फाँसियों से (बद्धाः) बंधे हुए, (कामक्रोध परायणाः) काम और क्रोध परायण, वे लोग (कामभोगार्थम्) कामनाओं और विषय भोगों की पूर्ति के लिए, (अन्यायेन) अन्याय पूर्वक (अर्थ संचयान्) धनादि पदार्थों का संग्रह करने की (ईहन्ते) चेष्टाएँ करते हैं।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

इदम्, अद्य, मया, लब्धम्, इमम्, प्राप्स्ये, मनोरथम्,
इदम्, अस्ति, इदम्, अपि, मे, भविष्यति, पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

(मया) मैंने (अद्य) आज (इदम्) यह तो (लब्धम्) पा लिया, (इमम्) इस (मनोरथम्) मनोरथ को (प्राप्स्ये) और प्राप्त करूंगा; तथा (मे) मेरे पास (इदम्) यह इतना (धनम्) धन तो (अस्ति) है, (पुनः) फिर (अपि) भी (इदम्) यह इतना (भविष्यति) और हो जावेगा। ऐसे मनसूबे बाँधते रहते हैं।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

असौ, मया, हतः, शत्रुः, हनिष्ये, च, अपरान्, अपि,
ईश्वरः, अहम्, अहम्, भोगी, सिद्धः, अहम्, बलवान्, सुखी ॥ १४ ॥

(असौ) अमुक (शत्रुः) शत्रु (मया) मेरे द्वारा (हतः) मारा गया, (अपरान्) और दूसरे शत्रुओं को (अपि) भी (अहम्) मैं (हनिष्ये) मारूंगा। (अहम्) मैं (ईश्वरः) ईश्वर हूँ (च) और (भोगी) ऐश्वर्य भोगने वाला हूँ; (अहम्) मैं (सिद्धः) सब सिद्धियों से युक्त, (बलवान्) बलवान् और (सुखी) सुखी हूँ।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

आढ्य, अभिजनवान्, अस्मि, क., अन्य:, अस्ति, सदृशोमया,
यक्ष्ये, दास्यामि, मोदिष्य, इति, अज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

(आढ्यः) मैं बड़ा धनवान्, (अभिजनवान्) बड़ा कुलीन कुटम्ब वाला (अस्मि) हूँ, (मया) मेरे (सदृश) समान (अन्यः) दूसरा (क) कौन (अस्ति) है। (यक्ष्ये) मैं यज्ञ करूँगा, (दास्यामि) दान दूंगा, (मोदिष्य) आमोद-प्रमोद करूँगा, (इति) इस प्रकार (अज्ञानविमोहिता) वे लोग अज्ञान से मोहित रहते है।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ताः, मोहजालसमावृता.,
प्रसक्ता, कामभोगेषु, पतन्ति, नरके, अशुचौ ॥ १६ ॥

(अनेकचित्तविभ्रान्ताः) अनेक प्रकार के भ्रमो से ग्रसित चित्तवाले, (मोह जाल समावृता) मोह जाल मे फसे हुए एव (कामभोगेषु) कामनाओ और विषय भोगों मे (प्रसक्ता.) अत्यन्त आसक्त (अशुचौ) वे लोग, मलीन (नरके) रौरव नरक मे (पतन्ति) गिरते है।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विता ।
यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

आत्मसभाविता, स्तब्धा, धनमानमदान्विता,
यजन्ते, नामयज्ञै, ते, दम्भेन, अविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

(ते) वे (आत्मसभाविता) अपने आप को ही श्रेष्ठ मानने वाले, (स्तब्धा) मिथ्या घमण्ड मे एंठे हुए, (धनमानमदान्विता) धन और मान के मद से मतवाले होकर, (अविधिपूर्वकम्) शास्त्र विधि के विपरीत, (नामयज्ञं) केवल नाम मात्र के यज्ञों द्वारा (दम्भेन) पाखण्ड से (यजन्ते) यजन करते हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयका ॥ १८ ॥

अहंकारम्, बलम्, दर्पम्, कामम्, क्रोधम्, च, संश्रिता.,
माम्, आत्मपरदेहेषु, प्रद्विषन्त, अभ्यसूयका ॥ १८ ॥

(अहंकारम्) अहंकार, (बलम्) दुराग्रह, (दर्पम्) घमण्ड, (कामम्) कामनाओ (च) और (क्रोधम्) क्रोध के (संश्रिता.) वश हुए, (अभ्यसूयकाः) वे निंदक लोग (आत्म-परदेहेषु) अपने और दूसरो के शरीरों में रहने वाले (माम्) मुझ अन्तर्यामी से (प्रद्विषन्त.) द्वेष करते हैं।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।। १९ ।।

तान्, अहम्, द्विषतः, क्रूरान्, संसारेषु, नराधमान् ।
क्षिपामि, अजस्रम्, अशुभान्, आसुरीषु, एव, योनिषु ।। १९ ।।

(तान्) उन (द्विषतः) द्वेष करने वाले (अशुभान्) पापाचारी, (क्रूरान्) क्रूर कर्मी (नराधमान्) नराधमों को, (अहम्) मैं (संसारेषु) संसार में (अजस्रम्) वारम्बार (आसुरीषु) आसुरी (योनिषु) योनियों में (एव) ही (क्षिपामि) गिराता हूँ, अर्थात् वे लोग अपने कुकर्मों के फल से शूकर-कूकर आदि मूढ योनियों में ही जाते हैं।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।। २० ।।

आसुरीम्, योनिम्, आपन्नाः, मूढाः, जन्मनि, जन्मनि,
माम्, अप्राप्य, एव, कौन्तेय, ततः, यान्ति, अधमाम्, गतिम् ।। २० ।।

(कौन्तेय) हे अर्जुन ! (मूढाः) वे मूढ लोग (जन्मनि) जन्म (जन्मनि) जन्म में (आसुरीम्) आसुरी मूढ (योनिम्) योनि को (आपन्नाः) प्राप्त होते हुए, (माम्) मुझको (अप्राप्य) न प्राप्त होकर, (ततः) उससे भी (अधमाम्) अति नीच (गतिम्) गति को (एव) ही (यान्ति) प्राप्त होते हैं, अर्थात् अधोगति की तरफ ही लुढ़कते रहते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।। २१ ।।

त्रिविधम्, नरकस्य, इदम्, द्वारम्, नाशनम्, आत्मनः,
कामः, क्रोधः, तथा, लोभः, तस्मात्, एतत्, त्रयम्, त्यजेत् ।। २१ ।।

(कामः) काम, (क्रोधः) क्रोध (तथा) तथा (लोभः) लोभ, (इदम्) यह (त्रिविधम्) तीन प्रकार के (आत्मनः) बुद्धि का (नाशनम्) नाश करने वाले (नरकस्य) नरक के (द्वारम्) दरवाजे, अर्थात् आसुरी योनि और अधोगति में ले जाने वाले हैं; (तस्मात्) इसलिए (एतत्) इन (त्रयम्) तीनों को (त्यजेत्) त्याग देना चाहिए।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।। २२ ।।

एतैः, विमुक्तः, कौन्तेय, तमोद्वारैः, त्रिभिः, नरः,
आचरति, आत्मनः, श्रेयः, ततः, याति, पराम्, गतिम् ॥ २२ ॥

(कौन्तेय) हे अर्जुन ! (एतैः) इन (त्रिभिः) तीनों (तमोद्वारैः) अन्धकारमय दरवाजों से (विमुक्तः) मुक्त होकर, अर्थात् इनको छोड़कर, (नरः) जो पुरुष (आत्मनः) अपने (श्रेयः) कल्याण का (आचरति) आचरण करता है, (ततः) उससे वह (पराम्) परम (गतिम्) गति को (याति) जाता है, अर्थात् मुझको प्राप्त होता है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

यः, शास्त्रविधिम्, उत्सृज्य, वर्तते, कामकारतः,
न, सः, सिद्धिम्, अवाप्नोति, न, सुखम्, न, पराम्, गतिम् ॥ २३ ॥

(यः) जो पुरुष (शास्त्र-विधिम्) अभेद प्रतिपादक सत् शास्त्र की विधि को (उत्सृज्य) छोड़कर, अर्थात् सत् शास्त्रों के विधानानुसार अपने नियत कर्म, निष्काम भाव से, लोक संग्रह के लिए न करके, (कामकारतः) अपनी कामवासनाओं की पूर्ति के लिए मनमाने (वर्तते) आचरण करता है, (सः) वह (न) न तो (सिद्धिम्) उन्नति, (न) न (सुखम्) सुख, (न) न (पराम्) परम (गतिम्) गति ही (अवाप्नोति) प्राप्त करता है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

तस्मात्, शास्त्रम्, प्रमाणम्, ते, कार्याकार्यव्यवस्थितौ,
ज्ञात्वा, शास्त्रविधानोक्तम्, कर्म, कर्तुम्, इह, अर्हसि ॥ २४ ॥

(इह) यहाँ, मनुष्य समाज में (कार्याकार्यव्यवस्थितौ) कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था के विषय में (शास्त्रम्) अभेद प्रतिपादक सत् शास्त्र ही (प्रमाणम्) प्रमाण हैं, (तस्मात्) इसलिए (ज्ञात्वा) उस शास्त्र की व्यवस्था को अच्छी तरह समझकर, (ते) तुझे (शास्त्रविधानोक्तम्) सत् शास्त्र के विधानानुसार (कर्म) अपना नियत कर्म अर्थात् युद्ध (कर्तुम्) करना ही (अर्हसि) चाहिए।

॥ सोलहवाँ अध्याय समाप्त ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ।। १ ।।

ये, शास्त्रविधिम्, उत्सृज्य, यजन्ते, श्रद्धया, अन्विताः,
तेषाम्, निष्ठा, तु, का, कृष्ण, सत्त्वम्, आहो, रजः, तमः ।। १ ।।

अर्जुन ने पूछा—

(कृष्ण) हे कृष्ण ! (तु) तो (ये) जो लोग (शास्त्रविधिम्) शास्त्र विधि को (उत्सृज्य) छोड़कर, (श्रद्धया) श्रद्धा से (अन्विताः) युक्त हुए, (यजन्ते) यज्ञानुष्ठान आदि यजन-पूजन करते हैं, अर्थात् जो लोग सत्शास्त्रों के विधानानुसार अपनी योग्यता के नियत कर्म, लोक-संग्रह के लिए नहीं करते, किन्तु श्रद्धा से नित्य-नैमित्तिक कर्म, उपासना आदि करते रहते हैं, (तेषाम्) उनकी (निष्ठा) जीवन की स्थिति (का) कौनसी होती है, (सत्त्वम्) सात्त्विकी (आहो) अथवा (रजः) राजसी अथवा (तमः) तामसी ?

श्री भगवान् उवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ।। २ ।।

त्रिविधा, भवति, श्रद्धा, देहिनाम्, सा, स्वभावजा,
सात्त्विकी, राजसी, च, एव, तामसी, च, इति, ताम्, शृणु ।। २ ।।

श्री भगवान् बोले कि :—

(देहिनाम्) मनुष्यों की (सा) वह (स्वभावजा) स्वभाविक (श्रद्धा) श्रद्धा (एव) ही (सात्त्विकी) सात्त्विकी (च) और (राजसी) राजसी (च) तथा (तामसी) तामसी, (इति) इस तरह (त्रिविधा) तीन प्रकार की (भवति) होती है; (ताम्) उसको (शृणु) सुन ।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

सत्त्वानुरूपा, सर्वस्य, श्रद्धा, भवति, भारत,
श्रद्धामयः, अयम्, पुरुषः, यः, यत्, श्रद्धः, सः, एव, सः ॥ ३ ॥

(भारत) हे अर्जुन ! (सर्वस्य) सभी लोगों की (श्रद्धा) श्रद्धा (सत्त्वानुरूपा) उनके स्वभाव के अनुसार (भवति) होती है, (अयम्) यह (पुरुषः) पुरुष (श्रद्धामयः) श्रद्धामय है, (यः) जो पुरुष (यच्छ्रद्धः) जैसी श्रद्धा वाला है, (सः) वह (एव सः) वैसा ही होता है।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

यजन्ते, सात्त्विकाः, देवान्, यक्षरक्षांसि, राजसाः,
प्रेतान्, भूतगणान्, च, अन्ये, यजन्ते, तामसाः, जनाः ॥ ४ ॥

(सात्त्विकाः) सात्त्विकी श्रद्धा के लोग (देवान्) देवों का (यजन्ते) यजन-पूजन करते हैं, (राजसाः) राजसी श्रद्धा के लोग (यक्षरक्षांसि) यक्षों और राक्षसों का, (च) और (तामसाः) तामसी श्रद्धा के (जनाः) लोग (प्रेतान्) प्रेतों, (अन्ये) और दूसरे, (भूतगणान्) भूतगणों का (यजन्ते) यजन-पूजन करते हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

अशास्त्रविहितम्, घोरम्, तप्यन्ते, ये, तपः, जनाः,
दम्भाहंकारसंयुक्ताः, कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

(ये) जो (जनाः) लोग (दम्भाहंकारसंयुक्ताः) पाखंड और अहंकार से युक्त होकर, (कामरागबलान्विताः) कामनाओं की आसक्ति के दुराग्रह से हठपूर्वक, (अशास्त्रविहितम्) शास्त्रविधि के विपरीत (घोरम्) घोर (तपः) तप (तप्यन्ते) तपते हैं,

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

कर्षयन्तः, शरीरस्थम्, भूतग्रामम्, अचेतसः, माम्,
च, एव, अन्तः, शरीरस्थम्, तान्, विद्धि, असुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

(शरीरस्थम्) वे, शरीररूप से स्थित (भूतग्रामम्) पाँच भूतों के समुदाय

को, **(च)** और **(अन्तःशरीरस्थम्)** अन्तःकरण में स्थित **(माम्)** मुझ अन्तर्यामी को **(एव)** भी **(कर्षयन्तः)** कृश करते हैं; **(तान्)** उन **(अचेतसः)** अज्ञानियों को तू **(असुरनिश्चयान्)** उग्र राजसी-तामसी-आसुरी श्रद्धावाले **(विद्धि)** जान।

संगति—सोलहवें अध्याय के अन्त के दो श्लोकों में भगवान ने अर्जुन से कहा था कि जो लोग सत् शास्त्रों के विधान के अनुसार अपने नियत कर्म नहीं करते, किन्तु अपने व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि अथवा ऐश-आराम के लिए मनमाने आचरण करते हैं, उनकी दुर्गति होती है, इसलिए तू तो शास्त्र की विधि के अनुसार अपना कर्तव्य कर्म कर। इसपर अर्जुन स्पष्ट करवाना चाहता है, कि जो लोग अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए, समाज-विरोधी आचरण करें, उनकी दुर्गति होना तो ठीक है; परन्तु जो लोग उन शास्त्रों के विधान की अवहेलना करके, अपने नियत कर्म नहीं करते, किन्तु श्रद्धापूर्वक संध्यावन्दन, हवन, अनुष्ठान, जप, तप, पाठ, पूजा आदि धार्मिक कृत्य करते हैं, उनकी क्या गति होती है? उनका जीवन सात्त्विक (सुखदायक) होता है या राजस-तामस (दुखदायक)? इसपर भगवान स्पष्ट रूप से कहते हैं कि मनुष्यों की श्रद्धा ही तीन प्रकार की होती है, और जिनकी जैसी श्रद्धा होती है, वैसा ही उनका यजन-पूजन, होता है, और उनका जीवन भी वैसा ही होता है। सात्त्विकी श्रद्धावाले लोग सत्त्वगुण प्रधान देवों की, निष्कामभाव से उपासना करते हैं; जिससे उनका जीवन सुखी और उन्नत होता है। राजसी श्रद्धा के लोग धन प्राप्ति की कामना से, धन के अधिष्ठाता यक्षों और धन कुबेरों की, तथा दूसरों पर अत्याचार करने के लिए अत्याचारी राक्षसों की उपासना करते हैं; उनका जीवन दुखपूर्ण होता है और वे अपनी अधोगति करते हैं। और तामसी श्रद्धा के लोग अन्धविश्वासों से अपने मरे हुए पितरों के लिए श्राद्ध-तर्पण आदि पितृकर्म करते हैं; तथा भौतिक जड़ पदार्थों को ईश्वर और देवी-देवता मानकर, उनका पूजन करके, जड़-बुद्धि की मूढ़ता का जीवन बिताते हैं।

कई आसुरी स्वभाव के अति उग्र राजसी-तामसी श्रद्धा के लोग, पाखण्ड और अहंकार से मलिन कामनाओं की सिद्धि के लिए, हठ और दुराग्रह पूर्वक, भूख-प्यास, व्रत-उपवास, तथा शरीर को क्लेश देने वाली दूसरी अनेक प्रकार की तपस्याएँ करके, एक प्रकार से अपनी आत्म-हत्या करते हैं; क्योंकि उनका सारा जीवन आत्म-पीड़न की यातनाओं में ही पूरा हो जाता है।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥ ७॥

आहार , तु, अपि, सर्वस्य, त्रिविध', भवति, प्रिय',
यज्ञ , तप , तथा, दानम्, तेषाम्, भेदम्, इमम्, शृणु ॥ ७ ॥

(**आहार**) भोजन अर्थात् खान-पान (**अपि**) भी (**सर्वस्य**) सबको अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार (**त्रिविध**) तीन प्रकार का (**प्रिय**) प्रिय (**भवति**) होता है, (**तु**) और (**तथा**) वैसे ही (**यज्ञ**) यज्ञ, (**तप**) तप, और (**दानम्**) दान भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं, (**तेषाम्**) उनके (**इमम्**) इस (**भेदम्**) न्यारे-न्यारे भेद को (**शृणु**) सुन।

संगति—खान-पान और शरीर के दूसरे व्यवहारों का प्रभाव भी मनुष्य के स्वभाव पर पड़ता है। इसलिए इनके सात्त्विक, राजस और तामस भेदों का वर्णन आगे करते हैं, ताकि मनुष्य अपना स्वभाव सात्त्विक बनाकर, सुखी और उन्नत हो सके।

आयु. सत्त्वबलारोग्य सुखप्रीति विवर्धनाः।
रस्या. स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहारा सात्त्विक प्रियाः ॥८॥

आयु', सत्त्वबलारोग्य, सुख, प्रीति, विवर्धनाः,
रस्या , स्निग्धा', स्थिरा . हृद्या', आहारा', सात्त्विक, प्रिया ॥ ८ ॥

(**आयु**) आयु, अर्थात् जीवन की अवधि, (**सत्त्व**) बुद्धि, (**बल**) बल, अर्थात् शक्ति, (**आरोग्य**) स्वास्थ्य, (**सुख**) सुख, और (**प्रीति**) प्रीति अर्थात् प्रेम (**विवर्धना**) बढ़ाने वाले, (**रस्या**) रस युक्त, (**स्निग्धा**) चिकने, (**स्थिरा**) अधिक देर तक तृप्ति बनाये रखने वाले, तथा (**हृद्याः**) हृदय को बल देने वाले (**आहारा**) खान-पान (**सात्त्विक**) सात्त्विकी प्रकृति के लोगों को (**प्रिया**) प्रिय होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कटु, अम्ल, लवण अति, ऊष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, विदाहिनः,
आहारा , राजसस्य, इष्टा , दुःखशोकामयप्रदा ॥ ९ ॥

(**अति**) अति (**कटु**) कड़वे, (**अम्ल**) अति खट्टे, (**लवण**) अति खारे, (**ऊष्ण**) अति गर्म, (**तीक्ष्ण**) अति तीखे, (**रूक्ष**) अति रूखे, (**विदाहिन.**) दाह उत्पन्न करने वाले (**आहारा**) खान-पान, (**दुःखशोकामयप्रदा**) दु.ख, शोक और रोगों को उत्पन्न करते हैं, वे (**राजसस्य**) राजसी प्रकृति के लोगों को (**इष्टा**) प्रिय होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

यातयामम्, गतरसम्, पूति, पर्युषितम्, च, यत्,
उच्छिष्टम्, अपि, च, अमेध्यम्, भोजनम्, तामसप्रियम् ॥ १० ॥

(च) और (यत्) जो (भोजनम्) खान-पान (यातयामम्) ठण्डा-बासी, (गतरसम्) रस रहित, (पूति) दुर्गन्ध युक्त, (पर्युषितम्) बिगड़ा हुआ, (उच्छिष्टम्) झूठा (च) तथा (अमेध्यम्) बुद्धि मलिन करने वाला, अशुद्ध (अपि) भी होता है, वह (तामसप्रियम्) तामसी प्रकृति के लोगों को प्रिय होता है।

संगति—गीता सार्वजनिक एवं सार्वभौम शाश्वत समाज विज्ञान है, इसलिए इसमें खान-पान के अनन्त प्रकार के पदार्थों का वर्गीकरण नहीं किया गया है, किन्तु उनके गुणों का ही वर्गीकरण किया गया है, अतः जिस पदार्थ में जैसा गुण हो, उसके अनुसार ही उसको सात्त्विक, राजस अथवा तामस समझना चाहिए।

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

अफलाकांक्षिभिः, यज्ञः, विधिदृष्टः, यः, इज्यते,
यष्टव्यम्, एव, इति, मनः, समाधाय, सः, सात्त्विकः ॥ ११ ॥

(विधिदृष्टः) अभेद प्रतिपादक सत्शास्त्र की विधि से नियत किया हुआ कर्म, अर्थात् तीसरे अध्याय के श्लोक ८ से १६ तक विधान किया हुआ (यः) जो (यज्ञः) यज्ञ, (यष्टव्यम् एव) करना ही अवश्य कर्तव्य है, (इति) इस प्रकार (मनः) मन के (समाधाय) दृढ़ निश्चय से, (अफलाकांक्षिभिः) फल की चाह से रहित पुरुषों द्वारा (इज्यते) किया जाता है, (सः) वह यज्ञ (सात्त्विकः) सात्त्विक है।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

अभिसन्धाय, तु, फलम्, दम्भार्थम्, अपि, च, एव, यत्,
इज्यते, भरतश्रेष्ठ, तम्, यज्ञम्, विद्धि, राजसम् ॥ १२ ॥

(तु) और (भरतश्रेष्ठ) हे अर्जुन! (यत्) जो यज्ञ (फलम्) फल को (अभिसन्धाय) उद्देश्य रखकर, अर्थात् दूसरे अध्याय के श्लोक ४२ से ४४ तक वर्णित काम्य-कर्म, (च) तथा (दम्भार्थम् एव) केवल लोक दिखावे के पाखण्ड के लिए (अपि) भी (इज्यते) किया जाता है, (तम्) उस (यज्ञम्) यज्ञ को (राजसम्) राजस (विद्धि) जान।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

विधिहीनम्, असृष्टानम्, मन्त्रहीनम्, अदक्षिणम्,
श्रद्धाविरहितम्, यज्ञम्, तामसम्, परिचक्षते ॥ १३ ॥

(**विधिहीनम्**) शास्त्र विधि से हीन, (**असृष्टान्नम्**) अन्न दान से रहित, (**मन्त्रहीनम्**) बिना मन्त्रो के, (**अदक्षिणम्**) बिना दक्षिणा के, और (**श्रद्धाविरहितम्**) बिना श्रद्धा के, केवल अन्ध परम्परा मे किये हुए (**यज्ञम्**) नाम मात्र के यज्ञ को (**तामसम्**) तामस (**परिचक्षते**) कहते है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

देव, द्विज, गुरु, प्राज्ञ, पूजनम्, शौचम्, आर्जवम्,
ब्रह्मचर्यम्, अहिंसा, च, शारीरम्, तपः, उच्यते ॥ १४ ॥

(**देव**) दैवी सम्पद् के गुणो से युक्त सज्जनो, (**द्विज**) अठारहवें अध्याय के ४२ वें श्लोक मे वर्णित गुणो वाले ब्राह्मणो, (**गुरु**) माता-पिता, सद्गुरु आदि बडे-बूढो, और (**प्राज्ञ**) बुद्धिमानो का (**पूजनम्**) आदर, सत्कार और सेवा-सुश्रुषा करना, (**शौचम्**) शरीर को शुद्ध और साफ रखना, (**आर्जवम्**) सरलता, (**ब्रह्मचर्यम्**) इन्द्रियों का संयम, (**च**) और (**अहिंसा**) शरीर से किसी को बिना कारण कष्ट नही देना, (**शारीरम्**) शरीर सम्बन्धी (**तपः**) तप (**उच्यते**) कहा जाता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

अनुद्वेगकरम्, वाक्यम्, सत्यम्, प्रियहितम्, च, यत्,
स्वाध्यायाभ्यसनम्, च, एव, वाङ्मयम्, तपः, उच्यते ॥१५॥

(**अनुद्वेगकरम्**) उद्वेग उत्पन्न न करनेवाला, (**च**) तथा (**प्रियहितम्**) प्रिय, अर्थात् मधुर और हितकर (**यत्**) जो (**सत्यम्**) सत्य, अर्थात् यथार्थ (**वाक्यम्**) भाषण है; (**च**) और (**स्वाध्यायाभ्यसनम्**) विद्या पढने का अभ्यास; (**एव**) यह ही (**वाङ्मयम्**) वाणी सम्बन्धी (**तपः**) तप (**उच्यते**) कहा जाता है।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

मनः, प्रसादः, सौम्यत्वम्, मौनम्, आत्मविनिग्रहः,
भावसंशुद्धिः, इति, एतत्, तपः, मानसम्, उच्यते ॥१६॥

(**मनःप्रसादः**) मनकी प्रसन्नता, (**सौम्यत्वम्**) शान्तभाव, (**मौनम्**) मननशीलता, (**आत्मविनिग्रहः**) मन को बुद्धि के वश मे रखना, और (**भावसंशुद्धिः**)

अन्तःकरण को द्वैतभाव के मैल से शुद्ध रखना; (इति) इस तरह (एतत्) यह (मानसम्) मन सम्बन्धी (तपः) तप (उच्यते) कहा जाता है।

संगति—गीता में शरीर, वाणी और मन से सब के साथ यथायोग्य सभ्यता के वर्ताव करने के शिष्टाचार को ही तप माना गया है।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

श्रद्धया, परया, तप्तम्, तपः, तत्, त्रिविधम्, नरैः,
अलाकांक्षिभिः, युक्तैः, सात्त्विकम्, परिचक्षते ॥१७॥

(अफलाकांक्षिभिः) फल को न चाहनेवाले (युक्तैः) समत्वयोगी (नरैः) पुरुषों द्वारा, (परया) परम (श्रद्धया) श्रद्धा से (तप्तम्) किये हुए (तत्) पूर्वोक्त (त्रिविधम्) तीन प्रकार के (तपः) तप को (सात्त्विकम्) सात्त्विक (परिचक्षते) कहते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

सत्कारमानपूजार्थम्, तपः, दम्भेन, च, एव, यत्,
क्रियते, तत्, इह, प्रोक्तम्, राजसम्, चलम्, अध्रुवम् ॥१८॥

(च) और (यत्) जो (तपः) तप (इह) यहाँ (सत्कारमानपूजार्थम्) सत्कार, मान और पूजा के लिए (दम्भेन एव) केवल पाखण्ड से (क्रियते) किया जाता है, (तत्) वह (अध्रुवम्) अनिश्चित् और (चलम्) अस्थायी तप, (राजसम्) राजस (प्रोक्तम्) कहा गया है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

मूढग्राहेण, आत्मनः, यत्, पीडया, क्रियते, तपः,
परस्य, उत्सादनार्थम्, वा, तत्, तामसम्, उदाहृतम् ॥१९॥

(यत्) जो (तपः) तप (मूढग्राहेण) मूढतापूर्वक, हठ से (आत्मनः) अन्तःकरण और शरीर को (पीडया) पीड़ा देकर, (वा) अथवा (परस्य) दूसरे किसी का (उत्सादनार्थम्) बुरा करने के उद्देश्य से (क्रियते) किया जाता है, (तत्) वह तप, (तामसम्) तामस (उदाहृतम्) कहा गया है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

दातव्यम्, इति, यत्, दानम्, दीयते, अनुपकारिणे,
देशे, काले, च, पात्रे, च, तत्, दानम्, सात्त्विकम्, स्मृतम् ॥२०॥

(दातव्यम्) देना अवश्य कर्तव्य है, (इति) इस भाव से (यत्) जो (दानम्) दान, (देशे) देश (च) और (काले) काल (च) तथा (पात्रे) पात्र का समुचित विचार करके (अनुपकारिणे) उपकार की भावना बिना (दीयते) दिया जाता है, (तत्) वह (दानम्) दान (सात्त्विकम्) सात्त्विक (स्मृतम्) कहा गया है; अर्थात् जिस देश और जिस काल मे, जिस व्यक्ति को, जिस वस्तु की वास्तविक आवश्यकता हो और जिसका सदुपयोग होने का विश्वास हो, तथा जिसके बदले मे दान लेने वालो से किसी प्रकार का स्वार्थ साधने अथवा उन पर उपकार करने का एहसान रखने का भाव न हो, वह दान सात्त्विक होता है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

यत्, तु, प्रत्युपकारार्थम्, फलम् उद्दिश्य, वा, पुनः ।
दीयते, च, परिक्लिष्टम्, तत्, दानम्, राजसम्, स्मृतम् ॥२१॥

(तु) और (यत्) जो दान (प्रत्युपकारार्थम्) बदले मे उपकार के प्रयोजन से, (वा) अथवा (पुनः) कालान्तर मे (फलम्) फल का (उद्दिश्य) उद्देश्य रख-कर, (च) तथा (परिक्लिष्टम्) क्लेशपूर्वक (दीयते) दिया जाता है, (तत्) वह (दानम्) दान (राजसम्) राजस (स्मृतम्) कहा गया है; अर्थात् जिसके बदले मे किसी प्रकार का स्वार्थ साधन, अथवा कीर्ति प्राप्त करने, अथवा दान लेने वाले पर उपकार करने का एहसान रखने के प्रयोजन से, अथवा कालान्तर मे उसका फल प्राप्त होने के निश्चय से, वर्तमान मे क्लेश उठाकर दिया जाता है, वह दान राजस होता है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अदेशकाले, यत्, दानम्, अपात्रेभ्यः, च, दीयते,
असत्कृतम्, अवज्ञातम्, तत्, तामसम्, उदाहृतम् ॥२२॥

(च) और (यत्) जो (दानम्) दान, (अदेशकाले) अयोग्य देश और अयोग्य काल में (अपात्रेभ्यः) कुपात्रों के लिए, (असत्कृतम्) बिना सत्कार के (अवज्ञातम्) तिरस्कार पूर्वक (दीयते) दिया जाता है; (तत्) वह दान (ताम-सम्) तामस (उदाहृतम्) कहा गया है।

संगति—अब अगले छः श्लोकों में यह बताया गया है कि यज्ञ, दान और तप

आदि सब क्रियाएँ तभी सात्त्विकी होती हैं, जब कि वे सब की एकता के निश्चय से की जाती हैं।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ॐ तत्सत्, इति, निर्देशः, ब्रह्मणः, त्रिविधः, स्मृतः,
ब्राह्मणाः, तेन, वेदाः, च, यज्ञाः, च, विहिताः, पुरा ॥२३॥

(ॐ) ओं, (तत्) तत्, (सत्) सत्, (इति) यह (त्रिविधः) तीन प्रकार का (ब्रह्मणः) ब्रह्म अथवा परमात्मा का (निर्देशः) सूचक शब्द (स्मृतः) कहा गया है, अर्थात् त्रिगुणात्मक जगत की त्रिपुटियों की एकता स्वरूप ब्रह्म का बोध कराने वाला "ओं तत्सत्" शब्द है; (तेन) सब की एकता का बोध कराने वाले उस शब्द के द्वारा, सबकी एकता पर लक्ष रखते हुए, (पुरा) पहले, अर्थात् समाज संगठन के आरम्भ में, (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण आदि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था (च) और (वेदाः) वेदादि शास्त्र (च) तथा (यज्ञाः) गुणों के अनुसार कार्य विभाग के आधार पर चारों वर्णों के नियत कर्म रूप यज्ञों की (विहिताः) व्यवस्था की गई।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

तस्मात्, ओं, इति, उदाहृत्य, यज्ञदान, तपः क्रियाः,
प्रवर्तन्ते, विधानोक्ताः, सततम्, ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

(तस्मात्) इसलिए, (ब्रह्मवादिनाम्) ब्रह्म का कथन करने वाले विद्वान पुरुषों की, (विधानोक्ताः) उपरोक्त विधि से नियत की हुई, (यज्ञ-दान-तपः क्रिया) यज्ञ, दान और तप की क्रियाएँ, (सततम्) सदा (ओं) ओं (इति) इस, परमात्मा के एकत्व भाव के निर्देशक शब्द का (उदाहृत्य) उच्चारण करके (प्रवर्तन्ते) हुआ करती हैं।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥

तत्, इति, अनभिसंधाय, फलम्, यज्ञतपः, क्रियाः,
दान क्रियाः, च, विविधाः, क्रियन्ते, मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥

(तत्) वह सबकी एकता स्वरूप परमात्मा ही सब कुछ है, (इति) इस निश्चय से (फलम्) फल को, अर्थात् व्यक्तिगत स्वार्थ की कामनाएँ (अनभिसंधाय) छोड़ कर, (विविधाः) नाना प्रकार की (यज्ञतपः क्रियाः) यज्ञ और तप की क्रियाएँ,

(च) तथा (दानक्रियाः) दान की क्रियाएं, (मोक्षकांक्षिभिः) मोक्षार्थी लोगों द्वारा (क्रियन्ते) की जाती है।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

सद्भावे, साधुभावे, च, सत्, इति, एतत्, प्रयुज्यते,
प्रशस्ते, कर्मणि, तथा, सत्, शब्दः, पार्थ, युज्यते ॥२६॥

(सत्) सत्, (इति) यह शब्द (सद्भावे) सत्य भाव मे (च) और (साधुभावे) श्रेष्ठ भाव मे (प्रयुज्यते) प्रयोग किया जाता है, (तथा) तथा (पार्थ) हे पार्थ ! (प्रशस्ते) उत्तम (कर्मणि) कर्म मे भी (सत्) सत्, (एतत्) यह (शब्दः) शब्द (युज्यते) प्रयोग किया जाता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

यज्ञे, तपसि, दाने, च, स्थितिः, सत्, इति, च, उच्यते,
कर्म, च, एव, तदर्थीयम्, सत्, इति, एव, अभिधीयते ॥२७॥

(च) और (यज्ञे) यज्ञ, (तपसि) तप (च) तथा (दाने) दान मे (स्थितिः) प्रवृत्ति (एव) ही (सत्) सत् है, (इति) ऐसा (उच्यते) कहा जाता है, (च) और (तदर्थीयम्) उसके निमित्त किया हुआ (कर्म) कर्म (एव) भी (सत्) सत्, (इति) ऐसा (अभिधीयते) कहा जाता है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

अश्रद्धया, हुतम्, दत्तम्, तपः, तप्तम्, कृतम्, च, यत्,
असत्, इति, उच्यते, पार्थ, न, च, तत्, प्रेत्य, नो, इह ॥२८॥

(पार्थ) हे अर्जुन ! (अश्रद्धया) सब की एकता के उपरोक्त सिद्धान्त मे श्रद्धा के बिना (यत्) जो (हुतम्) होमा हुआ हवन, (दत्तम्) दिया हुआ दान, (तप्तम्) तपा हुआ (तपः) तप, (च) और (कृतम्) किया हुआ कर्म है, (असत्) वह असत्, (इति) ऐसे (उच्यते) कहा जाता है; (तत्) उससे (नो) न तो (इह) इस लोक में अभ्युदय होता है, (च) और (न) न (प्रेत्य) परलोक मे श्रेय की प्राप्ति ही होती है।

॥ सत्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

संन्यासस्य, महाबाहो, तत्त्वम्, इच्छामि, वेदितुम्,
त्यागस्य, च, हृषीकेश, पृथक्, केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अर्जुन ने कहा—

(**महाबाहो**) हे महाबाहो ! (**हृषीकेश**) हे हृषीकेश ! (**केशिनिषूदन**) हे केशिनिषूदन ! (**संन्यासस्य**) संन्यास (**च**) और (**त्यागस्य**) त्याग के (**तत्त्वम्**) तत्त्व को मैं (**पृथक्**) पृथक्-पृथक् (**वेदितुम्**) जानना (**इच्छामि**) चाहता हूँ।

श्री भगवान उवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

काम्यानाम्, कर्मणाम्, न्यासम्, संन्यासम्, कवयः, विदुः,
सर्वकर्मफलत्यागम्, प्राहुः, त्यागम्, विचक्षणाः ॥ २ ॥

श्री भगवान बोले कि—

(**कवयः**) कई पण्डित लोग (**काम्यानाम्**) कामनाओं की सिद्धि के लिए किये जाने वाले वैदिक काम्य (**कर्मणाम्**) कर्मों के (**न्यासम्**) त्याग को (**संन्यासम्**) संन्यास (**विदुः**) कहते हैं; (**विचक्षणाः**) कई बुद्धिमान् लोग (**सर्वकर्म फलत्यागम्**) सब कर्मों में फल के त्याग को (**त्यागम्**) त्याग (**प्राहुः**) कहते हैं।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

त्याज्यम्, दोषवत्, इति, एके, कर्म, प्राहुः, मनीषिणः,
यज्ञदानतपः, कर्म, न, त्याज्यम्, इति, च, अपरे ॥ ३ ॥

(एके) कई (मनीषिण:) मननशील लोग (इति) यह (प्राहु:) कहते हैं कि (कर्म) कर्म सभी (दोषवत्) दोषयुक्त हैं, (त्याज्यम्) इसलिए त्यागने योग्य हैं, (च) और (अपरे) दूसरे लोग (इति) यह कहते हैं कि (यज्ञदानतप कर्म) यज्ञ, दान और तप सम्बन्धी कर्म (न) नहीं (त्याज्यम्) त्यागने चाहिए।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

निश्चयम्, शृणु, मे, तत्र, त्यागे, भरतसत्तम,
त्याग, हि, पुरुषव्याघ्र, त्रिविध, सप्रकीर्तित ॥ २ ॥

(भरतसत्तम) हे अर्जुन! (तत्र) अब (त्यागे) त्याग के विषय में (मे) मेरा (निश्चयम्) निश्चय (शृणु) सुन; (पुरुषव्याघ्र) हे पुरुष श्रेष्ठ! (त्याग:) त्याग (हि) भी, (त्रिविध:) सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का (सप्रकीर्तित) कहा गया है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

यज्ञदानतप.कर्म, न, त्याज्यम्, कार्यम्, एव, तत्,
यज्ञ, दानम्, तप., च, एव, पावनानि, मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

(यज्ञ-दान-तप.कर्म) यज्ञ, दान और तप, अर्थात् सतरहवें अध्याय के श्लोक ११वें में वर्णित अपनी योग्यता के नियत कर्म—लोक-संग्रह के लिए करने रूपी यज्ञ, उसी अध्याय के श्लोक १४ से १७ तक विधान किये हुए शिष्टाचार रूपी सात्त्विक तप, और श्लोक २० में विधान किये हुए सात्त्विक दान—सम्बन्धी कर्म, (न त्याज्यम्) नहीं त्यागने चाहिए, (तत्) किन्तु उन्हें (कार्यम् एव) अवश्य कर्तव्य समझकर करना ही चाहिए। (यज्ञ) यज्ञ, (दानम्) दान (च) और (तप) तप (एव) ही (मनीषिणाम्) मननशील पुरुषों को (पावनानि) पवित्र करने वाले हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

एतानि, अपि, तु, कर्माणि, सङ्गम्, त्यक्त्वा, फलानि, च,
कर्तव्यानि, इति, मे, पार्थ, निश्चितम्, मतम्, उत्तमम् ॥ ६ ॥

(तु) परन्तु (पार्थ) हे पार्थ! (एतानि कर्माणि) यह यज्ञ, दान और तप-संबंधी कर्म (अपि) भी, (सङ्गम्) व्यक्तिगत अहंकार की आसक्ति (च) और (फलानि) व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के फल की भावना को (त्यक्त्वा) त्यागकर (कर्तव्यानि)

करने चाहिए; (इति) ऐसा (मे) मेरा (निश्चितम्) निश्चित (उत्तमम्) उत्तम (मतम्) मत है।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

नियतस्य, तु, संन्यासः, कर्मणः, न, उपपद्यते,
मोहात्, तस्य, परित्यागः, तामसः, परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

(नियतस्य) चातुर्वर्ण्य व्यवस्थानुसार अपनी योग्यता के नियत (कर्मणः) कर्म का (संन्यासः) संन्यास करना (तु) तो (न उपपद्यते) बिलकुल ही उचित नहीं है; (मोहात्) मोह से (तस्य) उसका (परित्यागः) त्याग करना (तामसः) तामस (परिकीर्तितः) कहा गया है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
सः कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

दुःखम्, इति, एव, यत्, कर्म, कायक्लेशभयात्, त्यजेत्,
सः, कृत्वा, राजसम्, त्यागम् न, एव, त्यागफलम्, लभेत् ॥ ८ ॥

(कर्म) कर्म (दुःखम् एव) दुःख रूप ही हैं, (इति) ऐसा समझकर (कायक्लेशभयात्) शारीरिक क्लेश के भय से (यत्) जो (त्यजेत्) त्यागकर दे, तो (सः) वह पुरुष (राजसम्) राजस (त्यागम्) त्याग (कृत्वा) करके (त्याग फलम्) त्याग के फल को (एव) कभी (न लभेत्) नहीं पाता।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

कार्यम्, इति, एव, यत्, कर्म, नियतम्, क्रियते, अर्जुन,
सङ्गम्, त्यक्त्वा, फलम्, च, एव, सः, त्यागः, सात्त्विकः मतः ॥ ९ ॥

(अर्जुन) हे अर्जुन ! (कार्यम् एव) कर्म करना ही कर्तव्य है, (इति) ऐसा समझकर, (यत्) जो (नियतम्) अपनी योग्यता के नियत (कर्म) कर्म, (संगम्) आसक्ति (च) और (फलम्) फल को (त्यक्त्वा) त्याग कर (क्रियते) किया जाता है, (सः) वह (एव) ही (सात्त्विकः) सात्त्विक (त्यागः) त्याग (मतः) माना गया है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

न, द्वेष्टि, अकुशलम्, कर्म, कुशले, न, अनुषज्जते,
त्यागी, सत्त्वसमाविष्ट, मेधावी, छिन्नसंशय ॥१०॥

(सत्त्वसमाविष्ट) सत्त्व गुण युक्त, (छिन्नसंशय.) संशय रहित, (मेधावी) बुद्धिमान्, (त्यागी) उपरोक्त त्यागी पुरुष, (अकुशलम्) हीन कोटि के माने जाने वाले दोष युक्त (कर्म) कर्म से (न द्वेष्टि) द्वेष नहीं करता, और (कुशले) उच्च-कोटि के माने जाने वाले निर्दोष कर्म में (न अनुषज्जते) आसक्त नहीं रहता।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफल त्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

न, हि, देहभृता, शक्यम्, त्यक्तुम्, कर्माणि, अशेषतः,
य., तु, कर्मफलत्यागी, स, त्यागी, इति, अभिधीयते ॥११॥

(हि) क्योंकि (देहभृता) देहधारी मनुष्य (कर्माणि) कर्मों का (अशेषत) सर्वथा (त्यक्तुम्) त्याग (न शक्यम्) नहीं कर सकता, (य) इसलिए जो पुरुष (कर्मफलत्यागी) कर्मों के फल का, अर्थात् व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि का त्याग करता है (स) वह (तु) ही (त्यागी) वास्तव में त्यागी है, (इति) ऐसे (अभिधीयते) कहा जाता है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मण फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

अनिष्टम्, इष्टम्, मिश्रम्, च, त्रिविधम्, कर्मण, फलम्,
भवति, अत्यागिनाम्, प्रेत्य, न, तु, सन्यासिनाम्, क्वचित् ॥१२॥

(अत्यागिनाम्) अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के फल की कामना से कर्म करने वाले मनुष्यों को, (कर्मण) कर्म का (इष्टम्) अच्छा, (अनिष्टम्) बुरा, (च) और (मिश्रम्) मिला हुआ, (त्रिविधम्) तीन प्रकार का (फलम्) फल (प्रेत्य) कालान्तर में (भवति) प्राप्त होता है, (तु) परन्तु (सन्यासिनाम्) उपरोक्त कर्मफल का सात्त्विक त्याग करने वाले सच्चे सन्यासियों को (क्वचित्) कर्मों का कुछ भी फल (न) नहीं होता, अर्थात् उनके कर्म अकर्म रूप होते हैं।

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

पच, एतानि, महाबाहो, कारणानि, निबोध, मे,
साख्ये, कृतान्ते, प्रोक्तानि, सिद्धये, सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

(महाबाहो) हे महाबाहो! (सर्वकर्मणाम्) सब कर्मों की (सिद्धये) सिद्धि

के लिए (एतानि) ये (पञ्च) पाँच (कारणानि) कारण (सांख्ये) सांख्य (कृतान्ते) सिद्धान्त में (प्रोक्तानि) कहे गये हैं, (मे) सो मुझ से (निबोध) भली प्रकार जान, अर्थात् इन पाँच साधनों से कर्म सांगोपांग सम्पादन होते हैं।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥१४॥

अधिष्ठानम्, तथा, कर्ता, करणम्, च, पृथग्विधम्,
विविधाः, च, पृथक्, चेष्टा, दैवम्, च, एव, अत्र, पंचमम् ॥१४॥

(अधिष्ठानम्) कर्म करने का स्थान अथवा आश्रय; (तथा) तथा (कर्ता) कर्म करने का अहंकार करने वाला व्यक्ति; (च) तथा (पृथग्विधम्) न्यारे-न्यारे (करणम्) करण, अर्थात् कर्म करने के हथियार आदि साधन; (च) और (विविधाः) नाना प्रकार की (पृथक्) न्यारी-न्यारी (चेष्टाः) चेष्टाएँ, अर्थात् कर्म करने की शैलियाँ, युक्तियाँ, ढंग अथवा तरीके; (च एव) वैसे ही (अत्र) यहाँ, अर्थात् कर्मों की सिद्धि में (पञ्चमम्) पाँचवाँ कारण (दैवम्) दैव अर्थात् सूक्ष्म दैवी शक्तियाँ और पूर्व कर्मों का अदृष्ट संचित प्रभाव भी है।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥१५॥

शरीरवाङ्मनोभिः, यत्, कर्म, प्रारभते, नरः,
न्याय्यम्, वा, विपरीतम्, वा, पंच, एते, तस्य, हेतवः ॥१५॥

(शरीर वाङ् मनोभिः) शरीर, वाणी और मन से, (नरः) मनुष्य (वा) या तो (न्याय्यम्) अच्छा, (वा) या (विपरीतम्) बुरा, (यत्) जो कुछ (कर्म) कर्म (प्रारभते) सम्पादन करता है, (तस्य) उसके (एते) यह (पञ्च) पाँच (हेतवः) कारण हैं।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मति ॥१६॥

तत्र, एवम्, सति, कर्तारम्, आत्मानम्, केवलम्, तु, यः,
पश्यति, अकृतबुद्धित्वात्, न, सः, पश्यति, दुर्मति ॥१६॥

(तु) परन्तु (एवम्) इस तरह पाँच कारण (सति) होते हुए भी, (यः) जो मनुष्य (अकृत बुद्धित्वात्) व्यक्तित्व के अहंकार की दूषित बुद्धि के कारण, (तत्र) उस विषय में, अर्थात् कर्म करने में (केवलम्) केवल (आत्मानम्) अपने व्यक्तित्व को ही (कर्तारम्) कर्ता (पश्यति) समझता है, (सः) वह (दुर्मति) मूर्ख (न

पश्यति) यथार्थ नही समझता।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

यस्य, न, अहङ्कृत, भाव, बुद्धि, यस्य, न, लिप्यते,
हत्वा, अपि, स, इमान्, लोकान्, न, हन्ति, न, निबध्यते ॥ १७ ॥

(यस्य) जिस पुरुष के अन्तःकरण में, (अहंकृत·) "मैं करता हूँ", यह (भाव·) भावना ही (न) नही होती, और (यस्य) जिसकी (बुद्धि.) बुद्धि, व्यक्तित्व के अहकार और व्यक्तिगत स्वार्थों की कामनाओं मे (न लिप्यते) लिपायमान नही होती, (स) वह पुरुष (इमान्) इन (लोकान्) सब लोको को (हत्वा) मारकर (अपि) भी, वास्तव मे (न) न तो (हन्ति) मारता है और (न) न (निबध्यते) हिंसा के पाप से बँधता है!

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञानम्, ज्ञेयम्, परिज्ञाता, त्रिविधा, कर्मचोदना,
करणम्, कर्म, कर्तेति, त्रिविध, कर्मसग्रह ॥ १८ ॥

(परिज्ञाता) कर्म का सूक्ष्म रूप जानने वाला, अर्थात् कर्ता, (ज्ञानम्) जानने की क्रिया, अर्थात् कर्म के सूक्ष्म रूप का ज्ञान, (ज्ञेयम्) और जानने का विषय, अर्थात् कर्म, (त्रिविधा) इन तीन भेदों वाली, (कर्म चोदना) कर्म की भीतरी प्रेरणा का स्वरूप है, अर्थात् इन तीनो के सयोग से कर्म में प्रवृत्त होने का अन्त-करण मे सकल्प उत्पन्न होता है। (कर्ता) कर्म करने वाला, (करणम्) कर्म करने के साधन, (कर्म) और कर्म करने की क्रिया, (इति) इन (त्रिविधः) तीन भेदों वाला (कर्म-सग्रह) कर्म का सग्रह है, अर्थात् इन तीनो के सयोग से कर्म का स्थूल रूप बनता है।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

ज्ञानम्, कर्म, च, कर्ता, च, त्रिधा, एव, गुणभेदत,
प्रोच्यते, गुणसख्याने, यथावत्, शृणु, तानि, अपि ॥ १९ ॥

(ज्ञानम्) ज्ञान (च) और (कर्म) कर्म (च) तथा (कर्ता) कर्ता (एव) भी (गुण-भेदत) सत्त्व, रज और तम गुणों के भेद से, (गुणसख्याने) साख्य शास्त्र मे (त्रिधा) तीन-तीन प्रकार के (प्रोच्यते) कहे गये हैं, (तानि) उनको (अपि) भी

(यथावत्) यथावत्, अर्थात् जैसे के तैसे (शृणु) सुन।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।। २० ।।

सर्वभूतेषु, येन, एकम्, भावम्, अव्ययम्, ईक्षते,
अविभक्तम्, विभक्तेषु, तत्, ज्ञानम्, विद्धि, सात्त्विकम् ।। २० ।।

(**येन**) जिस ज्ञान से मनुष्य, (**विभक्तेषु**) विभाजित, अर्थात् भिन्न-भिन्न अनेक, (**सर्वभूतेषु**) सब भूत-प्राणियों में (**एकम्**) एक, (**अव्ययम्**) अविकारी, अर्थात् सदा एक समान रहने वाले (**भावम्**) आत्मभाव को, (**अविभक्तम्**) विभाग रहित सम-भाव से स्थित (**ईक्षते**) अनुभव करता है; (**तत्**) उस (**ज्ञानम्**) ज्ञान को (**सात्त्विकम्**) सात्त्विक (**विद्धि**) जान।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।। २१ ।।

पृथक्त्वेन, तु, यत्, ज्ञानम्, नानाभावान्, पृथग्विधान्,
वेत्ति, सर्वेषु, भूतेषु, तत्, ज्ञानम्, विद्धि, राजसम् ।। २१ ।।

(**तु**) परन्तु (**यत्**) जिस (**ज्ञानम्**) ज्ञान से, मनुष्य (**सर्वेषु**) सब (**भूतेषु**) भूत-प्राणियों में (**पृथग्विधान्**) भिन्न-भिन्न प्रकार के, (**नानाभावान्**) अनेक भावों को (**पृथक्त्वेन**) वस्तुतः न्यारा-न्यारा करके (**वेत्ति**) जानता है, अर्थात् अनेकता को सच्ची जानता है; (**तत्**) उस (**ज्ञानम्**) ज्ञान को (**राजसम्**) राजस (**विद्धि**) जान।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ।। २२ ।।

यत्, तु, कृत्स्नवत्, एकस्मिन्, कार्ये, सक्तम्, अहैतुकम्,
अतत्त्वार्थवत्, अल्पम्, च, तत् तामसम्, उदाहृतम् ।। २२ ।।

(**तु**) और (**यत्**) जो ज्ञान, (**अहैतुकम्**) किसी प्रमाण या युक्ति रहित, (**च**) तथा (**अतत्त्वार्थवत्**) तात्त्विक विचार से शून्य, (**एकस्मिन्**) किसी एक ही (**कार्ये**) भौतिक बनाव को (**कृत्स्नवत्**) सब कुछ मानकर (**सक्तम्**) उसी में आसक्ति कराता है; (**तत्**) वह (**अल्पम्**) तुच्छ ज्ञान (**तामसम्**) तामस (**उदाहृतम्**) कहा गया है।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ।। २३ ।।

नियतम्, सङ्गरहितम्, अरागद्वेषतः, कृतम्,
अफलप्रेप्सुना, कर्म, यत्, तत्, सात्त्विकम्, उच्यते ।। २३ ।।

(यत्) जो (नियतम्), नियत (कर्म) कर्म, (सङ्गरहितम्) कर्तापन के अभिमान की आसक्ति के बिना, (अफलप्रेप्सुना) और व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के फल की चाहना से रहित, (अरागद्वेषतः) रागद्वेष न रखते हुए (कृतम्) किया जाता है, (तत्) वह (सात्त्विकम्) सात्त्विक (उच्यते) कहा जाता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ।। २४ ।।

यत्, तु, कामेप्सुना, कर्म, साहंकारेण, वा, पुनः,
क्रियते, बहुलायासम्, तत्, राजसम्, उदाहृतम् ।। २४ ।।

(तु) और (यत्) जो (कर्म) कर्म (कामेप्सुना) केवल स्वार्थ सिद्धि की कामनाओं की चाहवाले मनुष्यों द्वारा, (पुनः) तथा (साहंकारेण) व्यक्तित्व के अहंकार से, (वा) और (बहुलायासम्) शक्ति से अधिक परिश्रम करके (क्रियते) किया जाता है, (तत्) वह (राजसम्) राजस (उदाहृतम्) कहा गया है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्मयत्तत्तामसमुच्यते ।। २५ ।।

अनुबन्धम्, क्षयम्, हिंसाम्, अनवेक्ष्य, च, पौरुषम्,
मोहात्, आरभ्यते, कर्म, यत्, तत्, तामसम्, उच्यते ।। २५ ।।

(यत्) जो (कर्म) कर्म, (अनुबन्धम्) परिणाम, (क्षयम्) हानि, (हिंसाम्) हिंसा, कष्ट अथवा पीड़ा, (च) और (पौरुषम्) सामर्थ्य का (अनवेक्ष्य) पर्याप्त विचार न करके, (मोहात्) केवल मूर्खता से (आरभ्यते) आरम्भ किया जाता है, (तत्) वह (तामसम्) तामस (उच्यते) कहा जाता है।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ।।२६।।

मुक्तसङ्गः, अनहंवादी, धृत्युत्साहसमन्वितः,
सिद्ध्यसिद्ध्योः, निर्विकारः, कर्ता, सात्त्विकः, उच्यते ।। २६ ।।

(मुक्तसङ्गः) आसक्ति से रहित, (अनहंवादी) कर्तापन के व्यक्तित्व के अहंकार की बातें न बनाने वाला, (धृत्युत्साहसमन्वितः) धीरज और उत्साह से युक्त, (सिद्ध्यसिद्ध्योः) कार्य की सफलता और असफलता में (निर्विकारः) हर्ष-शोक आदि विकारों से रहित (कर्ता) कर्ता; (सात्त्विकः) सात्त्विक (उच्यते) कहा

जाता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

रागी, कर्मफलप्रेप्सुः, लुब्धः, हिंसात्मकः, अशुचिः,
हर्षशोकान्वितः, कर्ता, राजसः, परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

(कर्मफलप्रेप्सुः) कर्मों के फल की चाह वाला, (रागी) बहुत आसक्त, (लुब्धः) अत्यन्त लोभी, (हिंसात्मकः) दूसरों को कष्ट देने के हिंसक स्वभाव वाला, (अशुचिः) मलिन आचरणों वाला, और (हर्षशोकान्वितः) हर्ष, शोक से प्रभावित (कर्ता) कर्ता; (राजसः) राजस (परिकीर्तितः) कहा गया है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

अयुक्तः, प्राकृतः, स्तब्धः, शठः, नैष्कृतिकः, अलसः,
विषादी, दीर्घसूत्री, च, कर्ता, तामसः, उच्यते ॥ २८ ॥

(अयुक्तः) काम में मन न लगाने वाला, (प्राकृतः) प्राकृत स्थिति का रूढ़ि पालक, (स्तब्धः) अकड़ा हुआ, (शठः) मूर्ख एवं कृतघ्न, (नैष्कृतिकः) दूसरों की हानि करने वाला, (विषादी) व्याकुल रहने वाला, (अलसः) आलसी (च) और (दीर्घसूत्री) थोड़े समय में होने वाले काम को लम्बा कर देने वाला (कर्ता) कर्ता; (तामसः) तामस (उच्यते) कहा जाता है।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

बुद्धेः, भेदम्, धृतेः, च, एव, गुणतः, त्रिविधम्, शृणु,
प्रोच्यमानम्, अशेषेण, पृथक्त्वेन, धनंजय ॥ २९ ॥

(धनंजय) हे अर्जुन ! (बुद्धेः) बुद्धि का (च) और (धृतेः) धारणा का (एव) भी, (गुणतः) गुणों के अनुसार (त्रिविधम्) तीन प्रकार का (भेदम्) भेद (अशेषेण) पूरी तरह (पृथक्त्वेन) अलग-अलग (प्रोच्यमानम्) मेरे द्वारा कहा हुआ (शृणु) सुन।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

प्रवृत्तिम्, च, निवृत्तिम्, च, कार्याकार्ये, भयाभये,
बन्धम्, मोक्षम्, च, या, वेत्ति, बुद्धिः, सा, पार्थ, सात्त्विकी ॥ ३० ॥

(प्रवृत्तिम्) कर्म अथवा विकर्म रूप प्रवृत्ति, (च) तथा (निवृत्तिम्) अकर्म अथवा निष्कर्म रूप निवृत्ति के रहस्य को, (च) एव (कार्याकार्ये) कर्तव्य और अकर्तव्य, (भयाभये) भय और अभय, (बन्धम्) बन्धन (च) और (मोक्षम्) मोक्ष के तत्त्व को (या) जो बुद्धि (वेत्ति) यथार्थ रूप से जानती है, (पार्थ) हे अर्जुन ! (सा) वह व्यवसायात्मिका (बुद्धि) बुद्धि (सात्त्विकी) सात्त्विकी है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

यया, धर्मम्, अधर्मम्, च, कार्यम्, च, अकार्यम्, एव, च,
अयथावत्, प्रजानाति, बुद्धि, सा, पार्थ, राजसी ॥ ३१ ॥

(यया) जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य (धर्मम्) धर्म (च) और (अधर्मम्) अधर्म को, (च) तथा (कार्यम्) कर्तव्य (च) और (अकार्यम्) अकर्तव्य के तत्त्व को (एव) भी (अयथावत्) अयथार्थ रूप से (प्रजानाति) जानता है, (पार्थ) हे अर्जुन ! (सा) वह (बुद्धिः) बुद्धि (राजसी) राजसी है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

अधर्मम्, धर्मम्, इति, या, मन्यते, तमसा, आवृता,
सर्वार्थान्, विपरीतान्, च, बुद्धि, सा, पार्थ, तामसी ॥ ३२ ॥

(या) जो (तमसा) अन्धविश्वास के मोह मे (आवृता) आच्छादित बुद्धि, (अधर्मम्) अधर्म को (इति) ही (धर्मम्) धर्म (मन्यते) मानती है, (च) और (सर्वार्थान्) सम्पूर्ण अर्थों को (विपरीतान्) विपरीत ही लगाती है, (पार्थ) हे अर्जुन ! (सा) वह (बुद्धि) बुद्धि (तामसी) तामसी है।

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

धृत्या, यया, धारयते, मनः, प्राणेन्द्रियक्रियाः,
योगेन, अव्यभिचारिण्या, धृति, सा, पार्थ, सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

(अव्यभिचारिण्या) सबकी एकता के निश्चय से न डिगने वाली (यया) जिस (धृत्या) धारणा मे मनुष्य (योगेन) समत्व-योग के आधार पर, (मनः) मन, (प्राणेन्द्रियक्रिया) प्राण और इन्द्रियो के व्यापारो को (धारयते) धारण (पार्थ) हे अर्जुन ! (सा धृतिः) वह धारणा (सात्त्विकी) सात्त्विकी है

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

यया, तु, धर्मकामार्थान्, धृत्या, धारयते, अर्जुन,
प्रसंगेन, फलाकांक्षी, धृतिः, सा, पार्थ, राजसी ॥ ३४ ॥

(तु) परन्तु (अर्जुन) हे अर्जुन ! (यया) जिस (धृत्या) धारणा से (फलाकांक्षी) फल की कामना वाला मनुष्य, (प्रसंगेन) अति आसक्ति से (धर्म-कामार्थान्) धर्म, अर्थ और कामों को (धारयते) धारण करता है; (पार्थ) हे पार्थ ! (सा) वह (धृतिः) धारणा (राजसी) राजसी है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

यया, स्वप्नम्, भयम्, शोकम्, विषादम्, मदम्, एव, च,
न, विमुंचति, दुर्मेधा, धृतिः, सा, पार्थ, तामसी ॥ ३५ ॥

(दुर्मेधा) दूषित बुद्धि वाला, मूर्ख व्यक्ति (यया) जिस, धारणा से (स्वप्नम्) नींद, (भयम्) भय, (शोकम्) शोक, (विषादम्) दुःख (च) और (एव) इसी तरह (मदम्) नशे आदि की उन्मत्तता को (न) नहीं (विमुंचति) छोड़ता है; (पार्थ) हे अर्जुन ! (सा) वह (धृतिः) धारणा (तामसी) तामसी है।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखांतं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

सुखम्, तु, इदानीम्, त्रिविधम्, शृणु, मे, भरतर्षभ,
अभ्यासात्, रमते, यत्र, दुःखान्तम्, च, निगच्छति ॥ ३६ ॥

(भरतर्षभ) हे भरत श्रेष्ठ ! (इदानीम्) अब (सुखम्) सुख (तु) भी (त्रिविधम्) तीन प्रकार का (मे) मुझ से (शृणु) सुन; (यत्र) जिसमें (अभ्या-सात्) अभ्यास के साथ यथायोग्य (रमते) रमण करता हुआ (च) भी (दुःखा-न्तम्) मनुष्य दुःखों के अन्त को (निगच्छति) प्राप्त होता है।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धि प्रसादजम् ॥ ३७ ॥

यत्, तत्, अग्रे, विषम्, इव, परिणामे, अमृतोपमम्,
तत्, सुखम्, सात्त्विकम्, प्रोक्तम्, आत्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

(आत्मबुद्धि-प्रसादजम्) आत्मनिष्ठ सात्त्विकी बुद्धि की प्रसन्नता से होने वाला (यत्) जो (तत्) वह सुख, (अग्रे) पहले साधन काल में (विषम्) विष के

(इव) समान प्रतीत होता है, अर्थात् जहर-सा कड़वा लगता है, (परिणामे) परन्तु परिणाम मे (अमृतोपमम्) अमृत के समान मीठा होता है, (तत् सुखम्) वह सुख (सात्त्विकम्) सात्त्विक (प्रोक्तम्) कहा गया है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

विषयेन्द्रियसयोगात्, यत्, तत्, अग्रे, अमृतोपमम्,
परिणामे, विषम्, इव, तत्, सुखम्, राजसम्, स्मृतम् ॥ ३८ ॥

(विषयेन्द्रियसंयोगात्) विषय और इन्द्रियो के सयोग से होने वाला (यत्) जो (तत्) वह सुख, (अग्रे) पहले भोग काल मे, (अमृतोपमम्) अमृत के समान मीठा लगता है, परन्तु (परिणामे) परिणाम मे (विषम्) विष के (इव) समान हो जाता है, (तत्) वह (सुखम्) सुख (राजसम्) राजस (स्मृतम्) कहा गया है।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

यत्, अग्रे, च, अनुबन्धे, च, सुखम्, मोहनम्, आत्मनः,
निद्रालस्यप्रमादोत्थम्, तत्, तामसम् उदाहृतम् ॥३९॥

(निद्रालस्यप्रमादोत्थम्) नीद, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होने वाला (यत्) जो (सुखम्) सुख, (अग्रे) पहले आरम्भ मे (च) और (अनुबन्धे) परिणाम मे, (च) सभी अवस्थाओ मे, (आत्मानम्) अन्त करण को (मोहनम्) मोह मे उलझाए रखता है; (तत्) वह सुख (तामसम्) तामस (उदाहृतम्) कहा गया है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

न, तत्, अस्ति, पृथिव्याम्, वा, दिवि, देवेषु, वा, पुनः,
सत्त्वम्, प्रकृतिजैः, मुक्तम्, यत्, एभिः, स्यात्, त्रिभिः, गुणैः ॥४०॥

(पृथिव्याम्) पृथ्वी मे, (वा) या (दिवि) आकाश मे, (वा) अथवा (देवेषु) देवताओ, अर्थात् सूक्ष्म लोको मे (पुनः) भी, (तत्) वह कोई भी (सत्त्वम्) पदार्थ (न) नहीं (अस्ति) है, (यत्) जो (प्रकृतिजैः) प्रकृति से उत्पन्न (एभिः) इन (त्रिभिः) तीन (गुणैः) गुणो से (मुक्तम्) रहित (स्यात्) हो।

ब्राह्मण क्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।।४१।।

ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्, शूद्राणाम्, च, परंतप,
कर्माणि, प्रविभक्तानि, स्वभावप्रभवैः, गुणैः ।।४१।।

(परंतप) हे परंतप ! **(ब्राह्मण-क्षत्रियविशाम्)** ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों **(च)** और **(शूद्राणाम्)** शूद्रों के **(कर्माणि)** कर्म, **(स्वभाव प्रभवैः)** मनुष्यों के स्वभाव से उत्पन्न हुए **(गुणैः)** गुणों के अनुसार, **(प्रविभक्तानि)** अलग-अलग नियत किये गए हैं; अर्थात् सभ्य समाज के लिए आवश्यक—शिक्षा, रक्षा, जीवन के आवश्यक पदार्थों की प्राप्ति, एवं सेवा की सुव्यवस्था के उद्देश्य से, मनुष्यों के स्वाभाविक गुणों की योग्यता के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण के नाम देकर, उनके लिए उक्त चार प्रकार के कार्य विभाग नियत किये गये हैं ।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।।४२।।

शमः, दमः, तपः, शौचम्, क्षान्तिः, आर्जवम्, एव, च,
ज्ञानम्, विज्ञानम्, आस्तिक्यम्, ब्रह्मकर्म, स्वभावजम् ।।४२।।

(शमः) मन का संयम, **(दमः)** इन्द्रियों को वश में रखना, **(शौचम्)** बाहर भीतर की शुद्धि, **(तपः)** सतरहवें अध्याय के श्लोक १४ से १७ तक वर्णित सात्त्विक तप अर्थात् शिष्टाचार, **(क्षान्तिः)** क्षमाशीलता, **(आर्जवम)** सरलता, **(आस्तिक्यम्)** आत्मविश्वास, **(ज्ञानम्)** अध्यात्म ज्ञान, **(च)** और **(विज्ञानम्)** सांसारिक पदार्थों का तात्त्विक एवं भौतिक विज्ञान, **(एव)** इस तरह **(ब्रह्म कर्म स्वभावजम्)** ब्राह्मण के स्वभाविक नियत कर्म हैं, अर्थात् सत्त्व गुण की प्रधानता होने के कारण ब्राह्मण संज्ञक मनुष्यों में ये गुण स्वाभाविक होते हैं, इसलिए ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देने की योग्यता होने कारण, यह शिक्षा का व्यवसाय उनके लिए नियत किया गया है ।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।। ४३ ।।

शौर्यम्, तेजः, धृतिः, दाक्ष्यम्, युद्धे, च, अपि, अपलायनम्,
दानम्, ईश्वरभावः, च, क्षात्रम्, कर्म, स्वभावजम् ।। ४३ ।।

(शौर्यम्) शूर वीरता, **(तेजः)** तेजस्विता, **(धृतिः)** धीरज, **(दाक्ष्यम्)** कार्य

कुशलता, अर्थात् नीति निपुणता, (च) और (युद्धे) युद्ध से (अपलायनम्) पीछे न हटना, (च) और (दानम्) दान देने की प्रवृत्ति (अपि) भी, अर्थात् रज-सत्त्व की प्रधानता के कारण क्षत्रिय वर्ण में इन गुणों की स्वभाव से ही योग्यता होती है, अत (ईश्वरभाव) स्वामीभाव से, एकता के प्रेम युक्त प्रजा का सरक्षण और शासन करना, (क्षात्रम्) क्षत्रिय के (स्वभावजम्) स्वाभाविक नियत (कर्म) कर्म हैं।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यम्, वैश्यकर्म, स्वभावजम्,
परिचर्यात्मकम्, कर्म, शूद्रस्य, अपि, स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

(कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यम्) खेती और पशु पालन आदि से पदार्थ उत्पन्न करके, उनका वितरण करने के क्रय-विक्रय का व्यापार करना, (वैश्यकर्मस्वभावजम्) रज-तम प्रधान वैश्य वर्ण की योग्यता के स्वाभाविक नियत कर्म हैं, (अपि) और (परिचर्यात्मकम्) शारीरिक श्रम से सेवा करना, (शूद्रस्य) तमोगुण प्रधान शूद्र वर्ण का (स्वभावजम्) स्वाभाविक नियत (कर्म) कर्म हैं।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्म निरत सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

स्वे, स्वे, कर्मणि, अभिरत, ससिद्धिम्, लभते, नर,
स्वकर्म निरत, सिद्धिम्, यथा, विन्दति, तत्, शृणु ॥ ४५ ॥

(स्वे) अपने (स्वे) अपने स्वाभाविक (कर्मणि) नियत कर्म मे (अभिरत) अच्छी तरह लगा हुआ (नर) मनुष्य (ससिद्धिम्) सब प्रकार के अभ्युदय और नि.श्रेयस रूप परमसिद्धि को (लभते) प्राप्त होता है, (स्वकर्मनिरत) अपने स्वाभाविक नियत कर्म मे लगा हुआ मनुष्य (यथा) जिस प्रकार से (सिद्धिम्) परम सिद्धि को (विन्दति) प्राप्त होता है, (तत्) उसको (शृणु) सुन।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

यत, प्रवृत्ति, भूतानाम्, येन, सर्वम् इदम्, ततम्,
स्वकर्मणा, तम्, अभ्यर्च्य, सिद्धिम्, विन्दति, मानवः ॥ ४६ ॥

(यतः) जिस परमात्मा से (भूतानाम्) सारा ससार (प्रवृत्तिः) प्रवृत्त हो रहा है, (येन) और जिससे (इदम्) यह (सर्वम्) सारा जगत (ततम्) व्याप्त है, (तम) उस, सबके अन्तरात्मा=परमात्मा का (स्वकर्मणा) अपने स्वाभाविक

नियत कर्मों द्वारा (अभ्यर्च्य) पूजन करने से (मानवः) मनुष्य (सिद्धिम्) परम सिद्धि को (विन्दति) प्राप्त होता है; अर्थात् जगत रूपी जगदीश्वर की अपने नियत कर्म करने द्वारा लोक सेवा करना ही परमात्मा का सच्चा पूजन है और उसीसे सब प्रकार की सुख-शान्ति प्राप्त होती है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।४७।।

श्रेयान्, स्वधर्मः, विगुणः, परधर्मात्, स्वनुष्ठितात्,
स्वभावनियतं, कर्म, कुर्वन्, न, आप्नोति, किल्बिषम् ।।४७।।

(**परधर्मात् स्वनुष्ठितात्**) दूसरे के धर्म, अर्थात् नियत कर्म का आचरण सत्त्व गुण प्रधान, सौम्य, पवित्र अथवा उत्तम हो; और उसकी अपेक्षा (**स्वधर्मः विगुणः**) अपना धर्म, अर्थात् नियत कर्म रजोगुण-तमोगुण प्रधान, क्रूर, मलिन अथवा हीन हो, तो भी (**श्रेयान्**) अपना धर्म श्रेष्ठ है; (**स्वभावनियतम्**) स्वाभाविक गुणों के अनुसार नियत किए हुए (**कर्म**) स्वधर्म रूप कर्म को (**कुर्वन्**) करता हुआ मनुष्य (**किल्बिषम्**) पाप को (**न**) नहीं (**आप्नोति**) प्राप्त होता।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।।४८।।

सहजम्, कर्म, कौन्तेय, सदोषम्, अपि, न, त्यजेत्,
सर्वारम्भाः, हि, दोषेण, धूमेन, अग्नि, इव, आवृताः ।।४८।।

(**कौन्तेय**) हे कुन्ती पुत्र! (**सहजम्**) स्वभाविक गुणों के अनुसार (**कर्म सदोषम्**) नियत कर्म दोष युक्त हो, तो (**अपि**) भी (**न**) नहीं (**त्यजेत्**) त्यागना चाहिए; (**हि**) क्योंकि (**धूमेन**) धुएँ से (**अग्नि**) अग्नि की (**इव**) तरह, (**सर्वारम्भाः**) सब ही कर्म (**दोषेण**) किसी न किसी दोष से (**आवृताः**) घिरे रहते हैं, अर्थात् यह सृष्टि त्रिगुणात्मक होने के कारण गुण-दोषमय ही है, गुण और दोष का जोड़ा है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।।४९।।

असक्तबुद्धिः, सर्वत्र, जितात्मा, विगतस्पृहः,
नैष्कर्म्यसिद्धिम, परमाम्, संन्यासेन, अधिगच्छति ।।४९।।

(**सर्वत्र**) सर्वत्र (**असक्त**) अनासक्त (**बुद्धिः**) बुद्धिवाला, (**विगतस्पृहः**) व्यक्तिगत स्वार्थ की कामनाओं से रहित, (**जितात्मा**) मन को वश में रखने वाला

समत्व-योगी, (सन्यासेन) अपने नियत कर्म करता हुआ भी, सात्त्विक त्याग रूप सन्यास के द्वारा (नैष्कर्म्यं) निष्कर्म की (परमाम्) परम (सिद्धिम्) सिद्धि को (अधिगच्छति) प्राप्त होता है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ।।५०।।

सिद्धिम्, प्राप्तः, यथा, ब्रह्म, तथा, आप्नोति, निबोध, मे,
समासेन, एव, कौन्तेय, निष्ठा, ज्ञानस्य, या, परा ।।५०।।

(कौन्तेय) हे कुन्ती पुत्र ! (सिद्धिम्) उपरोक्त निष्कर्म की सिद्धि को (प्राप्तः) प्राप्त हुआ मनुष्य, (यथा) जैसे (ब्रह्म) ब्रह्म भाव को (आप्नोति) प्राप्त होता है, (तथा) तथा (या) जो (ज्ञानस्य) तत्त्व ज्ञान की (परा) परा (निष्ठा) निष्ठा है, (एव) सो (समासेन) सक्षेप से (मे) मुझ से (निबोध) जान।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ।।५१।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।।५२।।

बुद्ध्या, विशुद्धया युक्त , धृत्या, आत्मानम्, नियम्य, च,
शब्दादीन्, विषयान्, त्यक्त्वा, रागद्वेषौ, व्युदस्य, च ।।५१।।
विविक्तसेवी, लघ्वाशी, यतवाक्कायमानस.,
ध्यानयोगपर', नित्यम्, वैराग्यम्, समुपाश्रितः ।।५२।।

(विशुद्धया) विशुद्ध सात्त्विकी (बुद्ध्या) बुद्धि से (युक्त') सब की एकता के साम्य भाव मे जुडा हुआ; (विविक्तसेवी) निरुपाधिक शुद्ध देश मे रहने वाला, (लघ्वाशी) हलका भोजन करने वाला, (यतवाक्कायमानस) मन, वाणी और शरीर को सयम मे रखने वाला; (वैराग्यम् समुपाश्रित) वैराग्य युक्त मनुष्य, (नित्यम्) निरन्तर (ध्यानयोगपर.) ध्यान योग मे लगा हुआ, अर्थात् परमात्मा की सर्व व्यापकता का निरन्तर ध्यान रखता हुआ; (धृत्या) सात्त्विक धारणा से (आत्मानम्) अन्तःकरण को (नियम्य) वश मे करके; (च) तथा (शब्दादीन्) शब्दादिक (विषयान्) विषयो की आसक्ति (त्यक्त्वा) त्याग कर, (च) और (रागद्वेषौ) राग-द्वेष को (व्युदस्य) दूर करके,

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।५३।।

अहंकारम्, बलम्, दर्पम्, कामम्, क्रोधम्, परिग्रहम्,
विमुच्य, निर्ममः, शान्तः, ब्रह्मभूयाय, कल्पते ।।५३।।

(**अहंकारम्**) अहंकार, (**बलम्**) बल, (**दर्पम्**) घमण्ड, (**कामम्**) काम, (**क्रोधम्**) क्रोध, और (**परिग्रहम्**) पदार्थों के अनावश्यक संग्रह को (**विमुच्य**) त्याग कर, (**निर्ममः**) ममता रहित (**शान्तः**) शान्त मनुष्य, (**ब्रह्मभूयाय**) ब्रह्म भाव में स्थित होने के (**कल्पते**) योग्य होता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।५४।।

ब्रह्मभूतः, प्रसन्नात्मा, न, शोचति, न, कांक्षति,
समः, सर्वेषु, भूतेषु, मद्भक्तिम्, लभते, पराम ।।५४।।

(**ब्रह्मभूतः**) ब्रह्म भाव में स्थित हुआ, (**प्रसन्नात्मा**) प्रसन्न चित्त वाला मनुष्य, (**न**) न (**शोचति**) शोक करता है, (**न**) न (**कांक्षति**) चाह ही रखता है; (**सर्वेषु**) सब (**भूतेषु**) भूत प्राणियों में (**समः**) समता का भाव रखता हुआ वह, (**पराम् मद्भक्तिम्**) सबके आत्मा=परमात्मा स्वरूप मेरी पराभक्ति को (**लभते**) पाता है, अर्थात् भक्त और भगवान् का भेद मिटा कर आत्म स्वरूप हो जाता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।५५।।

भक्त्या, माम्, अभिजानाति, यावान्, यः, च, अस्मि, तत्त्वतः,
ततः, माम्, तत्त्वतः, ज्ञात्वा, विशते, तदनन्तरम् ।।५५।।

(**यः**) मैं सब का आत्मा, जो कुछ हूँ, (**च**) और (**यावान्**) जैसा (**अस्मि**) हूँ, (**माम्**) मुझको (**भक्त्या**) पराभक्ति के द्वारा (**तत्त्वतः**) तत्त्व से (**अभिजानाति**) वह भली प्रकार जान लेता है; (**ततः**) इस प्रकार (**माम्**) मुझको (**तत्त्वतः**) तत्त्व से (**ज्ञात्वा**) जान लेने पर (**तदनन्तरम्**) तत्काल ही (**विशते**) मुझमें समा जाता है, अर्थात् मुझ सर्वात्मा के साथ अपनी एकता का अनुभव कर लेता है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।।५६।।

समत्व-योगी, (सन्यासेन) अपने नियत कर्म करता हुआ भी, सात्त्विक त्याग रूप सन्यास के द्वारा (नैष्कर्म्यं) निष्कर्म की (परमाम्) परम (सिद्धिम्) सिद्धि को (अधिगच्छति) प्राप्त होता है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

सिद्धिम्, प्राप्तः, यथा, ब्रह्म, तथा, आप्नोति, निबोध, मे,
समासेन, एव, कौन्तेय, निष्ठा, ज्ञानस्य, या, परा ॥५०॥

(कौन्तेय) हे कुन्ती पुत्र ! (सिद्धिम) उपरोक्त निष्कर्म की सिद्धि को (प्राप्तः) प्राप्त हुआ मनुष्य, (यथा) जैसे (ब्रह्म) ब्रह्म भाव को (आप्नोति) प्राप्त होता है, (तथा) तथा (या) जो (ज्ञानस्य) तत्त्व ज्ञान की (परा) परा (निष्ठा) निष्ठा है, (एव) सो (समासेन) सक्षेप से (मे) मुझ मे (निबोध) जान।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

बुद्ध्या, विशुद्धया युक्तः, धृत्या, आत्मानम्, नियम्य, च,
शब्दादीन्, विषयान्, त्यक्त्वा, रागद्वेषौ, व्युदस्य, च ॥५१॥
विविक्तसेवी, लघ्वाशी, यतवाक्कायमानसः,
ध्यानयोगपरः, नित्यम्, वैराग्यम्, समुपाश्रितः ॥५२॥

(विशुद्धया) विशुद्ध सात्त्विकी (बुद्ध्या) बुद्धि से (युक्तः) सब की एकता के साम्य भाव मे जुडा हुआ, (विविक्तसेवी) निरुपाधिक शुद्ध देश मे रहने वाला, (लघ्वाशी) हलका भोजन करने वाला, (यतवाक्कायमानस) मन, वाणी और शरीर को सयम मे रखने वाला, (वैराग्यम् समुपाश्रित) वैराग्य युक्त मनुष्य; (नित्यम्) निरन्तर (ध्यानयोगपरः) ध्यान योग मे लगा हुआ, अर्थात् परमात्मा की सर्व व्यापकता का निरन्तर ध्यान रखता हुआ; (धृत्या) सात्त्विक धारणा मे (आत्मानम्) अन्त करण को (नियम्य) वश मे करके; (च) तथा (शब्दादीन्) शब्दादिक (विषयान्) विषयो की आसक्ति (त्यक्त्वा) त्याग कर, (च) और (रागद्वेषौ) राग-द्वेष को (व्युदस्य) दूर करके,

अवलम्बन करके (इति) ऐसा (मन्यसे) मानता है कि (न योत्स्ये) मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो (एषः) यह (ते) तेरा (व्यवसायः) निश्चय (मिथ्या) मिथ्या है, क्योंकि (प्रकृतिः) तेरा क्षत्रियपन का स्वाभाविक गुण (त्वाम्) तुझ को (नियोक्ष्यति) जबरदस्ती युद्ध में लगा देगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

स्वभावजेन, कौन्तेय, निबद्धः, स्वेन, कर्मणा, कुर्तुम्,
न, इच्छसि, यत्, मोहात् करिष्यसि, अवशः, अपि, तत् ॥ २० ॥

(कौन्तेय) हे अर्जुन ! (यत्) जिस कर्म को, तूं (मोहात्) मोह के वश होकर (न) नहीं (कर्तुम्) करना (इच्छसि) चाहता है, (तत्) उसको (अपि) ही (स्वेन) अपने (स्वभावजेन) स्वभाविक (कर्मणा) कर्म से (निबद्धः) बन्धा हुआ (अवशः) परवश होकर (करिष्यसि) तूं करेगा।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

ईश्वरः, सर्वभूतानाम्, हृद्देशे, अर्जुन, तिष्ठति,
भ्रामयन्, सर्वभूतानि, यन्त्रारूढानि, मायया ॥ ६१ ॥

(अर्जुन) हे अर्जुन ! (ईश्वरः) सब शरीरों का स्वामी, सबका अपना आप, चेतन अन्तरात्मा=ईश्वर (मायया) अपनी माया से, (यन्त्रारूढानि) कर्मों के चक्र रूप यन्त्र पर चढ़े हुए (सर्वभूतानि) सब भौतिक शरीरों को, (भ्रामयन्) उनके स्वाभाविक गुणों के अनुसार घुमाता हुआ, अर्थात् कर्म कराता हुआ (सर्वभूतानाम्) सब शरीरों के (हृद्देशे) हृदय में (तिष्ठति) स्थित है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

तम्, एव, शरणम्, गच्छ, सर्वभावेन, भारत,
तत्प्रसादात्, पराम्, शान्तिम्, स्थानम्, प्राप्स्यसि, शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

(भारत) हे भारत ! (सर्वभावेन) तूं सब प्रकार से (तम्) उस सर्वात्मा की (एव) ही (शरणम्) शरण में (गच्छ) जा, अर्थात् अपने व्यष्टि अहंकार को समष्टि में लय कर दे; (तत्प्रसादात्) उस सबके अन्तरात्मा की प्रसन्नता से (पराम्) परम (शान्तिम्) शान्ति और (शाश्वतम्) सनातन (स्थानम्) परम पद परमानन्द को (प्राप्स्यसि) प्राप्त होगा।

सर्वकर्माणि, अपि, सदा, कुर्वाण, मद्व्यपाश्रय,
मत्प्रसादात्, अवाप्नोति, शाश्वतम्, पदम्, अव्ययम् ॥५६॥

(मद्व्यपाश्रय.) मुझ सर्वात्मा मे स्थित हुआ समत्व-योगी, (सर्वकर्माणि) सब कर्मों को (सदा) सदा (कुर्वाण.) करता हुआ (अपि) भी, (मत्प्रसादात्) सब के आत्मास्वरूप मेरी प्रसन्नता मे, (शाश्वतम्) सदा बना रहने वाले (अव्ययम्) अक्षय (पदम्) परमपद, परमानन्द को (अवाप्नोति) प्राप्त होता है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

चेतसा, सर्वकर्माणि, मयि, सन्यस्य, मत्पर,
बुद्धियोगम्, उपाश्रित्य, मच्चित्त, सततम्, भव ॥५७॥

(चेतसा) अत. मन से (सर्वकर्माणि) सब कर्मों को (मयि) मुझ सर्वात्मा मे (सन्यस्य) अर्पण करके, अर्थात् अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को, मेरे व्यक्त स्वरूप जगत् के स्वार्थों मे जोड कर, (मत्पर) मेरे साथ एकता का अनुभव करता हुआ; (बुद्धियोगम्) समत्व बुद्धि का (उपाश्रित्य) अवलम्बन करके, (सततम्) निरन्तर (मच्चित्त.) मेरे सर्वात्म भाव के चित्त वाला (भव) हो, अर्थात् चित्त को मेरे सर्वात्म भाव मे निरन्तर लगाये रख।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

मच्चित्त, सर्वदुर्गाणि, मत्प्रसादात्, तरिष्यसि,
अथ, चेत्, त्वम्, अहकारात्, न, श्रोष्यसि, विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

(मच्चित्त) मेरे सर्वात्म भाव मे चित्त लगाये रखने से, (मत्प्रसादात्) सब के आत्मा-स्वरूप मेरी प्रसन्नता से, (त्वम्) तू (सर्वदुर्गाणि) सब सकटो और कठिनाइयो से (तरिष्यसि) पार हो जायगा, (अथ) परन्तु (चेत्) यदि (अहंकारात्) व्यक्तित्व के अहकार के कारण, (न श्रोष्यसि) मेरे आदेश को नही सुनेगा तो (विनङ्क्ष्यसि) नष्ट हो जायगा।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

यत्, अहकारम्, आश्रित्य, न, योत्स्ये, इति, मन्यसे,
मिथ्या, एषः, व्यवसाय, ते, प्रकृति., त्वाम्, नियोक्ष्यति ॥५९॥

(यत्) जो तू (अहंकारम्) अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहंकार का (आश्रित्य)

अवलम्बन करके (इति) ऐसा (मन्यसे) मानता है कि (न योत्स्ये) मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो (एषः) यह (ते) तेरा (व्यवसायः) निश्चय (मिथ्या) मिथ्या है, क्योंकि (प्रकृतिः) तेरा क्षत्रियपन का स्वाभाविक गुण (त्वाम्) तुझ को (नियोक्ष्यति) जबरदस्ती युद्ध में लगा देगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

स्वभावजेन, कौन्तेय, निबद्धः, स्वेन, कर्मणा, कुर्तुम्,
न, इच्छसि, यत्, मोहात् करिष्यसि, अवशः, अपि, तत् ॥ २० ॥

(कौन्तेय) हे अर्जुन ! (यत्) जिस कर्म को, तूं (मोहात्) मोह के वश होकर (न) नहीं (कर्तुम्) करना (इच्छसि) चाहता है, (तत्) उसको (अपि) ही (स्वेन) अपने (स्वभावजेन) स्वभाविक (कर्मणा) कर्म से (निबद्धः) बन्धा हुआ (अवशः) परवश होकर (करिष्यसि) तूं करेगा।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

ईश्वरः, सर्वभूतानाम्, हृद्देशे, अर्जुन, तिष्ठति,
भ्रामयन्, सर्वभूतानि, यन्त्रारूढानि, मायया ॥ ६१ ॥

(अर्जुन) हे अर्जुन ! (ईश्वरः) सब शरीरों का स्वामी, सबका अपना आप, चेतन अन्तरात्मा—ईश्वर (मायया) अपनी माया से, (यन्त्रारूढानि) कर्मों के चक्र रूप यन्त्र पर चढ़े हुए (सर्वभूतानि) सब भौतिक शरीरों को, (भ्रामयन्) उनके स्वाभाविक गुणों के अनुसार घुमाता हुआ, अर्थात् कर्म कराता हुआ (सर्वभूतानाम्) सब शरीरों के (हृद्देशे) हृदय में (तिष्ठति) स्थित है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

तम्, एव, शरणम्, गच्छ, सर्वभावेन, भारत,
तत्प्रसादात्, पराम्, शान्तिम्, स्थानम्, प्राप्स्यसि, शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

(भारत) हे भारत ! (सर्वभावेन) तूं सब प्रकार से (तम्) उस सर्वात्मा की (एव) ही (शरणम्) शरण में (गच्छ) जा, अर्थात् अपने व्यष्टि अहंकार को समष्टि में लय कर दे; (तत्प्रसादात्) उस सबके अन्तरात्मा की प्रसन्नता से (पराम्) परम (शान्तिम्) शान्ति और (शाश्वतम्) सनातन (स्थानम्) परम पद परमानन्द को (प्राप्स्यसि) प्राप्त होगा।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।। ६३ ।।

इति, ते, ज्ञानम्, आख्यातम्, गुह्यात्, गुह्यतरम् मया,
विमृश्य, एतत्, अशेषेण, यथा, इच्छसि, तथा, कुरु ।। ६३ ।।

(इति) यह (गुह्यात्) सूक्ष्म से भी (गुह्यतरम्) अत्यन्त सूक्ष्म रहस्यमय (ज्ञानम्) ज्ञान (मया) मैंने (ते) तुझे (आख्यातम्) कहा है, (एतत्) इस को (अशेषेण) पूर्ण रूप से (विमृश्य) अच्छी प्रकार विचार करके, (यथा) फिर तेरी जो (इच्छसि) इच्छा हो, (तथा) वह (कुरु) कर।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ।।६४।।

सर्वगुह्यतमम्, भूयः, शृणु, मे, परमम्, वचः,
इष्टः, असि, मे, दृढम्, इति, ततः, वक्ष्यामि, ते, हितम् ।। ६४ ।।

(भूयः) फिर भी (सर्वगुह्यतमम्) सब से अधिक गहन एवं गुप्त, (परमम्) परम रहस्यमय (मे) मेरे (वचः) वचन (शृणु) सुन, (मे) क्योंकि तू मुझे (दृढम्) अत्यन्त (इष्टः) प्यारा (असि) है, (ततः) इसलिए (इति) यह (ते) तेरे लिए (हितम्) परम हितकारक उपदेश (वक्ष्यामि) मैं कहता हूँ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।। ६५ ।।

मन्मनाः, भव, मद्भक्तः, मद्याजी, माम्, नमस्कुरु,
माम्, एव, एष्यसि, सत्यम्, ते, प्रतिजाने, प्रियः, असि, मे ।। ६५ ।।

(मन्मना भव) मेरे मन वाला हो, अर्थात् मन में सदा यह निश्चय रख कि मैं परमात्मा सारे जगत् में ओत प्रोत व सर्वत्र एक समान व्यापक हूँ, (मद्भक्तः) बारहवें अध्याय में वर्णित लक्षणों वाला मेरा भक्त हो, अर्थात् सारे जगत को मेरा व्यक्त स्वरूप समझकर सबके साथ एकता का प्रेम कर, (मद्याजी) मेरा यजन कर, अर्थात् तीसरे अध्याय में यज्ञ के विधानानुसार, और अठारहवें अध्याय के श्लोक ४६ के अनुसार, मेरे व्यक्त स्वरूप जगत की सुव्यवस्था रूप लोक-संग्रह के लिए, अपने नियत कर्म करने रूपी यज्ञ कर, (माम्नमस्कुरु) मुझे नमस्कार कर, अर्थात् जगत को मेरा व्यक्त स्वरूप समझकर सबके साथ नम्रता का व्यवहार कर, (माम्) ऐसा करने में, तू मुझको, अर्थात् मेरे सर्वात्मभाव को (एव) निःसंदेह (एष्यसि) प्राप्त होगा अर्थात् मेरा स्वरूप हो जायगा; (ते) मैं तुझे (सत्यम्) यह सत्य (प्रति-

जाने) प्रतिज्ञा करके कहता हूँ; (मे) क्योंकि तूं मेरा (प्रियः) अत्यन्त प्यारा (असि) है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

सर्वधर्मान्, परित्यज्य, माम्, एकम्, शरणम्, व्रज,
अहम्, त्वा, सर्वपापेभ्यः, मोक्षयिष्यामि, मा, शुचः ॥ ६६ ॥

(सर्वधर्मान्) भेदवाद के सारे साम्प्रदायिक धर्मों को **(परित्यज्य)** सर्वथा त्यागकर, **(एकम्)** केवल एक **(माम्)** सबके अन्तरात्मा, सबके अपने आप स्वरूप= मेरी **(शरणम् व्रज)** अनन्य शरण में आ, अर्थात् अपने पृथक् व्यक्तिभाव को सब के आत्मभाव में लय कर दे; **(अहम्)** मैं सबका अपना आप=आत्मा, **(त्वा)** तुझे **(सर्वपापेभ्यः)** सब पापों से **(मोक्षयिष्यामि)** मुक्त कर दूंगा; **(मा शुचः)** तूं शोक मत कर।

संगति—यह १८वां अध्याय गीता का उपसंहार है। पहले के अध्यायों में जिस दार्शनिक तत्त्व-ज्ञान और लौकिक व्यवहार विज्ञान के आधार पर शाश्वत समाज-विज्ञान का विस्तृत विवेचन, युक्तियों और प्रमाणों सहित किया गया है, उनका संक्षिप्त निचोड़, अपेक्षाकृत थोड़े से सार गर्भित और महत्त्वपूर्ण श्लोकों में, इस अध्याय में स्पष्ट किया गया है। पहले श्लोक ४ से लेकर १७ तक में, संन्यास अथवा त्याग का सात्त्विक, राजस और तामस भेद से, तुलनात्मक विवेचन करके, उसका झूठा और सच्चा रूप दिखाकर, समाज की सुव्यवस्था के उद्देश्य से अपने कर्तव्यकर्म, व्यक्तित्व के अहंकार के बिना और व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके स्वार्थों में मिलाकर, करते रहने को ही सच्चा संन्यास और त्याग बताया। फिर श्लोक १८ से ३९ तक ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख के सात्त्विक, राजस और तामस भेदों का वर्गीकरण करके, सबकी एकता के सात्त्विक ज्ञान युक्त, सात्त्विक भाव से और सात्त्विकी बुद्धि तथा सात्त्विकी धृति के अवलंबन से, सात्त्विक कर्म करते रहने से आत्म-ज्ञान का सच्चा, अक्षय, सात्त्विक सुख प्राप्त होना निश्चित ठहराया। फिर श्लोक ४० से ६२ तक सभ्य समाज की सब प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, प्रकृति के तीन गुणों की कमी-बेशी के आधार पर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों के चार प्रकार के कार्य-विभाग नियत करके, सबके लिए अपने अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यता के कर्तव्य कर्म करने की व्यवस्था दी। इसीको परमात्मा का सच्चा पूजन कहा; और समाज की सुव्यवस्था के उद्देश्य से किए जाने वाले सभी प्रकार के सौम्य-क्रूर, पवित्र-मलिन, ऊँच-नीच माने जाने वाले कर्मों को एक समान आवश्यक और एक समान श्रेयस्कर ठहराया।

अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म नहीं करने वाले, समाज विध्वंसकों की अधोगति और विनाश होना निश्चित बताया। श्लोक ६३ में अर्जुन के माध्यम से सबको स्वतन्त्रता पूर्वक इस अत्यन्त गम्भीर, क्रांतिकारी उपदेश पर पूर्णतया विचार करके, जो अच्छा लगे सो करने की विचार स्वतन्त्रता को महत्त्व दिया। अन्त में, जो प्रथम अध्याय के ४३-४४ श्लोकों में अर्जुन ने जाति-धर्म और कुल-धर्म के नाश होने की चिन्ता, और दूसरे अध्याय के ७वें श्लोक में अपनी किंकर्तव्य विमूढता प्रकट करके धर्म के विषय में शिक्षा देने की भगवान से प्रार्थना की थी, उसका समाधान ६४ से ६६ तक के तीन महान क्रांतिकारी श्लोकों में, सबसे अधिक, अत्यन्त गंभीर रहस्य पूर्ण अंतिम उपदेश के रूप में करते है, कि जाति, कुल और साम्प्रदायिक भेद उत्पन्न करने वाले अस्वाभाविक पराये धर्मों को सर्वथा छोड़कर, अपने पृथक् व्यक्तित्व को, मेरे सर्वात्मभाव में मिला देने के अपने स्वाभाविक स्वधर्म स्वीकार करने रूप मेरे सर्वात्मभाव की शरण में आ जा। इस तरह मेरे व्यक्त स्वरूप सारे विश्व के साथ अपनी एकता का अनुभव करते हुए, समत्व-योग का आचरण करने से ही मनुष्य सब प्रकार के बंधनों और शोक संताप से रहित होकर पूर्ण स्वतंत्र अथवा मुक्त होता है। गीता के शाश्वत समाज विज्ञान का संक्षिप्त सार यही है, जिसका विधान, किसी भी प्रकार के भेद-भाव बिना, सारी मानव जाति के हित के लिए किया गया है, और जिसका आचरण करके मानव समाज अपनी सर्वांगीण उन्नति करता हुआ, परिपूर्णता का परमानन्द प्राप्त कर सकता है।

× × ×

अब आगे के श्लोकों में भगवान् ने इस उपदेश को सुनने की योग्यता की आवश्यकता पर जोर दिया है ताकि इसका अधिकारी मनुष्य इसको यथावत् समझकर इसके अनुसार वर्ताव कर सके।

उसके बाद इसका संक्षिप्त महात्म्य कहा गया है।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

इदम्, ते, न, अतपस्काय, न, अभक्ताय, कदाचन,
न, च, अशुश्रूषवे, वाच्यम्, न, च, माम्, यः, अभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

(इदम्) इस ज्ञान-विज्ञान के अत्यन्त सूक्ष्म रहस्यमय क्रान्तिकारी समत्व-योग के उपदेश को, (न) न तो (अतपस्काय) विचारहीन, उजड्ड, शिष्टाचार शून्य व्यक्ति को, (न) न (अभक्ताय) सबकी एकता के प्रेम भाव से रहित मनुष्य को, (च) और (न) न (अशुश्रूषवे) इसे सुनने की उपेक्षा करने वाले को ही

(वाच्यम्) कहना चाहिए; (च) तथा (यः) जो ६वें अध्याय के श्लोक ११ व १२ में कहा हुआ तामसी प्रकृति का मूढ पुरुष, (माम्) मुझ सर्वात्मा को (अभ्यसूयति) एक विशेष व्यक्ति मानकर, मेरा तिरस्कार करता है, उसको (ते) तुझे (कदाचन) कदापि (न) नहीं कहना चाहिए; अर्थात् उपरोक्त अयोग्य पात्र, इस परम गुह्य उपदेश के अधिकारी नहीं हैं। ऐसे कुपात्रों को उपदेश देने से वे अर्थ का अनर्थ कर दें, जिसका उल्टा दुष्परिणाम होता है।

यः इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

यः, इमम्, परमम्, गुह्यम्, मद्भक्तेषु, अभिधास्यति,
भक्तिम्, मयि, पराम्, कृत्वा, माम्, एव, एष्यति, असंशयः ॥ ६८ ॥

(यः) जो (इमम्) इस (परमम्) परम (गुह्यम्) गुह्य रहस्य को, (मद्भक्तेषु) बारहवें अध्याय में वर्णित मेरे भक्तों को (अभिधास्यति) अच्छी तरह समझाकर कहेगा, वह (मयि) मेरी (पराम्) अनन्य भाव की प्रेम लक्षणा, परा (भक्तिम्) भक्ति (कृत्वा) करके, (असंशयः) निःसंदेह (माम्) मुझ सर्वात्मा को (एव) ही (एष्यति) प्राप्त होगा, अर्थात् मेरा स्वरूप हो जायगा।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥ ६९ ॥

न, च, तस्मात्, मनुष्येषु, कश्चित्, मे, प्रियकृत्तमः।
भविता, न, च, मे, तस्मात्, अन्यः, प्रियतरः, भुवि ॥ ६९ ॥

(मनुष्येषु) मनुष्यों में (तस्मात्) उससे अधिक (न) न तो (च) और (कश्चित्) कोई (मे) मेरा (प्रिय) अतिशय प्रिय (कृत्तमः) करने वाला है, (च) और (न) न (भुवि) पृथ्वी में (तस्मात्) उससे (मे प्रियतरः) अधिक मेरा प्यारा (अन्यः) दूसरा कोई (भविता) होगा।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

अध्येष्यते, च, यः, इमम्, धर्म्यम्, संवादम्, आवयोः,
ज्ञानयज्ञेन, तेन, अहम्, इष्टः, स्याम्, इति, मे, मतिः ॥ ७० ॥

(च) और (यः) जो कोई (आवयोः) हम दोनों के (इमम्) इस (धर्म्यम्) धर्म रूप (संवादम्) संवाद का (अध्येष्यते) सदा अध्ययन करेगा, (तेन) उसके द्वारा (अहम्) मैं सर्वात्मा (ज्ञानयज्ञेन) ज्ञानयज्ञ से (इष्टः) पूजित (स्याम्)

होऊँगा; (इति) ऐसा (मे) मेरा (मति) मत है, अर्थात् मैं ऐसा मानूँगा।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

श्रद्धावान्, अनसूयः, च, शृणुयात्, अपि, यः, नरः, सः, अपि,
मुक्तः, शुभान्, लोकान्, प्राप्नुयात्, पुण्यकर्मणाम् ॥ ७० ॥

(यः) जो (नरः) पुरुष (श्रद्धावान्) श्रद्धायुक्त (च) और (अनसूयः) दोष दृष्टि से रहित होकर, (शृणुयात् अपि) एकाग्रचित्त से ध्यान पूर्वक इसे सुनेगा भी, तो (सः) वह (अपि) भी (मुक्तः) बुरे कर्मों को छोडकर (पुण्य कर्मणाम्) उत्तम कर्म करने वाले (शुभान्) श्रेष्ठ (लोकान्) लोगो के समाज को (प्राप्नुयात्) प्राप्त होगा, अर्थात् गीता को सुनकर, उसका मनन करने से, उसको अच्छे-बुरे और कर्तव्याकर्तव्य का यथार्थ ज्ञान हो जावेगा, तब वह विरुद्धाचरण करना छोड देगा और अच्छे कर्म करेगा, जिससे उसका जीवन आनन्दमय हो जावेगा।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।

(स्थितः) स्थित (अस्मि) हूँ; (तव) आपके (वचनम्) उपदेश के अनुसार (करिष्ये) अपना कर्तव्य करूँगा।

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

इति, अहम्, वासुदेवस्य, पार्थस्य, च, महात्मनः
संवादम्, इमम्, अश्रौषम्, अद्भुतम्, रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

संजय बोला कि—

(इति) इस प्रकार (अहम्) मैंने (वासुदेवस्य) वासुदेव भगवान कृष्ण (च) और (महात्मनः) महात्मा (पार्थस्य) अर्जुन के (इमम्) इस (अद्भुतम्) अद्भुत रहस्य युक्त, (रोमहर्षणम्) रोमांचकारक (संवादम्) संवाद को (अश्रौषम्) सुना।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

व्यासप्रसादात्, श्रुतवान्, एतत्, गुह्यम्, अहम्, परम्,
योगम्, योगेश्वरात्, कृष्णात्, साक्षात्, कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

(व्यास-प्रसादात्) व्यासजी की कृपा से प्राप्त हुई दिव्य दृष्टि द्वारा (अहम्) मैंने (एतत्) इस (परम्) परम रहस्य युक्त (गुह्यम्) अत्यन्त गम्भीर (योगम्) समत्व-योग को (स्वयम्) स्वयम् (योगेश्वरात्) योगेश्वर (कृष्णात्) भगवान कृष्ण द्वारा (साक्षात्) साक्षात् (कथयतः) कहते हुए (श्रुतवान्) सुना।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

राजन्, संस्मृत्य, संस्मृत्य, संवादम्, इमम्, अद्भुतम्,
केशवार्जुनयोः, पुण्यम्, हृष्यामि, च, मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

(राजन्) हे राजन्! (केशवार्जुनयोः) भगवान श्री कृष्ण और अर्जुन के (इमम्) इस रहस्य युक्त (अद्भुतम्) अद्भुत (च) और (पुण्यम्) कल्याणकारक (संवादम्) संवाद को (संस्मृत्य संस्मृत्य) स्मरण कर करके (मुहुर्मुहुः) मैं बार-बार (हृष्यामि) हर्षित होता हूँ।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

तत्, च, सस्मृत्य, संस्मृत्य, रूपम्, अति, अद्भुतम्,
हरेः, विस्मय, मे, महान्, राजन्, हृष्यामि, च, पुन', पुन. ॥ ७७ ॥

(च) और (राजन्) हे राजन् ! (हरे.) हरि के (तत्) उस (अति) अति (अद्भुतम्) अद्भुत (रूपम्) रूप को (संस्मृत्य सस्मृत्य) याद कर करके (मे) मुझे (महान्) महान् (विस्मय.) आश्चर्य होता है, (च) और (पुनः पुनः) मै बार-बार (हृष्यामि) हर्षित होता हूँ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

यत्र, योगेश्वर', कृष्ण, यत्र, पार्थ., धनुर्धर.,
तत्र, श्री., विजय, भूति, ध्रुवा, नीति', मति', मम ॥ ७८ ॥

(यत्र) जहाँ (योगेश्वर) सबकी एकता स्वरूप योगेश्वर (कृष्ण) भगवान् श्री कृष्ण हैं, और (यत्र) जहाँ (धनुर्धरः) धनुषधारी (पार्थ) अर्जुन है, अर्थात् जहाँ एकता का आत्म ज्ञान है और युक्ति सहित शक्ति अथवा बुद्धि और बल है, (तत्र) वही पर (श्री.) सम्पत्ति, (विजय·) विजय, (भूति) वैभव, (ध्रुवा) और अटल (नीति) नीति है, (इति) ऐसा (मम) मेरा (मति) मत है।

॥ अठारहवा अध्याय समाप्त ॥

गीता का समत्व-योग अर्थात् शाश्वत समाज-विज्ञान समाप्त ।

ॐ पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



॥ ॐ शान्ति शान्ति शान्तिः ॥